पुस्तक : आध्यात्मिक आलोक

विषय : प्रवचन

प्रवचनकार : उपाध्याय श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक : शशीकान्त झा

प्रकाशक : सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

द्रव्य-सहायक : सेठ प्यारचन्द रतनलालजी रांका
सैलाना (मध्यप्रदेश)

प्रति : एक हजार

मुद्रक : जिनवाणी प्रिन्टर्स, जयपुर

फोन : ७५६६७

मूल्य : ढाई रुपया

संवत् : सं० २०२३

दो बात

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी सुखाकांक्षी है, दुःख किसी को भी अभीष्ट नहीं। किन्तु प्रबल पुण्य और अनुपम पौरुष के बिना सुख की उपलब्धि असंभव मानी गई है, अतः सुखार्थीजनों को पुण्योपार्जन में कभी भी पीछे नहीं रहना चाहिए।

यह सुनिश्चित है कि सत्संगति से असीम पुण्य प्राप्त होता है किन्तु सबको सदा सर्वत्र सत्संगति सुलभता से प्राप्त नहीं होती। इसके अभाव में संतवाणी का ही एकमात्र अवलम्ब रह जाता है जिसके बल से मानव अपने को कल्याण एवं सुख के पथ पर आगे बढ़ा सके।

संतवचन, अनुभव की कसौटी पर कसा हुआ देदीप्यमान बहुमूल्य कुन्दन के तुल्य है, जिसका प्रभाव कभी कम नहीं होता और जो सुषमा, गरिमा और महिमा की दृष्टि से भी त्रिकाल अबाधित है। जिसकी विश्वसनीयता और सत्यता पर कभी कोई आंच नहीं आ सकती।

श्रद्धेय उपाध्याय श्री हस्तीमलजी महाराज के सैलाना (मध्यप्रदेश) चातुर्मास के ४५ प्रवचन जो कि "आध्यात्मिक आलोक" के नाम से पहले प्रकाशित होकर पाठकों के हाथ में पहुँच चुके है, प्रस्तुत भाग, उनसे अवशेष प्रवचनों का संग्रह है, जो सेठ प्यारचंदजी रांका (सैलाना) के द्वारा संग्रहीत और प्रकाशित होकर आपके सामने है।

श्रीमान् रांकाजी के इस साहित्य प्रेम और उदारता का हम शतशः अभिनन्दन करते हैं और आशा रखते हैं कि समाज के अन्य धनी मानी सज्जन भी आपके इस दान धर्मानुराग का अनुकरण कर चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग करेंगे।

इन प्रवचनों के द्वारा उपाध्याय श्रीजी पाठकों की रुचि को सांसारिक प्रपंचों से हटाकर उस दिव्य लोक में ले जाना चाहते हैं, जहां रवि शशि का प्रवेश नहीं,

मृत्यु और व्याधि का संक्रमण नहीं और न आधि या उपाधि का ही कोई संयोग है। जहां मनोकामनाओं को छोड़कर आत्मा से तुष्ट आत्मानंद को प्राप्त करता है, जहां दुःख की उद्विग्नता और सुखेच्छा नहीं है तथा वीतरागता जहां ठाठे मारती हैं, जहां शुभ और अशुभ वस्तुओं के लिए अभिनन्दन और द्वेष की भावना नहीं है। वस्तुतः मानव मात्र का वही गन्तव्य देश और प्राप्तव्य लक्ष्य है। सत्संगति या संतवाणी के दिव्यालोक में जब एक बार यह आत्मा आलोकित हो उठता है तो फिर उसे जो सुख या आनन्द की उपलब्धि होती है, वह वर्णन से परे है। आत्म ज्योति को जगाने में तेल, बाती आदि साधनों की अपेक्षा नहीं होती, वह तो मात्र संयम और नियमन से ही प्रज्वलित होती है। आवश्यकता इस बात की है कि शुद्ध श्रद्धा और सद्विवेक से उन वचनों का अनुशीलन कर जीवन को कल्याणमय बनाया जाय।

निश्चय इन प्रवचनों के द्वारा साधक स्व साध्य-सिद्धि में सफल होंगे, ऐसी प्रबल आशा है।

बहुत कुछ सावधानी रखते हुए भी लेखन, मुद्रण व सम्पादन में त्रुटि रहना संभव है, तदर्थ विज्ञ पाठकों से क्षमा प्रार्थना करता हुआ, शुद्धि हेतु मार्गदर्शन की अपेक्षा रखता हूँ।

अगर पाठकों ने इससे थोड़ा भी लाभ उठाया तो वे स्वयं इसकी महती उपयोगिता का मूल्यांकन में सफल होंगे।

सुज्ञेषु किं बहुना—
विनयावनत
शशिकान्त झा

—:—



सेठ प्यारचन्दजी रांका (सैलाना)

जैन जगत के चमकते सितारे, धर्मवीर

सेठ प्यारचन्दजी सा० रांका

का संक्षिप्त परिचय

सेठ प्यारचन्दजी सा० रांका का जन्म, मध्य भारत के प्रसिद्ध नगर जावरा में हुआ। आप सैलाना के प्रमुख श्रमंत सेठ दूलिचन्दजी ऊँकारलालजी रांका के यहाँ गोद आये और अपनी नम्रता, सरलता एवं शांत प्रकृति के कारण आप सभी के प्रिय बन गये।

सामायिक, पोषध, व्रत, तप-जप की साधना के साथ-साथ ज्ञान-वृद्धि की ओर आपकी सदैव ही रूचि रही। अपने जीवन में कई लेखकों एवं समय-समय पर संत मुनिराजों की सेवा भक्ति का भी आपने सदैव पूर्ण लाभ लिया।

आपकी धर्मपत्नी श्री मिश्रीबाईजी एक प्रगाढ़ धर्म-प्रेमी एवं साहसी महिला हैं। पुण्योदय से आपके विचारों में सहसा एक लहर उठी कि एक बार पूज्य गुरुदेव प्रातः स्मरणीय धर्म दिवाकर उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म० सा० का चातुर्मास सैलाना हो जाय तो यह जीवन सार्थक बने एवं मैं भी धर्म सेवा का कुछ लाभ ले सकूँ। आपने अपनी यह इच्छा सेठ सा० को व्यक्त की और "पुण्य छतां पुण्य होत है" वाली कहावत के अनुसार सेठ सा० ने भी इस ओर अपना प्रयास चालू कर दिया।

निरन्तर १२ वर्ष तक स्थान स्थान पर अपनी भाव भरी विनतियां की गई। कभी सेठ साहब स्वयं अपनी पुत्री को लेकर पहुँचते तो कभी समस्त परिवार अपनी करुणा

कभी गुरुदेव के चरणों में रखता। न जाने कितने शहर और ग्राम इसी मुराद में देखने पड़े थे।

भक्त की पूर्ण परीक्षा के बाद सोने का सूर्य उदय हुआ हृदय के कमल खिल उठे और गुरुदेव ने सन् २०१६ के चातुर्मास की स्वीकृति प्रदान करदी। चार मास तक सैलाना तीर्थ स्थान बन गया।

सामायिक सम्मेलन, स्वाध्याय संघ का प्रसार एवं विहार के बाद तत्काल ही एक दिक्षा का अपूर्व लाभ भी सेठ सा० ने नहीं छोड़ा।

सेठ सा० की ओर से धर्म-ध्यान के लिए एक मकान एवं ज्ञान वृद्धि के लिये पुस्तकालय की निजी व्यवस्था है। चातुर्मास एवं दीक्षा आदि का सम्पूर्ण भार स्वयं ने ही उठाया एवं चातुर्मास की खुशी में सभी को पूर्ण सहयोग दिया।

सेठ सा० के चार पुत्र हैं—श्री मोतीलालजी, श्री मथुरालालजी, श्री रतनबाबू एवं श्री दाड़मबाबू। चारों ही भाई पूर्ण सेवा-भावी, उत्साही एवं अनन्य भक्ति की भावना वाले हैं एवं भविष्य में सेठ सा० के ही पद-चिह्नों पर चलकर शासन की ज्योति जगावेंगे, ऐसी पूर्ण आशा है।



विषय-सूची

—★—

[१]

अस्तेय-अतिचार

आत्मा स्वभावतः चिन्मय, आनन्द घन, परमैश्वर सम्पन्न और परम विशुद्ध है, तथापि अनादिकाल से उसके साथ विजातीय द्रव्यों का सम्मिश्रण हो रहा है। विजातीय द्रव्य का सम्मिश्रण ही अशुद्धि कहलाता है। आत्मा में यही अशुद्धि निरन्तर चली आ रही है। विजातीय द्रव्यों का यह सम्मिश्रण ही जैन परिभाषा में बन्ध कहलाता है। भगवान् महावीर ने जिस साधनापथ का स्वय अवलम्बन किया और अपने अनुगामियों के समक्ष जिसे प्रस्तुत किया, उसका एक मात्र लक्ष्य बन्ध का निरोध करना और पूर्व संचित विजातीय तत्त्वों से अपने आप को पृथक करना है। इसी में साधना की सार्थकता है, समग्रता भी है। जिस साधक ने इतना कर लिया, समझ लीजिए वह कृतार्थ हो गया। उसे फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहा। अतएव भगवान् महावीर ने कहा है कि साधना के पथ पर अग्रसर होने से पहले साधक को दो बातें समझ लेनी चाहिए—'किमाह बंधणं वीरो, किवा जाणं तिउट्टइ।' अर्थात्

(१) बंध और बंध का कारण क्या है ?

(२) बंध से छूटने का उपाय क्या है ?

शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार बन्ध के कारण को 'आस्रव' कहा गया है। यदि आत्मा को एक सरोवर कल्पित किया जाय तो उसमें नाना दिशाओं से आने वाले विजातीय द्रव्यों अर्थात् कार्माण वर्गणा के पुद्गलों को जल कहा जा सकता है। जिस सरोवर के सलिलागमन के स्रोत बन्द नहीं होते,

उसमें जल निरन्तर आता ही रहता है। उस जल को उलीचने का कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय, सरोवर रिक्त नहीं हो सकता, क्योंकि नया-नया जल उसमें आता रहता है। यही स्थिति आत्मा की है। प्रतिक्षण, निरन्तर, निर्जरा का क्रम चालू है—पल भर के लिए भी निर्जरा का प्रवाह बंद नहीं होता और अनादिकाल से यह क्रम बराबर चल रहा है, फिर भी आत्मा निष्कर्म नहीं बन सका। इसका एक मात्र कारण यही है कि प्रतिक्षण, निरन्तर नूतन कर्म वर्गणाओं का आत्मा में प्रवेश होता रहता है। इस प्रकार 'अन्धे पीसें कुत्ते खाएं' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। एक ओर निर्जरा के द्वारा कुछ कर्म पृथक् हुए तो दूसरी ओर आस्रव के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन हो गया! आत्मा वहीं का वहीं, जैसा का तैसा! आत्मा की अनादि कालीन मलिनता का यही रहस्य है।

तो फिर किस प्रकार कर्म मुक्ति प्राप्त की जाय? साधक के समक्ष यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। ज्ञानियों ने इस प्रश्न का बड़ा ही सुन्दर और युक्ति-संगत उत्तर दिया है। सरोवर के जलागमन स्रोत निरुद्ध कर दिये जाएं, नया पानी आने से रोक दिया जाय तो पूर्वसंचित जल उलीचने आदि से बाहर निकल जाने पर सरोवर रिक्त हो जाएगा। कर्मों के आगमन स्रोत—आस्रव को रोक दिया जाय और निर्जरा का क्रम चालू रखा जाय तो आत्मा अन्ततः निष्कर्म स्थिति, जिसे मुक्ति भी कहते हैं, प्राप्त कर लेगा।

यहां एक बात ध्यान रखने योग्य है। तालाब में जो जल आता है वह ऊपर से दिखलाई देने वाले स्थूल स्रोतों से ही नहीं किन्तु भूमि के भीतर जो अदृश्य सूक्ष्म स्रोत हैं, उन से भी आता है। कचरा निकालते समय हवा की दिशा देखकर कचरा निकाला जाता है। ऐसा न किया जाय तो वह कचरा उड़ कर फिर घर में चला जाता है। किन्तु घर के द्वार बन्द कर देने पर भी बारीक रजकण तो प्रवेश करते ही रहते हैं। इसी प्रकार साधना की प्राथमिक और माध्यमिक स्थिति में कर्मों के स्थूल स्रोत बन्द हो जाने पर भी सूक्ष्म स्रोत चालू रहते हैं और उनसे कर्म-रज आता रहता है। किन्तु जब

साधना का परिपाक होता है तो वे सूक्ष्म स्रोत भी अवरुद्ध हो जाते हैं और एकान्त निर्जरा का तीव्र प्रवाह चालू हो जाता है।

साधना की वह उत्कृष्ट स्थिति धीरे-धीरे, प्रचण्ड पुरुषार्थ से प्राप्त होती है। आज आप के लिए वह दूर की कौड़ी है। आपको कर्मास्रव के मोटे द्वार अभी बन्द करने हैं। वे मोटे द्वारा कौने-से हैं? शास्त्र में पांच मोटे द्वार कहे गए हैं हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह। यह पांच आस्रव भी कहलाते हैं।

आशंका हो सकती है कि प्राणातिपात यदि पाप है तो उसे आस्रव क्यों कहा गया है? पाप और आस्रव में भेद है। जब तक प्राणातिपात का कारण रूप हिंसा चल रही हैं, तब तक वह क्रिया हैं, आस्रव है और कार्य रूप मे हो चुकने पर पाप है। किन्तु पाप और आस्रव में सर्वथा भेद भी नहीं समझना चाहिए। आस्रव के दो रूप हैं शुभ और अशुभ। अशुभ आस्रव पाप रूप है। यहां यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि हिंसा आदि अशुभ व्यवहार कर्मास्रव के कारण होने से पाप ही कहलाते हैं।

कोई व्यक्ति व्रतादि करके तप तो करे किन्तु हिंसा जारी रक्खे तो उसको पाप आता रहेगा, क्योंकि उसने आस्रव द्वार खुला रक्खा हैं। बहुत बार तो ऐसा होता हैं कि नवीन बन्ध अधिक और निर्जरा कम होती है। निर्जरा का परिणाम इतना कम होता हैं कि आने वाला पाप बढ़ जाता है। किसी को कमाई प्रतिदिन एक रुपया हो और खर्च आठ रुपया, तो ऐसा व्यक्ति लाभ में नहीं रह सकता, घाटे में ही रहेगा। वह अपना भार बढ़ा भले ले, घटा नहीं सकता। अतएव यह आवश्यक है कि उपवास के साथ ही साथ हिंसादि आस्रवों का भी त्याग किया जाय। नूतन पाप के आगमन के द्वार बन्द कर दिये जाएं।

श्रावक आनन्द की व्रतचर्या से इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। उसने व्रतों को अंगीकार करके पाप का मार्ग छोटा कर दिया था। तीसरे व्रत के पांच दूषणों में से दो की चर्चा पहले की जा चुकी है, जो इस प्रकार हैं—

(१) चोरी की वस्तु खरीदना, और

(२) चोर को सहयोग देना।

चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु लेना अथवा खरीदना प्रथम अतिचार या दोष है। यह प्रत्यक्ष चोरी न होने पर भी अप्रत्यक्ष चोरी है। ऐसा पाप करने से आत्मा हल्की नहीं रहती। यह वस्तु चोरी की है अथवा नहीं, यह निर्णय करना कठिन नहीं है, क्योंकि चोरी की वस्तु प्रायः कम मूल्य में मिलती हैं। जो चुराई हुई वस्तुओं को खरीदते हैं, उनकी लोक में भी विश्वसनीय स्थिति नहीं रहती शासन के कानून के अनुसार भी वह दण्डनीय होते हैं। इस प्रकार लौकिक हानि के साथ उनका आत्मिक पतन भी होता है, क्योंकि उनमें आसक्ति एवं कषाय की बहुलता होती हैं। इसी प्रकार लूट या डकैती का माल भी श्रावक को नहीं लेना चाहिए, क्योंकि अनीति से आया होने के कारण ऐसा द्रव्य शान्तिदायक नहीं होता।

दूसरा दोष है चोर को चोरी करने के लिए प्रेरित करना, परामर्श देना, उपाय बतलाना आदि। मनुष्य यदि शास्त्र के बतलाये मार्ग पर चले तो उसे किसी प्रकार का खतरा नहीं हो सकता। जो चोरी संबन्धी सब दोषों से दूर रहता है उसे भय का पात्र नहीं बनना पड़ता। अतः चोर को किसी भी रूप में सहयोग नहीं देना चाहिए।

तीसरा दोष हैं योग्य अधिकारी की अनुमति प्राप्त किये बिना विरुद्ध राज्य की सीमा में प्रवेश करना। ऐसा करने से मनुष्य की प्रामाणिकता में बाधा पहुँची हैं।

एक राज्य की सीमा दूसरे राज्य से मिली होती है। किसी राज्य में एक वस्तु का मूल्य अधिक होता है तो दूसरे में उसी का मूल्य अल्प होता है। ऐसी स्थिति में कुछ लोग धन लोलुपता के अतिरेक से प्रेरित होकर अवैध रूप से उस वस्तु को बहुमूल्य वाले देश में पहुँचाया करते हैं। इस प्रकार का व्यापार आज तस्कर व्यापार कहलाता है। आधुनिक कानून की दृष्टि में भी यह कृत्य चोरी में गिना जाता है। जैन शास्त्र सदा से ही इसे चौर्य-व्यापार गिनता आया

है। यह विरुद्ध राज्यातिक्रम इसीसे चोरी है और इससे अचौर्य व्रत दूषित हो जाता है। यों भी वैध अनुमति के बिना किसी राज्य की सीमा का उल्लंघन करना अतिचार है, क्योंकि वह दूसरे राज्याधिकारियों के लिए शङ्का का कारण बन जाता है। ऐसा व्यक्ति, जो किसी दूसरे देश का प्रजाजन है, यदि किसी अन्य देश में चला जाय तो उसे गुप्तचर समझ कर गिरफ्तार कर लिया जाता है। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमा के उल्लंघन से आधुनिक काल में ऐसी सैकड़ों घटनाएं घटित हुईं और हो रही हैं।

अमेरिका के लिए रूस का और रूस के लिए अमेरिका का गगन मण्डल बिना अनुमति के निषिद्ध है, अतएव उसमें वायुयानों की उड़ान निषिद्ध है। उसमें भेद लेने की आशंका हो जाती है। यही कारण है कि एक देश के गगनमण्डल में बिना अनुमति प्राप्त किये यदि दूसरे देश का विमान उड़ता है तो उसे मार गिराया जाता है। इस प्रकार स्थलगत, जलगत और गगनगत, तीनों सीमाओं का अतिक्रमण करना दोष है। इसी प्रकार कोई स्वार्थ के वशीभूत होकर यदि देश की सुरक्षा के नियमों का उल्लंघन करता है एवं राजकीय नियमों से विरुद्ध कार्य करता है तो वह भी तीसरे व्रत का अतिचार है।

राजकीय विधान के अनुसार कर न देना, सीमा-प्रवेश का टैक्स न चुकाना, बिना टिकिट रेलयात्रा करना आदि भी इस व्रत के अतिचारों में सम्मिलित है। यह सब चोरी के ही विविध रूप हैं। ऐसा करने से मनुष्य नैतिक दृष्टि से पतित होता है और जो नैतिक दृष्टि से पतित हो वह धार्मिक दृष्टि से उन्नत कैसे हो सकता है? नैतिकता की भूमिका पर ही धार्मिकता की इमारत खड़ी होती है। अतएव जो नीति भ्रष्ट है, वह धर्म से भी भ्रष्ट होगा।

नीतिमान् सद्गृहस्थ इन सब अतिचारों से बचकर रहता है। फिर श्रावक का तो कहना ही क्या। उसका स्तर बहुत ऊंचा और सम्मानित है। यदि श्रावक आगम प्रतिपादित मार्ग पर चलता है तो उसके गार्हस्थिक कृत्यों में किसी प्रकार की कठिनाई भी नहीं आती और वह राजकीय दंड से भी सदा सर्वदा बचा रह सकता है। वास्तव में जैन शास्त्रों में प्रदर्शित श्रावक धर्म किसी भी काल के आदर्श प्रजाजनों का एक सुन्दरतम आदर्श विधान है, जिसमें

लौकिक और लोकोत्तर श्रेयस् की असीम सम्भावनाएं सन्निहित हैं। भूलना नहीं चाहिए कि जीवन एक अभिन्न-अविच्छेद्य इकाई है जिसे धार्मिक और लौकिक अथवा परमार्थिक और व्यावहारिक खंडों में सर्वथा विभक्त नहीं किया जा सकता ज्ञानी का व्यवहार परमार्थ के प्रतिकूल नहीं होगा। और परमार्थ भी व्यवहार का उच्छेदक नहीं। अतएव साधक को, चाहे वह गृह त्यागी या गृहस्थ, जीवन को अखंड तत्व मानकर ही इस प्रकार जीवन के समस्त पहलुओं के उत्कर्ष में जागृत रहना चाहिए। जैन आचार विधान का यही निचोड़ है।

इसका आशय यह नहीं कि प्रजाजनों को निर्वीर्य होकर, राजकीय शासन के प्रत्येक आदेश को नेत्र बन्द करके शिरोधार्य ही कर लेना चाहिए। राज्य शासन की ओर से टिड्डीमार, चूहेमार या मच्छरमार जैसे धर्म विरुद्ध आन्दोलन या आदेश अगर प्रचलित किये जाएं अथवा कोई अनुचित कर-भार लादा जाय तो उसके विरुद्ध सत्याग्रह या असहयोग करना व्रत भंग का कारण नहीं है। शर्त यही है कि शासन को सूचना देकर प्रकट रूप में ऐसा किया जा सकता है। इस प्रकार का राज्य विरुद्ध कृत्य अतिचार में सम्मिलित नहीं होगा क्योंकि वह छिपा कर नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त उसमें चौर्य की भावना नहीं वरन् प्रजा के उचित अधिकार के संरक्षण की भावना होगी। इसी प्रकार अगर कोई शासक अथवा शासन हिंसा, शोषण, अत्याचार, अनीति या अधर्म को बढ़ावा देने वाला हो तो उसके विरुद्ध कार्रवाई करनी पड़ती है। यह कार्रवाई भी विरुद्ध राज्यातिक्रम में सम्मिलित नहीं है।

राज्य की व्यवस्था का जैसे बाह्य रूप है, वैसे ही उसका दायित्व भी सीमित है। साधारण मनुष्य राज्य शासन से लाभालाभ की अपेक्षा रखते हैं। ऋषि-मुनि तो अन्तर के राज्य (मनोराज्य) से अथवा धर्मराज तीर्थंकर के शासन से शासित होते हैं। उनकी साधना निराली होती है। वे धर्म शासन के विधान को मान्य करके चलने वाले एक देश को ही नहीं वरन् समस्त विश्व को प्रभावित करते हैं। इन्द्र-नरेन्द्र भी उनकी साधना एवं साधना प्रसूत अनिर्वचनीय अनाकुलता तथा अद्भुत शान्ति के लिए तरसते हैं। उनकी प्रभावजनक साधना इन्द्रों को भी चकित कर देती है तो मानवों की बात ही क्या।

महामुनि स्थूलभद्र ने इस सत्य को अपने साधना-जीवन में चरितार्थ कर दिया और बता दिया कि साधना में, यदि वह जीवन का अभिन्न अङ्ग बन जाए और साधक का अन्तरतर उससे प्रभावित हो तो। क्या शक्ति है। वेश्या के विलास एवं श्रृंगार की सभी सामग्री से सुसज्जित सदन में रहकर आत्मबल के द्वारा उस महामुनि ने वह साधना की जिसमें न केवल स्वयं का उद्धार किया वरन् वेश्या का भी उद्धार होगया। स्थूलभद्र ने वेश्या से कहा—भद्रे ! भोग की आग बड़ी विलक्षण होती है। इस आग में जो अपने जीवन को आहुति देता है, वह एक बार नहीं, अनेक बार—अनन्त बार मौत के विकराल मुख में प्रवेश करता है। अज्ञानी मनुष्य मानता है कि मैं भोग भोग कर तृप्ति प्राप्त कर लूंगा मगर उस अभागे को अतृप्ति, असन्तुष्टि और पश्चात्ताप के सिवाय अन्य कुछ हाथ नहीं लगता।

महामुनि ने रूपकोशा को समझाया—'कोशे ! संसार में एक मार्ग दिखाई तो अच्छा देता है मगर प्रभु उससे दूर होते हैं। जिस मार्ग से भगवान् के निकट पहुँचा जा सकता है, मुझे वही मार्ग प्रिय है।"

हिंसा झूठ कुशील कर्म से, प्रभु होता है दूर।
दया सत्य समभाव जहां है, रहते वहां हुजूर॥

एक कवि ने ठीक ही कहा है—

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।
जो लघुता धारण करो, प्रभुता होत हुजूर॥

मुनि ने रूपाकोशा से कहा—जो प्रभुता का अहंकार करता है, अपने को सर्व-समर्थ समझ कर दूसरों की अवहेलना करता है उससे प्रभु दूर होते हैं। किन्तु जो महान् होकर भी अपने को लघु समझता है, जो अन्तरंग और बाह्य उपाधियों का परित्याग करके लघु बन जाता है, जो अत्यल्प साधनों से ही अपना जीवन शान्तिपूर्वक यापन करता हैं, उसे प्रभुता और प्रभु दोनों मिलते हैं। ज्यों-ज्यों जीवन में लघुता एवं निर्मलता आएगी, उतना ही प्रभु के निकट तू जाएगी।

मुनि के इस प्रकार के उद्गारों ने रूपकोशा के हृदयकोश को स्पर्श किया। अब तक उसने जीवन के एक ही पहलू को देखा था, अब दूसरा पहलू उसके सामने आया। उसके हृदय-परिवर्त्तन को लक्षित करके मुनि ने पुनः कहा—अगर परिपूर्ण संयम की साधना तुझसे न हो सकती हो तो कम से कम मर्यादित संयम को अंगीकार करके श्राविका का जीवन अवश्य व्यतीत कर।

राजा की आज्ञा में बल होता है दंड का और महात्मा के आदेश में बल है ज्ञान और करुणाभाव का। निमित्त अनुकूल मिलने से, मुनि के द्वारा विकीर्ण प्रकाश के पुंज से वेश्या का जीवन आलोकित हो उठा। उसकी प्रस्तुत चेतना जागृत हो गई। क्या वेश्या और क्या कसाई, सभी मूलतः निर्मल ज्योति-स्वरूप हैं। सबमें समान चैतन्य धन विद्यमान है। परन्तु वह ज्योति और चेतना दबी एवं बुझी रहती है। जब एक प्रकार की रगड़ उत्पन्न होती है तभी आत्मा जागृत होती है। मूल स्वभाव को देखा जाय तो कोई भी आत्मा कसाई, वेश्या या लम्पट नहीं, वह शुद्ध, बुद्ध और अनन्त आत्मिक गुणों से समृद्ध है, निष्कलंक है। हीरक कण मूल में उज्ज्वल ही होता है, फिर भी उस पर धूल जम जाती है, उसमें गन्दगी आ जाती है। इसी प्रकार शुद्ध चिन्मय आत्मा में जो अशुद्धि आ गई है, वह भी बाहरी है, पर-संयोग से है, पुद्गल के निमित्त से आई है।

कोशा ने जीवन में परिवर्त्तन कर डालने का निश्चय किया। वह मुनि के चरणों में गिर पड़ी।

मुनि बोले—अधीर न हो भद्रे ! साधना में अपूर्व क्षमता है। तेरी साधना अतीत की कालिमा धो देगी और आगे कालिमा नहीं लगने देगी। वेश्या, चाण्डाल, चोर, जुआरी और बटमार जैसे सभी पतितों का उद्धार करने वाले पतित पावन भगवान् हैं। मेरू के बराबर पापों की ढेरी भी भगवान् के नामस्मरण से नष्ट हो जाती है। कहा भी है—

जिस वेश्या का जीवन भोग के कीचड़ में फंसा हुआ था, जिसने भोग के सिवाय योग की बात सोची तक नहीं थी, वही अब मुनि की संगति से आत्मोन्मुख हुई और आत्मा के उद्धार के लिए तत्पर हो गई।

आचार्यों ने भी गुणों के दो विभाग किए हैं—

(१) दैवी सम्पत्ति—अहिंसा, अभय, संशुद्धि, सत्य आदि श्रेष्ठ गुण इस कोटि में आते हैं।

(२) आसुरी सम्पत्ति—हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, ममत्वमूर्छा आदि दुर्गुण, जो आत्मा को अधःपतन की ओर आकर्षित करते हैं, इस कोटि में गिने जाते हैं।

मुनिराज ने रूपकोशा को आसुरी सम्पत्ति के बदले दैवी सम्पत्ति की स्वामिनी बनाया और श्रावकधर्म की दीक्षा दे दी। उसके हृदय की आकुलता, वासना, अशान्ति और सन्तप्तता दूर हो गई। त्याग में जो अद्भुत आनन्द और तृप्ति है, जिसे त्यागी ही अनुभव कर सकता है,उसे प्राप्त होगई। उसका जीवन साधना के पथ पर अग्रसर हुआ।

रूपकोशा की तरह जो अपने जीवन को शान्तिमय बनाना चाहते हैं, वासना के पंकिल पथ का परित्याग करके साधना के राजमार्ग की ओर मुड़ना चाहिए और उसी पर अग्रसर होना चाहिए। दुर्बल मनोवृत्ति को त्याग कर सबल और शुभ मनोवृत्ति को जगाना चाहिए। ऐसा करने से ही परम मंगल का द्वार खुलता है और इहलोक तथा परलोक आनन्दमय बनता है।

[२]

अस्तेय के अतिचार

ज्ञानियों के अन्तः करण में संसार के लघु से लघु और बड़े से बड़े जीवों के प्रति करुणा और मंगल कामना रहती है। उनका हृदय माता के हृदय के समान वात्सल्य से परिपूर्ण होता है। ज्ञानी और माता के हृदय के वात्सल्य में यदि अन्तर है तो यही कि माता का वात्सल्य खण्डित होता है—अपनी सन्तति तक सीमित रहता है और उसमें ज्ञान अथवा अज्ञान रूप में स्वार्थ की भावना का सम्मिश्रण होता है, किन्तु ज्ञानी के हृदय के वात्सल्य में यह दोनों चीजें नहीं होती। उनका वात्सल्य विश्वव्यापी होता है। वे जगत् के प्रत्येक छोटे-बड़े, परिचित, अपरिचित उपकारक-अपकारक, विकसित-अविकसित या अर्धविकसित प्राणी पर समान वात्सल्य रखते हैं। उसमें किसी भी प्रकार कास्वार्थ नहीं होता।

जगत का प्रत्येक जीव ज्ञानी पुरुष का बन्धु है। जीवन में जब पूर्ण रूप से बन्धुभाव उदित हो जाता है तो संघर्ष जैसी कोई स्थिति नहीं रहती, वैर-विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष के हृदय रूपी हिमालय से करुणा, वात्सल्य और प्रेम की सहस्र-सहस्र धाराएं प्रवाहित होती रहती हैं और वे प्रत्येक जीव धारी को शीतलता और शान्ति से आप्लावित करती है। इससे ज्ञानी का जीवन भी भारी नहीं, हल्का बनता है।

ज्ञानी अपने लिए जो जीवन-नीति निर्धारित करते हैं, वही प्रत्येक मानव के लिए योग्य और उचित नीति है। प्रत्येक मनुष्य सब के प्रति प्रीति और अहिंसा की भावना रखकर जीवन यात्रा चला सकता हैं। आघात-प्रत्या-

घात से ही जीवन चलेगा, ऐसा समझना भ्रम है। सावधानी के साथ चलने वाला सभी प्राणियों के प्रति समबुद्धि रख कर जीवन चला सकता है। समत्व-बुद्धि ही भावकरुणा है किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, छेदन-भेदन न करना द्रव्य-दया है। राग-द्वेष उत्पन्न न होना भावदया है। जब अन्तःकरण में राग-द्वेष का सद्भाव नहीं होता, कषाय के विषैले अंकुर नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जब हृदय भाव-दया से परिपूर्ण हो जाता है तब द्रव्य-दया का सहज प्रादुर्भाव होता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जीवन को परममंगल की ओर अग्रसर करने के लिए केवल द्रव्यदया पर्याप्त नहीं है, भाव-दया भी चाहिए। भाव-दया के विना जो द्रव्य-दया होती है, वह प्राणवान नहीं होती।

राग-द्वेष भावहिंसा है। भावहिंसा करने वाला किसी अन्य का घात करे या न करे, आत्मघात तो करता ही है—उसके आत्मिक गुणों का घात होता ही है और यही सबसे बड़ा आत्मघात है।

साधकों के सामर्थ्य और उनकी विभिन्न परिस्थिति की दृष्टि से धर्म के दो विभाग किये गये हैं—(१) श्रमण धर्म और (२) श्रावक धर्म। श्रमण धर्म के भी अनेक भेद किये गये हैं। पर वह मूल में एक है। साधक आसानी से अपनी साधना चला सके, इस उद्देश्य से चरित्र के पांच भेद कर दिये गये हैं, यद्यपि इन सब का लक्ष्य एक ही है और उनमें कोई मूलभूत पार्थक्य नहीं है। भेद इसलिये हैं कि सभी साधकों का शारीरिक संघटन, मनोबल और संस्कार एक-सा नहीं होता, अतएव उनकी साधना का तरीका भी एक नहीं हो सकता। यही कारण है कि चारित्र और तपश्चर्या के अनेक रूप हमारे आगमों में प्रति-पादित किये गये हैं। इनमें से जिस साधक की जैसी शक्ति और रुचि हो, उसी का अवलम्बन करके वह आत्म कल्यान के पथ पर अग्रसर हो सकता है। मगर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य हैं। इनको देशतः स्वीकार किये विना श्रावकधर्म का और पूर्णरूपेण स्वीकार किये विना श्रमण धर्म का पालन नहीं हो सकता। ये पांच व्रत चारित्र धर्म रूपी सौध के पाये हैं, मूल आधार हैं। आचारात्मक धर्म का प्रारम्भ इन्हीं व्रतों से होता है।

इनमें से अहिंसा और सत्य व्रत के अतिचारों की चर्चा की जा चुकी है। अस्तेय व्रत के भी तीन अतिचारों का निरूपण हो चुका है। यहां शेष दो अतिचारों पर विचार करना है।

(४) **हीनाधिक मानोन्मान**—वस्तु के आदान-प्रदान में तोलने-नापने की आवश्यकता पड़ती है। अनेक व्यापारी लोभ के वशीभूत होकर तोलने और नापने के साधन हीन या अधिक रखते हैं। देते समय हीन बांटो से तोलते और लेते समय अधिक बांटों से। इस प्रकार का तोल-नाप कूट अर्थात् झूठा तोल-माप कहलाता है। यह एक प्रकार की चोरी है। श्रावक को तोलने और मापने में अनुचित-अनैतिक लाभ लेने की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए। तिलोकचन्द (तीन पाव), शेरसिंह (सेर भर), पचानदास (१½ सेर), किलोचन्द (एक किलोग्राम) आदि नाम करण करके लाभ लेने की प्रवृत्ति अगर कोई व्यापारी रखता है तो वह अपना इहलोक और परलोक बिगाड़ता है।

तोलने और नापने के साधन सही न रखना राजकीय दृष्टि से भी अपराध है। मापते-तोलते समय उंगली या पांव के अंगूठे से अन्तर करने वाला पापी है। छल या धोखा करके तोल-नाप में घट-बढ़ कर देना पाप की प्रवृत्ति है। जिसने अचौर्य व्रत को अंगीकार किया है, वह इस प्रकार की प्रवृत्ति से सदा दूर ही रहेगा।

कपड़ा, भूमि आदि गजों या मीटरों से मापे जाते हैं। इन मापों में न्यूनाधिकता करना, छल-कपट करना इस व्रत का दूषण है।

छल-कपट का सेवन करके, नीति की मर्यादा का अतिक्रमण करके और राजकीय विधान का भी उल्लंघन करके धनपति बनने का विचार अत्यन्त गर्हित और घृणित विचार है। ऐसा करने वाला कदाचित् थोड़ा बहुत जड़-धन अधिक संचित कर ले मगर आतमा का धन लूटा देता है। और आत्मिक दृष्टि से वह दरिद्र बन जाता है। लौकिक जीवन में वह अप्रमाणिक माना जाता है और जिस व्यापारी की प्रामाणिकता एक बार नष्ट हो जाती है, जिसे लोग अप्रामाणिक समझ लेते हैं, उसको व्यापारिक क्षेत्र में भी हानि उठानी पड़ती है। आप भली-भांति जानते होंगे कि पैठ अर्थात् प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा व्यापारी की

एक बड़ी पूंजी मानी जाती है। जिस की पैठ नहीं वह व्यापारी दिवालिया कहा जाता है। अतएव व्यापार के क्षेत्र में भी वही सफलता प्राप्त करता है जो नीति और धर्म के नियमों का ठीक तरह निर्वाह करता है।

श्रावक धर्म में अप्रामाणिकता और अनैतिकता को कोई स्थान नहीं है। व्यापार केवल धन संचय का ही उपाय नहीं है। अगर विवेक को तिलांजलि न दे दी जाय और व्यापार के उच्च आदर्शों का अनुसरण किया जाय तो वह समाज की एक बड़ी सेवा का निमित्त भी हो सकता है प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति करना अर्थात् जहां जीवनोपयोगी जो वस्तुएं सुलभ नहीं हैं, उन्हें सुलभ कर देना व्यापारी की समाज सेवा है किन्तु वह सेवा तभी सेवा कहलाती है जब व्यापारी अनैतिकता का आश्रय न ले, एक मात्र अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर अनुचित लाभ न उठावे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्रावक धर्म का अनुसरण करते हुए जो व्यापारी व्यापार करता है, वह समुचित द्रव्योपार्जन करके भी देश और समाज की बहुत बड़ी सेवा कर सकता है।

(५) तत्प्रति रूपक व्यवहार—अचौर्य व्रत का पांचवां अतिचार तत्प्रतिरूपक व्यवहार है, जिसका अर्थ है—बताना कोई अन्य माल और देना कोई अन्य माल। बढ़िया चीज दिखाना और घटिया चीज देना, असली माल की बानगी देकर नकली दे देना, यह तत्प्रतिरूपक व्यवहार है। इस प्रकार ठगाई करके खराब माल देने वाला अपनी प्रामाणिकता गवां देता है। माल घटिया हो और उसे घटिया समझ कर ग्राहक खरीदने को तैयार हो तो बात दूसरी है, क्योंकि ग्राहक अपनी स्थिति के अनुसार ऐसे माल से भी अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेता है। मगर अच्छा माल दिखलाकर और अच्छे का मूल्य लेकर खराब माल मिला देना प्रामाणिकता नहीं है।

श्रावक अपने अन्तरंग और बहिरंग को समान स्थितियों में रखता है। वचन से कुछ कहना और मन में कुछ और रखना एवं क्रिया किसी अन्य प्रकार की करना श्रावक-जीवन से संगत नहीं है। श्रावक भीतर-बाहर में समान होता है। संसार में ऐसे व्यक्ति की ओर कोई अंगुली-निर्देश भी नहीं कर सकता इस लोक और परलोक में उसकी सद्गति होती है। कहा है कि—

समझू शंके पाप से, अनसमझू हरषंत।
वे लूखा वे चीकणा, इन विध कर्म बढंत ।।

समझदार अपना कदम सावधानी से रखता है। वह पाप से उसी प्रकार बचता है जैसे मैले से बचा जाता है। अर्थात बालक मैले के ऊपर से हंसते-हंसते निकल जाता है किन्तु विवेकवान् व्यक्ति उससे दूर रहता है। इसी प्रकार समझदार हिंसा, झूठ, चोरी आदि से तथा क्रोध लोभ आदि से बच कर चलेगा। काली मिर्च या पीपल में चूहे का विष्टा मिलाने वाले क्या अपनी आत्मा को धोखा नहीं देते ?

आज भारतवर्ष में मिलावट का बाजार गर्म है। घी में वनस्पति तेल, दूध में पानी, दही में स्याही सोख, आटे में भाटे के चूरे का मिलाना तो सामान्य बात हो गई है। असली दवाओं में भी नकली वस्तुएं मिलाई जाने लगी हैं। बिना मिलावट के शुद्ध रूप में किसी वस्तु का मिलना कठिन हो गया है। इस प्रकार यह देश अप्रामाणिकता और अनैतिकता की ओर बड़े वेग के साथ अग्रसर हो रहा है। विवेकशील दूरदर्शी जनों के लिए यह स्थिति चिन्तनीय है। ऐसे अवसर पर धर्म के प्रति अनुराग रखने वालों को और धर्म की प्रतिष्ठा एवं महिमा को कायम रखने और बढ़ाने की रुचि रखने वालों को आगे आना चाहिए। उन्हें धर्म पूर्वक व्यवहार करके दिखाना चाहिए कि प्रामाणिकता के साथ व्यापार करने वाले कभी घाटा नहीं उठाते। घाटे के भय से अधर्म और अनीति करने वालों को मैं विश्वास दिलाना चाहता हूं कि धर्म किसी भी स्थिति में हानिकारक नहीं होता। अतएव भय को त्यागकर, धर्म पर श्रद्धा रख कर प्रामाणिकता को अपनाओ। ऐसा करने से आत्मा कलुषित होने से बचेगी और प्रामाणिकता का सिक्का जम जाने पर अप्रामाणिक व्यापारियों की अपेक्षा व्यापार में भी अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकेगा। जिन्हें उत्तम धर्म श्रवण करने का सुअवसर मिला है, उन्हें दूसरों की देखादेखी पाप के पथ पर नहीं चलना चाहिए। उनके हृदय में दुर्बलता, कुशंका और कल्पित भीति नहीं होनी चाहिए। ऐसा सच्चा धर्मात्मा अपने उदाहरण से सैकड़ों अप्रामाणिकों को प्रामाणिक बना सकता है और धर्म की प्रतिष्ठाचार में चांद लगा सकता है।

अचौर्य व्रत को अंगीकार करने वाले गृहस्थ को न तो मिलावट का धन्धा करना चाहिए और न असली के बदले नकली वस्तु देना चाहिए। मिलावट करके देना या नकली चीज देना धोखा है। यह अधर्म है। धर्म का प्राण है सरलता और निर्मलता।

जो इन पांच दोषों से बचेगा वह प्रामाणिक कहलाएगा, और कर्म बन्ध से हल्का होकर अपने भविष्य को मंगलमय बनाएगा। इन अतिचारों से बचे रहने से व्रतों की सुन्दर भूमिका तैयार हो जाती है।

धर्म शिक्षा को जीवन में रमाने के लिए काम वासना को उपशान्त एवं नियंत्रित करना, मोह की प्रबलता को दबाना और अमर्याद लोभ का निग्रह करना आवश्यक है। ऐसा नहीं किया गया तो धर्म के संस्कार जीवन में बद्धमूल नहीं हो सकेंगे। जब आत्मा में सम्यग्ज्ञान की सहस्र-सहस्र किरणें फैलती हैं और आलोक से जीवन परिपूर्ण हो जाता है, तब काम, क्रोध और लोभ का सघन अन्धकार टिक ही नहीं सकता।

उदाहरण रूप में देखिये—

महामुनि स्थूलभद्र की संगति से पाटलिपुत्र की नगर नायिका अपने जीवन में आमूल परिवर्तन कर लेती है। रूपकोशा के द्वार पर पण्डित की पंडिताई, कुलीन की कुलीनता और साधु की साधना हवा हो जाती थी। उसके विलास-भवन में, वासना की धधकती धूनि में संयम, शील और सदाचार भस्म हो जाते थे। मगर यह नर-वीर अद्भुत योगी था जिसने चार मास तक उसके घर में ही डेरा डाला। काजल की कोठरी में से वह अछूता निकला। यही नहीं, उसने काजल को अपने सान्निध्य से स्वर्ण रूप में परिवर्तित कर दिया। जामन डालने से दूध दही के रूप में बदल जाता है। मुनि ने वाणी का ऐसा जामन में डाला कि कोशा की भावना रूपी दूध में परिवर्तन आया और वह दही के रूप में जमने लगी। उसने देशविरति-श्रावकधर्म को अंगीकार कर लिया।

सद्भावना और हित भावना से उच्चरित सुवक्ता की वाणी का

यदि प्रभाव नहीं पड़ता तो समझना चाहिए कि श्रोता ही अपात्र है। वह दूध ही खराब है जो जामन डालने पर भी नहीं जमता।

मगर रूपकोशा वासना के विष में पगी हुई भी अपात्र नहीं थी। बाह्य दृष्टि में जो अधम से अधम और पतित से पतित प्रतीत होता है, उसके भीतर भी दिव्यता और भव्यता समाहित हो सकती है। यही कारण है कि ज्ञानी जन उसके प्रति भी घृणा के बदले करुणा का ही भाव रखते हैं और उसकी दिव्यता को जागृत करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा वे न करते तो शास्त्रों में घोरातिघोर कुकर्म करने वाले अर्जुन मालाकार और प्रदेशी राजा के जैसे जीवन चरित पढ़ने को हमें कैसे मिलते ?

तो कलंदर की तरह मन-मर्कट को इच्छानुसार नचानेवाली रूप कोशा मुनि की वैराग्य रस-परिपूरित वचनावली सुनकर वीतरागता की उपासिका बन गई। मुनिराज स्थूलभद्र उसके गुरु बन गये। 'गु' शब्द अन्धकार का और 'रु' शब्द उसके विनाश का वाचक है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य के अन्तःकरण में व्याप्त सघन अन्धकार को जो विनष्ट कर देता है, जो विवेक का आलोक फैला देता है, वह 'गुरु' कहलाता है। जीवन-रथ को कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग पर चलाने के लिए और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए योग्य गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है। रूपकोशा को सुयोग्य गुरु मिल गए और उसका जीवन-रथ विषय-वासना के कीचड़मय एवं ऊबड़-खाबड़ मार्ग से निकल कर साधना के राजमार्ग पर अग्रसर हो चला। उसने वासना के विष को वमन कर दिया और परम-ज्योतिस्वरूप परमात्मा को अपने चिन्तन का लक्ष्य बनाया।

साधना के साधारणतया दो रूप देखे जाते हैं—(१) सकाम साधना और (२) निष्काम साधना। सकाम साधना लौकिक लाभ के उद्देश्य से की जाती है, उसमें आत्मकल्याण का विचार नहीं होता, अतएव सच्चे अर्थ में वह साधना नहीं कहलाती सकाम साधना के विकृत अतिविकृत रूप आज हमारे सामने हैं। लोगों ने अपनी-अपनी कामना के अनुकूल साधना की विविध विधियों का आविष्कार कर लिया है और उसी के अनुसार देव-देवियों की सृष्टि

कर डाली है। कई देवों और देवियों को तो रक्त पिपासु के रूप में कल्पित कर लिया है! मगर क्या देवी-देवता रक्त से प्रसन्न होंगे? रक्त की बूंद कपड़े पर पड़ जाती है तो मनुष्य उसे तत्काल धोना चाहता है और जब तक नहीं धो डालता तब तक मन में अपावनता का अनुभव करता है। जो रक्त इतना अपावन और अशुचि है उसे क्या देवता उदरस्थ करके संतुष्ट और प्रसन्न हो सकता है? मगर जो स्वयं जिह्वालोलुप है और खून जिसकी दाढ़ों में लग गया है, वह देवी-देवता के नाम पर पशु की बलि चढ़ाता और उसका उपदेश करता है। यह सब निम्न श्रेणी की कामना के रूप हैं। तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है—

'जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।'

अब रूपकोशा का आकर्षण भोगी पुरुषों की ओर न रहकर परमात्मा की ओर हो गया। उसका चित्त भोगों से और भोग सामग्री से विरक्त हो गया। अनादिकालीन मोह के संस्कारों के कारण आत्मा स्वभाव से विमुख होकर विभाव की ओर प्रेरित होता है। भोग उसे प्रिय लगते हैं और इसी दुर्वृत्ति के कारण लोग बड़े चाव से अपने मकानों की दीवालों पर अश्लील चित्र लगाते हैं। जहां देखो जनता को भड़काने वाले चित्र दृष्टि पथ में आते हैं। इन चित्रों द्वारा देखने वालों की मानसिक प्रवृत्ति तो पतनोन्मुख होती ही है नारी जाती का अपमान भी होता है। विज्ञापनों तथा कलेंडरों के नारी चित्रों की वेषभूषा पूर्ण नग्न नहीं तो अर्द्ध नग्न तो रहती ही है उनके शरीर पर जो वस्त्र दिखाये भी जाते हैं वे अंगों के आच्छादन के लिये नहीं प्रत्युत उन्हें—कुत्सितता के साथ प्रदर्शन के लिए ही होते हैं। आज जनता की सरकार भी इधर कुछ ध्यान नहीं देती। पर आज की अपने अधीकारों को जानने वाली नारियां भी इस अपमान को सहन कर लेती हैं, यह विस्मय की बात है। अगर महिलाएं इस ओर ध्यना दें और संगठित प्रयास करें तो मातृ जाति का इस प्रकार अपमान करने वालों को सही राह पर ला सकती हैं।

रूपकोशा ने अपनी चित्रशाला को धर्मशाला के रूप में बदल दिया।

विलास की सामग्री हटा कर उसने विराग की सामग्री सजाई। जहां विलास की वैतरणी बहती थी, वहां विराग की महा मंदाकिनी प्रवाहित होने लगी। श्रृंगार का स्थान वैराग्य ने ग्रहण किया।

वर्षाकाल व्यतीत होने पर महामुनि स्थूलभद्र पाप-पंक में लिप्त आत्मा का उद्धार कर के अपने गुरु के निकट चले गए।

मुनि ने अपने सद्गुणों के सौरभ से वेश्या के जीवन को सुरभित कर दिया। वेश्या के मन का कण-कण मुनि के प्रति कृतज्ञता से परिपूर्ण हो गया। वह उनके लोकोत्तर उपकार के भार से दब-सी गई। अब उसके चित्त की चंचलता दूर हो गई। मन पूरी तरह शान्त हो गया।

अनुकूल निमित्त मिलने पर जीवन आध्यात्मिकता में बड़ी तेजी के साथ बदल जाता है

बन्धुओ! जिस प्रकार भूख खाने से ही मिटती है, भोजन देखने या भोज्य पदार्थों का नाम सुनने से नहीं, इसी प्रकार धर्म को जीवन में उतारने से जीवन के समग्र व्यवहारों को धर्ममय बनाने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है। जिनका जीवन धर्ममय बन जाता है, वे परम शान्ति और समाधि के अपूर्व आनन्द को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य

यों तो ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और आत्मा कितना ही मलिन और निकृष्ट दशा को क्यों न प्राप्त हो जाय, उसका स्वभाव मूलतः कभी नष्ट नहीं होता। ज्ञानालोक की कतिपय किरणें, चाहे वे धूमिल ही हों, मगर सदैव आत्मा में विद्यमान रहती हैं। निगोद जैसी निकृष्ट स्थिति में भी जीव में चेतना का अंश जागृत रहता है। इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मा ज्ञानवान् ही कहा जा सकता है, मगर जैसे अत्यल्प धनवान को धनी नहीं कहा जाता विपुल धन का स्वामी ही धनी कहलाता है, इसी प्रकार प्रत्येक जीव को ज्ञानी नहीं कह सकते। जिस आत्मा में ज्ञान की विशिष्ट मात्रा जागृत एवं स्फूर्त रहती है, वही वास्तव में ज्ञानी कहलाता है।

ज्ञान की विशिष्ट मात्रा का अर्थ है-विवेक युक्त ज्ञान होना, स्व-पर का भेद समझने की योग्यता होना और निर्मल ज्ञान होना। जिस ज्ञान में कषाय जनित मलीनता न हो वही वास्तव में विशिष्ट ज्ञान या विज्ञान कहलाता है। साधारण जीव जब किसी वस्तु को देखता है तो अपने राग या द्वेष की भावना का रंग उस पर चढ़ा देता है और इस कारण उसे उस वस्तु का शुद्ध ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जिस ज्ञान पर राग-द्वेष का रंग चढ़ा रहता है, जो ज्ञान कषाय की मलीनता के कारण मलीन बन जाता है, वह समीचीन ज्ञान नहीं कहा जा सकता। कहा भी है—

"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणाः।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिः, दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम्?।।"

जिस ज्ञान के उदय में भी राग, द्वेष, मोह, अविवेक आदि दूषण बने रहें उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता। जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधकार

नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के उत्पन्न होने पर रागादि नहीं रह सकते।

इस प्रकार का सम्यग्ज्ञान जिसे प्राप्त है, उनका दृष्टि कोण सामान्य जनों के दृष्टि कोण से कुछ विलक्षण होता है। साधारण जन जहाँ बाह्य दृष्टिकोण रखते हैं, ज्ञानियों की दृष्टि आन्तरिक होती है। हानि-लाभ को आँकने और मापने के मापदण्ड भी उनके अलग होते हैं। साधारण लोग वस्तु का मूल्य स्वार्थ की कसौटी पर परखते हैं, ज्ञानी उसे अन्तरंग दृष्टि से, अलिप्त भाव से देखते हैं। इसी कारण वे अपने आपको बन्ध के स्थान पर भी निर्जरा का अधिकारी बना लेते हैं। अज्ञानी के लिए जो आस्रव का निमित्त है, ज्ञानी के लिए वही निर्जरा का निमित्त बन जाता है। आचारांग में कहा है—

'जे आसवा ते परिसव्वा,
'जे परिसव्वा ते आसवा,

संसारी प्राणी जहां हानि देखता है, ज्ञानी वहां लाभ अनुभव करता है। इस प्रकार ज्ञान दृष्टि वाले और बाह्य दृष्टि वाले में बहुत अन्तर है। बाह्य दृष्टि वाला वस्तुओं में आसक्ति धारण करके मलीनता प्राप्त करता है, जबकि ज्ञानी निखालिस भाव से वस्तुस्वरूप को जानता है, अतएव मलिनता उसे स्पर्श नहीं कर पाती। बहुत बार ज्ञानी और अज्ञानी की बाह्य चेष्टा एक- सी प्रतीत होती है, मगर उनके आन्तरिक परिणामों में आकाश-पाताल जितना अन्तर होता है। ज्ञानी जिस लोकोत्तर कला का अधिकरी है, वह अज्ञानी के भाग्य में कहाँ !

ज्ञानी पुरुष का पदार्थों के प्रति मोह नहीं होता, अतएव वह किसी भी पदार्थ को अपना बनाने के लिये विचार ही नहीं करता और जो उसे अपना नहीं बनाना चाहता, वह उसका अपहरण तो कर ही कैसे सकता है ! वह सोने और मिट्टी को समान दृष्टि से देखता है, उसके लिए तृण और मणि समान हैं।

इस प्रकार जिस साधक की दृष्टि अन्तर्मुख हो जाती है, उसे पदार्थों का स्वरूप कुछ निराला ही नजर आने लगता है। वह आत्मा और परमात्मा को अपने में ही देखने लगता है। उसे अपने भीतर पारमात्मिक गुणों का अक्षय

भंडार दृष्टिगोचर होता है, जिसकी तुलना में जगत् के बहुमूल्य से बहुमूल्य पदार्थ भी तुच्छ और निस्सार लगते हैं। वह अपनी ही आत्मा में अनिर्वचनीय आनन्द का अपार सागर लहराता हुआ देखता है। उस आनन्द की तुलना में विषय-जनित आनन्द नगण्य और तुच्छ प्रतीत होता है।

इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि प्रत्येक प्राणी में जागृत हो सकती है, मगर उसके जीवन में विद्यमान दोष उसे जागृत नहीं होने देते। अतएव यह आवश्यक है कि उन दोषों को समझने का प्रयत्न किया जाय। इसी दृष्टि से यहां उनका विवेचन किया जा रहा है। ऐसे मूलभूत दोष पांच हैं जिनमें से तीन का सातिचार वर्णन किया जा चुका है।

स्वदार सन्तोष और स्वपति सन्तोष—जगत् के जीवों में. चाहे वे मनुष्य हों अथवा मनुष्येतर काम वासना या मैथुनवृत्ति युगल पाई जाती है। मिथुन का अर्थ है जोड़ा (युगल)। मिल कर जो कार्य करते हैं, वह मैथुन कहलाता है। तथापि मैथुन शब्द काम वासना की पूर्त्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले कु कृत्य के अर्थ में रूढ़ हो गया है अतः इसे 'कुशील' भी कहते हैं। मोह के वशीभूत हो कर कामुकवृत्ति को शान्त करने की चेष्टा करना मैथुन है। काम वासना की प्रबलता होने पर मनुष्य विजातीय प्राणियों के साथ भी भ्रष्ट होता है।

मैथुन के अठारह भेद किये गये हैं। मैथुन क्रिया आत्मिक और शारीरिक शक्तियों का विघात करने वाली है। इसमें अनेक प्रकार के पापों की परम्परा का जन्म होता है। जिस मनुष्य के मस्तिष्क में काम संबंधी विचार ही चक्कर काटते रहते हैं, वह पवित्र और उत्कृष्ट विचारों से शून्य हो जाता है। उसका जीवन वासना की आग में ही झुलसता रहता है। व्रत, नियम, जप, तप, ध्यान स्वाध्याय और संयम आदि शुभ क्रियाएं उससे नहीं हो सकतीं। उसका दिमाग सदैव गंदे विचारों में उलझा रहता है। पतित भावनाओं के कारण दिव्य भावनाएं पास भी नहीं फटकने पाती। अतः जो पुरुष साधना के मार्ग पर चलने का अभिलाषी हो उसे अपनी काम वासना को जीतने का सर्व प्रथम प्रयास करना चाहिए।

आज इस विषय में अनेक प्रकार के भ्रम फैले हैं और फैलाये जा रहे हैं। एक भ्रम यह है कि काम वासना अजेय है; लाख प्रयत्न करने पर भी उसे जीता नहीं जा सकता। ऐसा कहने वाले लोगों को संयम-साधना का अनुभव नहीं है। जो विषय भोग के कीड़े बने हुए हैं, वे ही इस प्रकार की बातें कह कर जनता को अधः पतन की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। 'स्वयं नष्टः परान्नाशयति'-जो स्वयं नष्ट है वह दूसरों को भी नष्ट करने की कोशिश करता है। ऐसे लोग स्थूलभद्र जैसे महापुरुषों के आदर्श को नहीं जानते हैं, न जानना ही चाहते हैं। वे अपनी दुर्बलता को छिपाने का जघन्य प्रयास करते हैं। वास्तविकता यह है कि ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है और मैथुन विभाव है। स्वभाव में प्रवृत्ति करना न अस्वाभाविक है और न असंभव ही। भारतीय संस्कृति के अग्रदूतों ने, चाहे वे किसी धर्म सम्प्रदाय के अनुयायी हों, ब्रह्मचर्य को साधना का अनिवार्य अंग माना है।

यह सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य सहसा पूर्ण ब्रह्मचर्य का परिपालन नहीं कर सकता. तथापि ब्रह्मचर्य की ओर अग्रसर तो हो ही सकता है। मुनि के लिए शास्त्रों में पूर्ण ब्रह्मचर्य का अनिवार्य विधान है और गृहस्थ के लिए स्थूल मैथुन त्याग का विधान किया गया है। सद्गृहस्थ वही कहलाता है जो पर स्त्रियों के प्रति माता और भगिनी की भावना रखता है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श तक नहीं पहुँच सकते, उन्हें भी देशतः ब्रह्मचर्य का तो पालन करना ही चाहिए। परस्त्रीगमन का त्याग करने के साथ-साथ जो स्वपत्नी के साथ भी मर्यादित रहता है, वह विशेष रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करके ओजस्वी और तेजस्वी बनने के साथ संयम का पालन करता है। सद्गृहस्थ को ज्ञानीजन चेतावनी देते हैं कि स्थूल मैथुन का भी त्याग नहीं करोगे तो स्थूल हानि होगी। सूक्ष्म और आंतरिक हानि का भले ही हर एक को पता न लगे पर स्थूल अब्रह्म के सेवन से जो स्थूल हानियां होती हैं, उन्हें तो सारी दुनिया जानती है। जिसने अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लिया है, जिसका मनोबल प्रबल है और जो अपना इह-पर लोक सुधारना चाहता है, वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इसके विपरीत दुर्बलहृदय जन अहिंसा आदि व्रतों का भी पालन नहीं कर

सकते। सत्य का निर्वाह भी निर्बल नहीं कर सकता। अहिंसा और सत्य के पालन के लिए मनोबल और धैर्य की आवश्यकता होती है। इन्हें उत्पन्न करने वाला और सुरक्षित रखने वाला ब्रह्मचर्य है।

जगत् में जितने भी महापुरुष हुए हैं, सभी ने एक स्वर से ब्रह्मचर्य की महिमा का गान किया है। ब्रह्मचर्य की साधना में अद्भुत प्रभाव निहित है। देवता भी ब्रह्मचारी के चरणों में प्रणाम करके अपने को कृतार्थ मानते हैं।

ब्रह्मचर्य ऐसी साधना है कि उसकी रक्षा के लिये कतिपय नियमों का पालन करना आवश्यक है। धान्य की रक्षा के लिए जैसे वाड़ की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए भी वाड़ें आवश्यक है। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के सहायक एवं रक्षक नियमों की संख्या नौ बतलाई गई है।

जहां स्त्री, हिजड़ा और पशु निवास करते हों, वहां ब्रह्मचारी पुरुष को नहीं रहना चाहिए। ब्रह्मचारिणी स्त्री के लिए भी यहीं नियम जाति परिवर्त्तन के साथ लागू होता है। इसी प्रकार मात्रा से अधिक भोजन करना, उत्तेजक भोजन करना, कामुकता वर्धक बातें करना विभूषा-शृंगार करना और इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति धारण करना, इत्यादि ऐसी बातें हैं जिन से ब्रह्मचारी को सदैव बचते रहना चाहिए। जो इनसे बचता रहता है, उसके ब्रह्मचर्य व्रत को आंच नहीं आती। जिस कारण से भी वासना भड़कती हो, उससे दूर रहना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है।

प्रत्येक मनुष्य स्थूलभद्र और विजय सेठ नहीं बन सकता। स्थूलभद्र का कथानक आपने सुना है। विजय सेठ भी एक महान् सत्त्वशाली गृहस्थ थे, जिनकी ब्रह्मचर्य साधना बड़े से बड़े योगी की साधना से समता कर सकती है। विवाह होने से पूर्व ही उन्होंने कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा अंगीकार की थी। उनकी पत्नी विजया ने भी विवाह से पूर्व ही एक पक्ष--शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ली थी। संयोग वश दोनों विवाह के बन्धन में आवद्ध हो गए। दोनों एक साथ रहे फिर भी अपना व्रत अखंडित रख सके। माता को विलगाव मालूम न हो और शुद्धवासना विहीन प्रेम भी

बना रहे, ऐसा आदर्श जीवन उस दम्पती ने व्यतीत किया। किन्तु साधारण साधक के लिए तो यही श्रेयस्कर है कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए वह स्त्री के सान्निध्य में न रहे और एकान्त में वार्त्तालाप आदि न करे।

मुनि स्थूलभद्र की साधना उच्च कोटि की थी। उनका संयम अत्यन्त प्रबल था। एक शिशु को, जिसमें कामवासना का उदय नहीं है, इन्द्राणी भी षोडशवर्षीया सुन्दरी का रूप धारण करके आवे तो उसे नहीं लुभा सकती। स्थूलभद्र ने अपने मन को बालक के मन के समान वासना विहीन बना लिया था। यही कारण है कि प्रलोभन की परिपूर्ण सामग्री विद्यमान होने पर भी रूपकोशा उन्हें नही डिगा सकी, उन्होंने ही रूपकोशा के मन को संयम की ओर मोड़ दिया।

वर्षावास का समय समाप्त हो गया। मुनिराज प्रस्थान करने लगे। रूपकोशा उन्हें विदाई दे रही है। बड़ा ही भाव भीना दृश्य है। मनुष्य का मन सदा समान नहीं रहता। सन्त-समागम पाकर बहुतों के मन पर धार्मिकता और आध्यात्मिकता का रंग चढ़ जाता है किन्तु दूसरे प्रकार के वातावरण में आते ही उसके उतरते भी देर नहीं लगती। धर्मस्थान में आकर और धार्मिकों के समागम में पहुँच कर मनुष्य व्रत और संयम की बात सोचने लगता है किन्तु उससे भिन्न वायुमंडल में वह बदल जाता है। सामान्य जनों की ऐसी मनोदशा होती है। मुनि स्थूलभद्र मानवीय मन की इस चंचलता से भलीभाँति परिचित थे। अतएव उन्होंने प्रस्थान समय रूपकोशा को सावधान किया, भद्रे! तू ने अपने स्वरूप को पा लिया है। अब सदा सतर्क रहना, काम क्रोध की लहरें तेरे मन-मानस सरोवर में न उठने पावें और उनसे तेरा जीवन मलीन न बन जाय। तेरा परायारूप-विकारमय जीवन-चला गया है, कुसंगति का निमित्त पाकर तेरे निज रूप पर पुनः कचरा न आजाय। पावन जीवन की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि पाप की मलीन वृत्तियों से सदैव अपने को बचाया जाय। देखना, आज तेरे जीवन में जो निर्मलता और भव्यता आई है, वह वासना के विष से विषाक्त न बन जाय। तेरे जीवन में महामंगल का जो द्वार उन्मुक्त हुआ है वह स्थगित न हो जाय। अन्तःकरण में जो पवित्र प्रकाश उदित हुआ

है, वह मोह के काले-काले बादलों से आच्छादित न हो जाय। आत्म कल्याण की ओर बढ़ाया हुआ कदम पीछे न फिर जाय या वहीं का वहीं न रह जाय, इस बात के लिए सदा सावधान रहना। कल्याण के पथ पर प्रतिपल अग्रसर होते जाना ही जीवन को सफल बनाने का उपाय है।

जब तक रासायनिक क्रिया के द्वारा स्वर्ण शुद्ध नहीं किया जाता, तब तक वह अशुद्ध रहता है। अतः हीरे को रगड़-रगड़ कर चमकीला बनाया जाता है। खान से निकले सोने में वह चमक नहीं होती उस समय उसमें मैल मिला रहता है। कर्म के सघन आवरण से तेरी आत्मा की कान्ति भी फीकी पड़ी हुई थी, अब वह उज्ज्वल हो गई हैं। वह पुनः फीकी न पड़ जाय, यह ध्यान में रखना। विकास की गति अवरुद्ध न हो जाय, निरन्तर जीवन प्रगति की ओर बढ़ता जाय, यह स्मरण रखना।

मुनि ने कोशा से कहा—मंगलमयि ! अतीत को भूल जाना और यह मानना कि यही तेरे जीवन का शुभ प्रभात है। तेरे जीवन की अन्धकारमयी विकराल रात्रि समाप्त होगई है, अब सुनहरा प्रभात उदित हुआ है। प्रभात का यह पवित्र प्रकाश निरन्तर प्रखर होता रहे, तेरा जीवन पवित्रता की ओर बढ़ता रहे और निर्मल से निर्मलतर बनता जाय, यही मेरी मंगलकामना है। पुण्य के उदय से मिली हुई यह उत्तम सामग्री—मानव-जीवन, परिपूर्ण इन्द्रियां, नीरोगता, सत्समागम, धर्मश्रवण का सुयोग आदि—निरर्थक न हो जाय। यह सामग्री धर्म की आराधना में लगे और आत्मा में निर्मल भाव को जागृत करे तो ही इसकी सार्थकता है।

मुनि की भावपूर्ण वचनावली श्रवण कर रूपाकोशा का हृदय सद्भावना से अधिक परिपूर्ण होगया। उसका अन्तर अधिक साहस एवं सत्संकल्प से भर गया। उसने अतिशय नम्रता और दृढ़ता से कहा—योगिराज ! मैं अपने को हीरा-कणी के समान बनाये रक्खूंगी। हीराकणी कीचड़ में भी अपनी कान्ति नहीं छोड़ती। कीचड़ की मलीनता उसमें प्रवेश नहीं कर पाती। मैं गृहस्थी में रहकर भी पाप की कालिमा से बची रहने का प्रयास करूंगी और जिन व्रतों को अंगीकार किया है, उन्हें अखंडित रक्खूंगी। आप मेरे विषय में निश्चिन्त

रहें। आप जैसे योगी का समागम पाकर मैं धन्य होगई हूँ। आपकी प्रभावपूर्ण वाणी को श्रवण करने से मेरा अज्ञानान्धकार विलीन होगया है। हृदय में पवित्र ज्योति आलोकित हुई है। विश्वास रखिए महात्मन्! वह अब बुझने नहीं पाएगी। प्रभो! आप करुणा और ज्ञान के सागर हैं। प्रकाश के पुंज हैं। मेरी हार्दिक कामना है कि जैसे आपकी संगति से मुझ अधम का उद्धार हुआ, उसी प्रकार जगत् के अन्य पतित प्राणियों का भी उद्धार हो। आपने जैसे एक जीवन को पवित्र बनाया है, वैसे ही जन-जन के जीवन को पवित्र बनावें। योगिन्! आप गंगा के निर्मल जल के समान हैं। जन-जन के जीवन के लिए वरदान हैं।

रूपाकोशा के हृदय में मुनि के प्रति अगाध सात्विक अनुराग और पवित्र श्रद्धाभाव है। भौतिक देह के प्रति संयोग-वियोग की भावना नहीं है। वह संकल्प करती है कि मुनि महाराज भले ही चले जाएं परन्तु उनका उपदेश, उनके द्वारा बिखेरा हुआ पावन आलोक, मेरे हृदय से नहीं जाएगा। उसे मैं अपने जीवन के उत्थान का मूलमन्त्र बना कर सुरक्षित रक्खूंगी।

संसार के जीवों की परिणति बड़ी विचित्र है। सबसे बड़ी विचित्रता तो यही है कि आत्मा स्वयं अनन्त ज्ञान-दर्शन और असीम सुख का निधान होकर भी अपने स्वरूप को भूल कर रंक बना हुआ है। जब वह अपने वास्तविक रूप को समझ कर उसमें रमण करने लगता है तो संसार के उत्तम से उत्तम पदार्थ भी उसे आनन्ददायक प्रतीत नहीं होते। उसे सारा विश्व एक निस्सार नाटक के समान भासित होने लगता है। रूपाकोशा की अब यही मनोदशा थी। उसे धर्म-चिन्तामणि पाकर किसी भी वस्तु की कामना नहीं रह गई थी।

इस प्रकार रूपाकोशा मुनि को विदा देती है और अपने जीवन को विशुद्ध बनाने का आश्वासन देती है। मुनि चातुर्मास्य समाप्त कर गुरु के निकट लौट रहे हैं।

जैसे महामुनीश्वर स्थूलभद्र विकार, विलास एवं वासना के विषैले

वातावरण में भी अपने को विशुद्ध बनाए रख सके, उसी प्रकार हमें भी अपने जीवन को शुद्ध बनाना है। याद रखिए, आपने भी मुनिराजों के मुखारविन्द से महावीर की मंगल-देशना सुनी है। आप भी इसी प्रकार दृढ़ संकल्पी बनें और किसी भी विरोधी वातावरण में रहकर भी अपनी धर्मभावना में अन्तर न आने दें। आज आपके जीवन में जो धर्मभाव उदित्त हुआ है व हो रहा है, वह स्थिर रहे और बढ़ता जाय, यही जीवन के अभ्युदय का राजमार्ग है।



ब्रह्मचर्य की विशुद्धि

आचारांग सूत्र में जीवों की रक्षा का विचार करते हुए निरूपण किया गया है कि किन-किन प्रयोजनों एवं कारणों से प्रेरित हो कर अज्ञानी जन हिंसा करते हैं और कैसे उससे बचना चाहिए ?, हिंसा से बचने और अहिंसा का पालन करने के लिए सर्व प्रथम जीव-अजीव को पहचानने की आवश्यकता है। जीव के स्वरूप को जाने बिना हिंसा से बचना संभव नहीं है। शास्त्र में कहा है कि—

जो जीवे वि न याणेइ अजीवे वि न याणाइ।
जीवा जीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ……।

बहुत-से लोग जीव को अजीव मानकर निःसंकोच हिंसा में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। चलते-फिरते और व्यक्त चेतना वाले जीवों को तो साधारण लौकिक जन भी जीव समझते हैं किन्तु ऐसे भी जीव होते हैं जिनकी चेतना व्यक्त नहीं होती या जिनकी चेतना के कार्य हमारे प्रत्यक्ष नहीं होते। वे स्थावर जीव कहलाते हैं। यद्यपि ज्ञानी के लिए उनकी चेतना भी व्यक्त हैं, पर चमड़े की आंखों वाले के लिए वह व्यक्त नहीं होती। फिर भी यदि गहराई से विचार किया जाय तो उनमें रही हुई चेतना को समझ लेना कठिन नहीं है। अनुमान और आगम प्रमाणों से तो उसे भी समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

सब का स्वानुभव इस सत्य का साक्षी है कि जगत् के छोटे-बड़े सभी जीवों को आयु प्रिय है, जीवन प्रिय है, प्राण प्रिय हैं। मृत्यु सभी को अप्रिय है। सभी जीव दुःख से उद्विग्न होते हैं और सुख से प्रसन्न होते हैं।

एक राजनीतिज्ञ और विधान शास्त्री धन, भूमि और वस्त्र आदि

के हरण को अपराध मानते हैं तो क्या प्राणहरण अपराध नहीं है ? वास्तव में प्राण हरण सबसे बड़ा अपराध है, क्यों कि जीवों को प्राण सब से अधिक प्रिय है। बड़े से बड़े साम्राज्य के बदले में भी, यहां तक कि त्रैलोक्य की प्रभुता के बदले में भी, कोई अपने प्राण देने को तैयार नहीं होता।

यदि सर्वतोभावेन आत्मस्वरूप की ओर गति करने का लक्ष्य है तथा निज गुणों की रक्षा करनी है तो सभी प्रकार की हिंसा से बचना चाहिए। जैसे मनुष्य की हिंसा को गर्हित समझा जाता हैं, उसी प्रकार मनुष्येतर प्राणियों की हिंसा को भी त्याज्य समझना चाहिए।

आज हमारे देश में, राजनीतिक क्षेत्रों में भी अहिंसा की चर्चा होती है। भारतीय शासन भी अहिंसा की दुहाई देता है। मगर समझ में नहीं आता कि वह कैसी अहिंसा है ! जो सरकार मांस, मछली और अंडे खाने का प्रचार करती है, तो कहना चाहिए वह सही रूप में अहिंसा को समझती ही नहीं, राजनीतिज्ञों की अहिंसा संभवतः मानव प्राणी तक ही सीमित है। मानवेतर प्राणी अपनी रक्षा के लिए पुकार नहीं कर सकते, संगठित होकर आन्दोलन नहीं कर सकते, असहयोग और सत्याग्रह करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है, वे शासन को हिला नहीं सकते और उनसे किसी को 'वोट' लेने का स्वार्थ नहीं है, क्या इसी कारण वे अहिंसा और करुणा की परिधि से बाहर हैं ? यदि यह सत्य है तो स्वार्थ एवं भय पर आधारित अहिंसा सच्ची अहिंसा नही है। वह अहिंसा धर्म और नीति नहीं है—मात्र पॉलिसी है।

मगर याद रखना चाहिए कि जब तक प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा और करुणा का दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाएगा तब तक मानव-मानव के प्रति भी अहिंसा का पालन नहीं कर सकेगा। पशुओं और पक्षियों की हिंसा करने वाले में हिंसा के प्रति झिझक नहीं रहती और कभी भी वह मनुष्यों की हिंसा कर सकता है। राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा संबंधी आन्दोलन की अब तक की असफलता का यही मुख्य कारण है। अधूरी अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। हिंसा के संस्कारों को मनुष्य के मस्तिष्क से तभी दूर किया जा सकता है जब मनुष्य और मनुष्येतर सभी प्राणियों की हिंसा को पाप समझा जाय और

उसके उन्मूलन के लिए प्रयत्न किया जाय। ऐसा करने के लिए अहिंसा को धर्म समझना होगा-पौलिसी समझने से काम नहीं चलेगा।

जैन मनीषियों ने अहिंसा के सम्बन्ध में तलस्पर्शी और अत्यन्त व्यापक चिन्तन किया है। उन्होंने असत्य, अस्तेय, अब्रह्मचर्य और मूर्छा को भी हिंसा का ही रूप स्वीकार किया है। राग, द्वेष क्रोध मान माया, लोभ आदि जितनी भी दुर्वृत्तियाँ हैं, सभी हिंसा के अन्तर्गत हैं। कभी इनसे पर का घात न भी होता हो तो भी आत्मिक स्वरूप का विघात तो होता ही है और यह स्वहिंसा है। ज्ञानी जन इसलिए स्वहिंसा से भी बचते हैं।

उपासकदशांग सूत्र के चालू प्रकरण में मैथुन आदि के विषय में भगवान् महावीर स्वामी आनन्द आदि को संबोधित करके बता रहे हैं कि कायिक मैथुन स्थूल मैथुन है। स्थूल मैथुन के त्यागी को पांच बातों से बचना चाहिए। स्वदार-सन्तोष और स्वपति सन्तोष के पांच अतिचार जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) **इत्वरिका परिग्रहीतागमन**—परिग्रहीता (विवाहिता) के साथ गमन करना साधारणतया दोष नहीं माना जाता, लौकिक दृष्टि से अनैतिक कृत्य भी नहीं गिना जाता किन्तु अल्प अवस्था की पत्नी से गमन करना अतिचार है — ब्रह्मचर्य व्रत संबंधी दोष है, क्योंकि ऐसा करना उसके प्रति अन्याय है।

रखैल स्त्री के साथ गमन करना भी दूषण है। क्योंकि वह उसकी वास्तविक स्वकीया पत्नी नहीं है। जब तक रखैल स्त्री से कायिक सम्बन्ध न हो तब तक अतिचार समझना चाहिए और कायिक सम्बन्ध होने पर अनाचार हो जाता है, अर्थात् काया से सम्बन्ध करने पर स्वदार सन्तोष व्रत पूरी तरह खंडित हो जाता है।

(२) **अपरिग्रहीतागमन**—अविवाहिता— कुमारी अथवा वेश्या को पराई स्त्री न समझ कर उसके साथ गमन करना भी अतिचार है। वास्तव में वे सब स्त्रियां परकीया ही हैं जो स्वकीया (विवाहिता) नहीं हैं। उनके साथ संभोग

करने से व्रतभंग नहीं होगा, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। अतएव स्वकीय पत्नी के अतिरिक्त सभी स्त्रियों को परस्त्री समझना चाहिए।

(३) **अनंग क्रीडा**—कामभोग के प्राकृतिक अंगों के अतिरिक्त जो अंग हैं, वे यहां अनंग कहलाते हैं। उनके द्वारा काम चेष्टा करना ब्रह्मचर्य व्रत का दूषण है। जब कामुकवृति तीव्रता के साथ उत्पन्न होती हैं तो मनुष्य का विवेक विलुप्त हो जाता है। वह उचित-अनुचित के विचार को तिलांजलि दे देता है और गर्हित से गर्हित कृत्य भी कर डालता है। अतएव इस प्रकार की उत्तेजना के कारणों से सद् गृहस्थ को दूर ही रहना चाहिए।

श्रावक भी मोक्षमार्ग का पथिक है। वह अपने जीवन का प्रधान ध्येय सिद्धि (मुक्त) प्राप्त करना ही मानता है और तदनुसार 'यथाशक्ति' 'व्यवहार' भी करता है। फिर भी वह अर्थ और काम की प्रवृति से सर्वथा विमुख नहीं हो पाता, यह सत्य है मगर अर्थ एवं काम संबंधी प्रवृति उसके जीवन में आनुषंगिक (गौण) ही होती है। पथिक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए अनेक स्टेशनों और पड़ावों से गुजरात है, मार्ग में अनेक दृश्य देखता है। निर्धारित स्थान पर पहुँचने के पूर्व बीच में कितनी ही बातें देखता-सुनता है। इसी प्रकार साधक भी मोक्षमार्ग का पथिक है। वह शब्द-रूप आदि को सुनता देखता और अनुभव करता है। भूमि, धन आदि से भी उसका काम पड़ता है, परन्तु वह उनमें उलझता नहीं और अपने लक्ष्य-मोक्ष को नहीं भूलता।

कितने ही कामुक अनंग क्रीड़ा करके अपनी काम वासना को तृप्त करते हैं। ऐसे लोग, समाज में कदाचार को बढ़ाते हैं, अपना सर्वनाश करते, हैं और अपने सम्पर्क में आने वालों को भी अध: पतन की ओर ले जाते हैं। सद्गृहस्थ ऐसे कृत्यों से अपने को बचाये रखता है।

पूर्व काल में, अनेक दृष्टियों से सामाजिक व्यवस्था बहुत उत्तम थी। लोग ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते, शिक्षा की व्यवस्था ऐसी थी कि उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त होता था। जब कारण शुद्ध होता है तो कार्य भी शुद्ध होता है। अगर कारण में ही अशुद्धि हुई तो कार्य स्वतः अशुद्ध हो जाएगा।

तारुण्य या प्रौढावस्था में यदि सहशिक्षा हो तो वह ब्रह्मचर्य पालन में बाधक होती है। अच्छे संस्कारों वाले बालक बालिकाएं भले ही अपने को कायिक संबंध से बचालें किन्तु मानसिक अपवित्रता से बचना तो बहुत कठिन है। और जब मन में अपवित्रता उत्पन्न हो जाती है तो कायिक अधः पतन होते क्या देर लगती है ? तरुण अवस्था में अनंगक्रीड़ा की स्थिति उत्पन्न होने का खतरा बना रहता है। अतएव माता-पिता आदि का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तति के जीवन व्यवहार पर बारीक नजर रक्खें और कुसंगति से बचाने का यत्न करें। उनके लिए ऐसे पवित्र वातावरण का निर्माण करें कि वे गंदे विचारों से बचे रहें और खराब आदतों से परिचित ही न हो पाएं।

बालकों को कुसंस्कारों से बचाने और सुसंस्कारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि बड़े-बूढ़े घर का वातावरण शुद्ध और सात्विक रखने की साव-धानी बर्तें। जिस घर में धर्म के संस्कार होते हैं, धर्मकृत्य किये जाते हैं, सन्त-महात्माओं के जीवन चरित पढ़े-सुने जाते हैं, सत्साहित्य का पठन-पाठन होता है और धर्म शास्त्रों का स्वाध्याय किया जाता है, जहां हंसी-मजाक में भी गाली गलौज का या अशिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता और नैतिकता पूर्ण जीवन व्यतीत करने का आग्रह होता है, उस घर का वातावरण सात्विक रहता है और उस घर के बालक सुसंस्कारी बनते हैं। अतएव माता-पिता आदि बुजुर्गों का यह उत्तरदायित्व है कि बालकों के जीवन को उच्च, पवित्र और सात्विक बनाने के लिए इतना अवश्य करें और साथ ही यह सावधानी भी रक्खें कि बालक कुसंगति के चेप से बचा रहे।

(४) **परविवाह करण**—जैसे ब्रह्मचर्य का विघात करना पाप है उसी प्रकार दूसरे के ब्रह्मचर्य पालन में बाधक बनना और मैथुन के पाप में सहायक बनना भी पाप है। अपने आश्रित बालक-बालिकाओं का विवाह करके उन्हें कुमार्ग से बचाना और सीमित ब्रह्मचर्य की ओर जोड़ना तो गृहस्थ की जिम्मेवारी है, मगर धनोपार्जन आदि के उद्देश्य से विवाह संबंध करवाना श्रावक धर्म की मर्यादा से बाहर है। अतएव यह भी ब्रह्मचर्य-अणुव्रत का अति-चार माना गया है।

(५) कामभोग की तीव्र अभिलाषा—कामभोग की तीव्र अभिलाषा चित्त में बनी रहती है तो अध्यवसाय में मलीनता रहती है। अतएव प्रत्येक श्रावक का यह कर्त्तव्य है कि वह काम वासना की वृद्धि न होने दे, उसमें तीव्रता न आने दे। काम वासना की उत्तेजना के यों तो अनेक कारण हो सकते हैं और बुद्धिमान् व्यक्ति को उन सब से बचना चाहिए, परन्तु दो कारण उनमें प्रधान माने जा सकते हैं। दुराचारी लोगों की कुसंगति और खानपान संबंधी असंयम। व्रती पुरुष भी कुसंगति में पड़ कर गिर जाता है और अपने व्रत से भ्रष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जो लोग आहार के संबंध में असंयमी होते हैं, उत्तेजक भोजन करते हैं, उनके चित्त में भी काम भोग की अभिलाषा तीव्र रहती है। वास्तव में आहार विहार के साथ ब्रह्मचर्य का बहुत घनिष्ठ संबंध है।। अतएव ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले को इस विषय में सदा जागरूक रहना चाहिए। मांस, मदिरा, अंडा, आदि का उपयोग करना ब्रह्मचर्य को नष्ट करने का कारण है। कामोत्तेजक दवा और तेज मसालों के सेवन से भी उत्तेजना पैदा होती है।

तीव्र काम-वासना होने से व्रत खंडित हो जाता है और आत्मा की शक्तियां दब जाती हैं, अतएव पवित्र और उच्च विचारों में रमण करके गंदे विचारों को रोकना चाहिए।

ब्रह्मचर्य को व्रत के रूप में अंगीकार करने से भी विचारों की पवित्रता में सहायता मिलती है। मनुष्य के मन की निर्बलता जब उसे नीचे गिराने लगती है तब व्रत की शक्ति ही उसे बचाने में समर्थ होती है। व्रत अंगीकार नहीं करने वाला किसी भी समय गिर सकता है, उसका जीवन विनापाल की तलाई जैसा है किंतु व्रती का जीवन उज्ज्वल होता है। उसमें एक प्रकार की दृढ़ता आ जाती है जिससे अपावन विचार उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। अतएव किसी पाप या कुकृत्य को न करना ही पर्याप्त नहीं है वरन् न करने का व्रत ले लेना भी आवश्यक है। पूर्व समय की तेजस्विता का कारण ब्रह्मचर्य की सुरक्षा ही है। पूर्व समय में वनराज चावड़ा की बड़ी ख्याति थी उसके पिता बड़े पराक्रमी थे। वनराज चावडा के पिता ने,

जब वनराज शैशव काल में था, उसकी माता के मुख पर हाथ फेर दिया। माता ने विचार किया-बच्चे ने इस घटना को देख लिया है और उसकी लाज लुट गई है! उसके हृदय को इतना गहरा आघात लगा कि उसने प्राणों का परित्याग कर दिया।

आपके विचार में यह घटना साधारण-सी हो सकती है। और कई लोग वनराज की माता के प्राणोत्सर्ग को कोरी भावुकता कह सकते हैं, मगर उसकी पृष्ठ भूमि में तो उदात्त संस्कार मौजूद हैं, उस पर विचार करने की मैं प्रेरणा करना चाहता हूँ। उस महिला को अपनी लज्जा एवं मर्यादा की रक्षा करने का कितना ध्यान था।

एक कवि ने भारतीयों की वर्तमान दशा का चित्रण करते हुए लिखा है—

हम देखते रहते नजर के सामने ललना-परा।
क्योंकि नहीं हममें रहा, वह वीर्य-बल अनुपम अभी।
हम बन गये निर्वीर्य,कायर, भीरु क्षयरोगी सभी।

आज तो अधिकारियों को आवेदन पत्र देने की निर्भीकता भी आप में नहीं रही। ऐसे भीरु भला देश, धर्म, और दीन, हीन, सती की क्या रक्षा कर सकेंगे। सदाचार की रक्षा करने के लिए भारत के प्राचीन वीर पुरुषों ने कुछ भी नहीं उठा रक्खा था। उसके लिए उन्होंने सर्वस्व निछावर कर दिया, प्राणों तक की आहुति देने में संकोच नहीं किया। भारत माता के बड़े-बड़े ज्ञानी, दानी, मानी और वीर पुत्र हुए हैं। नारियों ने भी ऐसे वीरोचित कार्य किये हैं जो पुरुषों के द्वारा भी होने संभव न थे। हमारे पूर्वज ज्ञान और विवेक की मशाल लेकर चलते थे, इसी कारण ऐसे नर-नारियों का जन्म हुआ। बादशाही सल्तनत के समय आततायी शासक थे, फिर भी उस समय ऐसे वीर पुरुष हुए हैं जो उन्हें राह पर ले आते थे। अकबर ने देश के लोगों की धर्म-भावना का आदर किया। वह धर्मान्ध नहीं, धर्मसहिष्णु था। कहते हैं-वह सभी धर्म के नेताओं से सम्पर्क रखता था।

जब व्यक्तितंत्र (राजतंत्र) में भी ऐसी स्थिति थी तब आज तो प्रजातन्त्र है। प्रजा के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि भारत का शासन चला रहे हैं। फिर भी यदि शासन हिंसा को बढ़ावा दे तो यह प्रजा की कमजोरी या लापरवाही का ही फल है। अगर प्रजा अपनी भावना पर बल दे तो शासकों के आसन डोले बिना नहीं रह सकते। जनभावना के सामने बड़े से बड़े प्रभाव-शाली शासक को भी झुकना पड़ता है। जनता की मांग के सामने कोई शासक खड़ा नहीं रह सकता। कई कानूनों, यहां तक कि संविधान में भी परिवर्तन करना पड़ता है।

राजनीति को वारांगना की उपमा दी गई है। वह साम दाम से काम निकालती है। अनेकों वार अनेक आश्वासन देकर जनता की उग्र भावना को शान्त कर दिया जाता है, मगर अन्ततः वे आश्वासन कोरे आश्वासन ही सिद्ध होते हैं। आश्वासन देकर शासन यदि तदनुसार कार्य न करे तो संगठित वल से विरोध किया जाता है और तब शासन को झुकना पड़ता है।

सारे देश के धर्मप्रिय विचारक अहिंसा के पक्षपाती हैं। वैष्णव समाज, ब्रह्म,समाज, जैन समाज और बौद्ध समाज, सभी अहिंसा पर विश्वास रखते हैं। सव के संगठित विरोध के कारण दिल्ली में, रोहतक रोड पर बनने वाला कत्लखाना आखिर रुक ही गया।

मानव पशुओं की हत्या करके उन्हें उदरस्थ कर लेता है, इससे बढ़ कर नृशंसता और क्या हो सकती है? आखिर उन मूक प्राणियों का अपराध क्या है? क्या उन्हें अपना जीवन प्रिय नहीं हैं? क्या वे अपने प्राणों को मनुष्य की भांति ही प्यार नहीं करते? जिस धरती पर मनुष्य ने जन्म लिया है, उसी धरती पर उन पशुओं का भी जन्म हुआ है। ऐसी स्थिति में क्या पशुओं का उस पर अधिकार नहीं है? धरती का पट्टा किसने लिख दिया है मनुष्य के नाम? किसने उन्हें धरती पर जीने के अधिकार से वंचित किया है? हां मनुष्य सवल है और पशु निर्बल, क्या इसी कारण मनुष्य को यह अधिकार है कि वह पशुओं की हत्या करे? अगर यही न्याय मान्य कर लिया जाय तो जिसकी लाठी उसकी भैंस कहावत चरितार्थ होगी। फिर सबल मनुष्य निर्बल

मनुष्य का भी अगर खून करदे तो कोई अन्याय या अपराध नहीं कह सकेगा मगर यह सभ्यता की निशानी नहीं है। यह वर्बरता का वोलवाला ही कहा जाएगा।

कई लोग कहते हैं— जब पशु बूढ़ा हो जाय और काम का न रहे तब उसका पालन-पोषण करने से क्या लाभ ? ऐसे लोग क्या अपने बूढ़े माँ-बाप को भी शूट या कत्ल कर देंगे ? जिन गायों, भैंसों और बैलों से भरपूर सेवा ली, अब जीवन के संध्याकाल में उन्हें कसाई को सौंप देना और उनके गले पर छुरी चलवाना क्या योग्य है ? क्या यही मनुष्य की कृतज्ञता है ? मगर आज यही सब हो रहा है। मनुष्य अपने को विश्व का एकाधिपति मान कर इतर प्राणियों के जिन्दा रहने के अधिकार को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

दयावान् गृहस्थों का कर्त्तव्य है कि वे पशु- पक्षी आदि समस्त मनुष्येतर प्राणियों को अपना छोटा भाई समझें और उनके साथ वही व्यवहार करें जो बड़े भाई को छोटे भाई के साथ करना चाहिए। इतना न हो सके तो भी उनके प्रति करुणा का भाव तो रखना ही चाहिए। जब गाय-भैंस जैसे उपयोगी पशु वृद्ध हो जाएं तो उन्हें कसाई के हाथों न बेचे। पशु पालक इन को नहीं वेचेंगे तो कसाईखाने चलेंगे ही कैसे ?

आज आदिवासियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों में दया की भावना तथा अन्य सद्भावनाएं उत्पन्न कर दी जाएँ तो बड़ा भारी सामजिक लाभ हो सकता है इससे उनकी आत्मा का जो कल्याण होगा, उसका तो कोई मूल्य ही नहीं आंका जा सकता।

मगर पिछड़े एवं असंस्कृत जनों के सुधार के लिए कोरा कानून बना देने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा। असली और मूलभूत बात हैं उनकी मनोभावनाओं में परिवर्त्तन कर देना। मनोभावना जब एकबार बदल जाएगी तो जीवन में आमूल-चूल परिवर्त्तन स्वतः आ जाएगा फिर उनकी सन्तति परम्परा भी सुधरती चली जाएगी।

आप जानते हैं कि समाज व्यक्तियों के समूह से बनता है। अतएव

व्यक्तियों के सुधार से समाज का सुधार होता है और समाज के सुधार से शासन में सुधार आता है। अगर आप अपने किसी एक पड़ौसी की भावना में परिवर्त्तन ला देते हैं और उसके जीवन को पवित्रता की ओर प्रेरित करते है तो समझ लीजिए कि आपने समाज के एक अंग को सुधार दिया है। प्रत्येक व्यक्ति यदि इसी प्रकार सुधार के कार्य में लग जाय तो समाज का कायापटल होते देर न लगे।

आज इस देश में जब अनैतिकता, भष्टाचार, घूसखोरी, और अप्रामाणिकता आदि दोषों का अत्यधिक फैलाव हो रहा है और मनुष्य की सद्भावनाएँ विनष्ट होती जा रही हैं तब इस प्रकार के सुधार की बड़ी आवश्यकता है। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार प्रवेश कर चुका है। वह निरन्तर बढ़ता गया और उसकी रोक-थाम न की गई तो इस देश की क्या दशा होगी, कहना कठिन है। अतएव प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को सर्वप्रथम तो अपने जीवन में प्रविष्ट बुराइयों को साहस के साथ दूर करना चाहिए और फिर अपने पड़ौसियोंको सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर आज आप इस पर ध्यान नहीं देंगे तो कल जाकर,घोर पश्चात्तापक रने का समय आ सकता है।

आप स्थूल भद्र मुनि का आख्यान सुन रहे हैं। एक स्थूल भद्र ने रूपाकोशा के जीवन को सुधार दिया। क्या उसके सुधार से अनेकों का सुधार नहीं हुआ होगा ? सुधार की परम्परा इसी प्रकार प्रारंभ होती है।

आत्मबली महामानव मनुष्यों पर ही नहीं, पशुओं पर भी अपना प्रभाव डालते हैं और उनको भीं कल्याण पथ का पथिक बना देते हैं। भारतीय साहित्य में ऐसे उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

स्थूल भद्र का एक साथी मुनि सिंह की गुफा पर चार महिने सिंह के सामने अडोल रहा, यद्यपि सिंह उसे देख कर गुर्राया, उसने उग्ररूप धारण किया। इधर साधक ने अपनी शान्त दृष्टि सिंह की ओर डाली और उस दृष्टि में कुछ ऐसा अद्भुत प्रभाव था कि सिंह का सारा उग्र भाव शान्त हो गया। एक क्षण पहले गुर्राने वाला सिंह मुनि के चरण चूमने लगा! एक आचार्य ने कहा है—'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः'। जिसके अन्तः करण में

अहिंसा की प्रबल भावना होती है, जिसका जीवन अहिंसामय बन जाता है, उसका प्रभाव दूसरों पर पड़े बिना रह नहीं सकता। अहिंसा के आगे और वैर-विरोध की शक्तियां परास्त हो जाती हैं। अहिंसक के आसपास का समग्र वातावरण शान्तिमय, करुणामय, सात्विकता से परिपूर्ण और पवित्र बन जाता है। मुनि अहिंसा के प्रतीक थे और उनके अन्तः करण में प्रेम एवं वात्सल्य का भाव इतना उग्र और गहरा था कि सिंह की सारी हिंसा भावना उसके सामने गल कर पानी-पानी हो गई !

एक मनुष्य अगर अपने जीवन को सुधार लेता है तो दूसरों पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। आत्म बल में ऐसी अपूर्व और अनिर्वचनीय शक्ति है !



अममत्व

इस विराट् जीवसृष्टि की ओर दृष्टि डालते हैं तो असंख्य प्रकार के जीव दृष्टिगोचर होते हैं। यह प्रकार भेद भी किसी एक आधार पर नहीं है। शरीर-संस्थान की दृष्टि से देखें तो भिन्नता है, इन्द्रियों की संख्या की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी विषमता प्रतीत होती है। बौद्धिक स्तर भी सबका एकसा नहीं है।

इसके विपरीत जब आगमों की गहराई में उतरते हैं तो कुछ दूसरा ही तत्व विदित होता है। आगम आत्मा की एकता का प्रतिपादन करता है—'एगे आया' यह शास्त्र का विधान है, जिसका आशय यह है कि चैतन्य-सामान्य की दृष्टि से विभिन्न आत्माओं में एक रूपता है। सभी आत्माएं अपने मूल स्वरूप से एक-सी हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष एक प्रकार का विधान करता है और आप्त प्रणीत आगम दूसरे प्रकार का। इस विरोध का कोई परिहार है?, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिनागम का कोई भी विधान प्रमाण से बाधित नहीं हो सकता और न परस्पर विरोधी ही हो सकता है। प्रत्येक आत्मा मौलिक रूप में एक समान होते हुए भी उसमें जो विविधता दृष्टिगोचर होती है वह बाह्य निमित्त से है। जल मूल में एक-सा होता है, फिर भी अनेक प्रकार की पृथ्वी आदि के संसर्ग से खारा मीठा, हल्का-भारी, शीत-उष्ण आदि रूप धारण कर लेता है। यही आत्मा की स्थिति है। आत्मा कर्मों की विचित्रता के कारण विविध रूपों में हमें प्रतीत होता है। कर्म यदि सघन और विशिष्ट शक्तिशाली होते हैं तो वे आत्मिक शक्तियों को अधिक आच्छादित करते हैं और यदि हल्के होते हैं तो उतनी सघनता से आच्छादित नहीं करते।

चन्द्रमा के समान निर्मल और सूर्य के समान तेजो मय आत्मा कर्म के

आवरण से मलीन हो रहा है। उसकी अनन्त-अनन्त शक्तियां कुंठित हो रही हैं। उसके भीतर अमित गुणों का जो खजाना भरा पड़ा है, वह उसको पहचानने में भी असमर्थ हो रहा है। आत्मा में अनन्त, असीम, अव्याबाध आनन्द का समुद्र लहरा रहा है, किन्तु उसे आत्मा मूढ़ बनकर पहचानता भी नहीं है। जब पहचानता ही नहीं तो कैसे उसमें अवगाहन कर सकता है ? और कैसे उसे प्राप्त करने का प्रयास कर सकता है ? आत्मिक आनन्द से वंचित होने के कारण ही उसे विषय-जनित आनन्द को अनुभव करने की कामना उत्पन्न होती है। वह पौद्‌गलिक पदार्थों से सुख पाने की इच्छा करता है। मगर सुख प्रद्‌गल का धर्म नहीं है। प्रद्‌गल के निमित्त से अनुभव में आने वाला सुख भी वास्तव में आत्मा का ही है—आत्मा के सुख-गुण का विकार है। कुत्ता हड्डी चूसता है। हड्डी की रगड़ लगने से उसकी दाढ़ों में से रुधिर बहने लगता है, मगर वह भ्रमवश समझता है कि यह रुधिर हड्डी में से प्राप्त हो रहा है। अज्ञानी जीव भी इसी प्रकार के भ्रम में रहता है। वह आत्मा के सुख को पुद्‌गलों से प्राप्त होने वाला सुख मान कर उनका संग्रह करने की अभिलाषा करता है, मगर अन्ततः पुद्‌गलों के संयोग से उसे दुःख की ही प्राप्ति होती है और विविध प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करना पड़ता है। इसी से भव परम्परा चालू रहती है। यह भ्रम ही सब अनर्थों की जड़ है। वह आत्मिक सम्पत्ति से वंचित होने के कारण ही पुद्‌गलों के प्रति रति धारण करता है।

अनेक जीव ऐसे हैं जो आत्मा और आत्मिक सम्पत्ति पर विश्वास ही नहीं करते। उनमें जो सरल हैं, भोले हैं, वे कदाचित् सन्मार्ग पर आ सकते हैं परन्तु जो आग्रह शील हैं, उन्हें सुमार्ग पर लाना संभव नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आत्मा में अनन्त ज्ञान की निधि, आनन्द की सम्पदा और चैतन्य के चमत्कार का वर्णन सुनकर आनन्द विभोर हो जाते हैं मगर वे उसे प्राप्त करने के लिए कर कुछ भी नहीं पाते।

तो जिसे जिनेन्द्र प्ररूपित तत्व का बोध प्राप्त है, उसको ऐसा प्रयत्न

करना चाहिए कि जिससे आत्मा की ज्ञान-सुख स्वरूप शक्तियां सर्वथा प्रकट हो जाएं, जागृत हो जाएं और आत्मा में तेज प्रस्फुटित हो जाए। साधना के द्वारा कर्म के आवरण को दूर करना चाहिए। आवरण हटते ही आत्मा का नैसर्गिक तेज उसी प्रकार प्रकट हो जाता है जैसे मेघों के हटने पर सूर्य अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हो जाता है।

सूर्य कितनी ही सघन मेघमाला से मंडित क्यों न हो, उसकी किरणों की सहज उज्ज्वलता में अन्तर नहीं पड़ता। मेघों के आवरण से ऐसा मालूम पड़ता है कि सूर्य की किरणों की तेजस्विता कम हो गई है, किन्तु यह भ्रम है। इसी प्रकार आत्मा में कोटि-कोटि सूर्यों से भी अधिक जो तेज है, वह कम नहीं हो सकता, सिर्फ आवृत होता है। सहज रूप से निर्मल आत्मा में कोई धब्बा नहीं लगता। फिर भी बाह्य आवरण को चीर कर अन्तरतर को न देख सकने के कारण हम ऐसा अनुभव करते हैं कि आत्मा में मलीनता है। वास्तव में यह हमारा भ्रम है, अज्ञान है।

पुद्गल एवं पौद्गलिक पदार्थों की ओर जितनी अधिक आसक्ति एवं रति होगी, उतना ही आन्तरिक शक्ति का मान कम होगा।

पाप आचरण के मुख्य दो कारण हैं। कुछ पाप परिग्रह के लिए और कुछ आरंभ के लिए किये जाते हैं। कुछ पापों में परिग्रह प्रेरक बनता है। परिग्रह आरंभ का वर्द्धक है। अगर परिग्रह अल्प है और उसके प्रति आसक्ति अल्प है तो उसके लिए आरंभ भी अल्प होगा। इसके विपरीत यदि परिग्रह बढ़ा और अमर्याद हो गया तो आरंभ को भी बढ़ा देगा-वह आरंभ महारंभ होगा।

आन्तरिक दृष्टि से अल्पारंभ और महारंभ तथा अल्पपाप और महापाप और ही ढंग से माना गया है। बाह्य दृष्टि से तो ऐसा लगता है कि बड़े कुटुम्ब वाले का आरंभ महारंभ है, ग्रामपति का आरंभ और भी बड़ा है तथा चक्रवर्त्ती राजा के महारंभ का तो पूछना ही क्या! किन्तु एकान्ततः ऐसा समझना समीचीन नहीं है। जहां सम्यक् दृष्टि है, कषाय की तीव्रता नहीं है, मूर्छा-ममता में

गहराई नहीं है, आसक्ति कम है वहां बाह्य पदार्थों की प्रचुरता में भी महापरिग्रह नहीं होता।

व्यवहारिक दृष्टि से आनन्द के यहाँ महारंभ था। उसका बड़ा कारबार था, किन्तु बाहर का रूप बढ़ा-चढ़ा होने पर भी जहां दृष्टि में सम्यक्त्व और विरतिभाव आ जाता है, वहाँ आरंभ का दोष बढ़ा-चढ़ा नही होता। सम्यग्दृष्टि जीवमें दर्शन मोहनीय का उदय न होने से तथा चरित्रमोहनीय की भी तीव्रतम शक्ति (अनन्तानुबंधी कषाय) का उदय न रहने से मूर्छा-ममता में उतनी सघनता नहीं होती जितनी मिथ्यादृष्टि में होती है। जहाँ सुदृष्टि आ जाती है वहाँ आरंभ विषयक दृष्टि भी सम्यक् हो जाती है। जहां सुदृष्टि नहीं होती वहाँ अंधाधुंध आरंभ होता है।

गृहस्थ के लिये आरभं केसाथ परिग्रह का परिमाण करना भी आवश्यक माना गया है, हिंसा, असत्य चोरी और कुशील का घटना तब संभव होता है जब परिग्रह पर नियंत्रण रहे। जब तक परिग्रह पर नियंत्रण नहीं किया जाता और उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जाती तब तक हिंसा आदि पापों का घटना प्रायः असंभव है।

सर्वथा परिग्रह विरमण (त्याग) और परिग्रह परिमाण, ये इस व्रत के दो रूप हैं। परिग्रह परिमाण व्रत का दूसरा नाम इच्छा परिमाण है। कामना अधिक होगी तो प्राणातिपात और असत्य भी बढ़ेगा। सब अनर्थों का मूल कामना लालसा है। कामना ही समस्त दुःखों को उत्पन्न करती है। भगवान् ने कहा है—'कामे कमा ही कमियं' खु दुक्खं'। यह छोटा-सा सूत्र वाक्य दुःख के विनाश का अमोघ उपाय हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। जो कामनाओं को त्याग देता है वह समस्त दुःखों से छुटकारा पा लेता है।

साधारण मनुष्य कामनापूर्ति में ही संलग्न रहता है और उसी में अपने जवीन को खपा देता है। विविध प्रकार की कामनाएँ मानव के मस्तिष्क में उत्पन्न होती है और वे उसे नाना प्रकार से नचाती हैं। इस संबंध में सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि कामना का कहीं ओर-छोर नहीं दिखाई देता।

प्रारम्भ में एक कामना उत्पन्न होती है। उसकी पूर्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है वह पूरी भी नहीं होने पाती कि अन्य अनेक कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार ज्यों-ज्यों कामनाओं को पूर्ण करने का प्रयास किया जाता है त्यों-त्यों उनकी वृद्धि होती जाती है और तृप्ति कहीं हो ही नहीं पाती 'आगम में कहा है—

'इच्छा हु आगास समा अणंतिया।' उत्त०

जैसे आकाश का कहीं अन्त नहीं वैसे ही इच्छाओं का भी कहीं अन्त नहीं। जहां एक इच्छा की पूर्ति में से ही सहस्रों नवीन इच्छाओं का जन्म हो जाता हो वहां उनका अन्त किस प्रकार आ सकता है ? अपनी परछाईं को पकड़ने का प्रयास जैसे सफल नहीं हो सकता, उसी प्रकार कामनाओं की पूर्ति करना भी संभव नहीं हो सकता। उससे बढ़ कर अभागा और कौन है जो प्राप्त सुख सामग्री का सन्तोष के साथ उपभोग न करके तृष्णा के वशीभूत होकर हाय-हाय करता रहता है, आकुल-व्याकुल रहता है, धन के पीछे रात-दिन भटकता रहता है, जिसने धन के लिए अपना मूल्यवान मानव जीवन अर्पित कर दिया वह मनुष्य होकर भी मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है।

पारलौकिक श्रेयस् और सुख की बात जाने भी दी जाय और सिर्फ वर्तमान जीवन की सुख-शान्ति की दृष्टि से ही विचार किया जाय तो भी इच्छाओं को नियंत्रित करना अनिवार्य प्रतीत होगा। जब तक मनुष्य इच्छाओं को सीमित नहीं कर लेता तब तक वह शान्ति नहीं पा सकता और जब तक चित्त में शान्ति नहीं तब तक सुख की संभावना ही कैसे की जा सकती है ?

यही कारण है कि इच्छा परिमाण श्रावक के मूल व्रतों में परिगणित किया गया है। इच्छा का परिमाण नहीं किया जाएगा और कामना बढ़ती रहेगी तो प्राणातिपात और झूठ बढ़ेगा। अदत्त ग्रहण में भी प्रवृत्ति होगी। कुशील को बढ़ाने में भी परिग्रह कारणभूत होगा। इस प्रकार असीमित इच्छा सभी पापों और अनेक अनर्थों का कारण है।

जो पदार्थ यथार्थ में आत्मा का नहीं है, आत्मा से भिन्न है, उसे

आत्मीय भाव से स्वीकार करना परिग्रह है। परिग्रह के मुख्य भेद दो हैं-आभ्यन्तर और बाह्य। रुपया-पैसा, महल-मकान आदि बाह्य परिग्रह हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि वैकारिक भाव आभ्यन्तर परिग्रह कहलाते हैं।

श्रावक आनन्द ने इच्छा परिमाण व्रत अंगीकार किया और अन्यान्य पापों को भी घटा लिया। इच्छापरिमाण करने से आन्तरिक परिग्रह भी घट जाता है। बाह्य परिग्रह का तो कुछ नाप-तोल भी हो सकता है, जैसे जमीन और धन का प्रमाण किया जा सकता है किन्तु आन्तरिक परिग्रह का, जो बाह्य परिग्रह की अपेक्षा भी आत्मा का अधिक अहित करने वाला है और आत्मा को अधोगति में ले जाने वाला है, कोई नाप-तोल नहीं हो सकता। उसकी सीमा श्रावक के लिए यही है कि वह प्रत्याख्यान कषाय के रूप में रहेगा। गृहस्थ साधक का कर्तव्य है कि कदाचित् किसी के साथ वैर-विरोध उत्पन्न हो जाय तो उसे चार मास के भीतर-भीतर शमन कर ले। अगर चार मास से अधिक समय तक कोई कषाय विद्यमान रहता है तो वह अप्रत्याख्यान कषाय की कोटि में चला जाता है और अप्रत्याख्यान कषाय के सद्भाव में श्रावक के व्रत (देशविरति) ठहर नहीं सकते। अतएव जो श्रावक अपने व्रतों की रक्षा करना चाहता है, उसे चार महीने से अधिक काल तक कषाय नहीं रहने देना चाहिए!

बाह्य परिग्रह में जमीन, खेत, मकान, चांदी-सोना, गाय, भैंस, घोड़ा, मोटर आदि समस्त पदार्थों का परिमाण करना चाहिए। परिमाण कर लेने से तृष्णा कम हो जाती है और व्याकुलता मिट जाती है। जीवन में हल्कापन आ जाता है और एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव होने लगता है। आखिर शान्ति तो सन्तोष से ही प्राप्त हो सकती है। सन्तोष हृदय में नहीं जागा तो सारे विश्व की भूमि, सम्पत्ति और अन्य सुख सामग्री के मिल जाने पर भी मनुष्य शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। मन की भूख मिटाने का एक मात्र उपाय सन्तोष है, इच्छा को नियंत्रित कर लेना है। पेट की भूख तो पाव-दो पाव आटे से मिट जाती है मगर मन की भूख तीन लोक के राज्य से भी नहीं मिटती।

कहा भी है—गोधन, गजधन, रत्नधन, कंचन खान सुखान।

जब आवे संतोष धन, सब धन धूल समान।

धनवान् मनुष्य भी अधिक धन की लालसा से प्रेरित होकर बड़े-बड़े आरंभ करता है। भयानक से भयानक दुष्कर्मों को लालच करवाता है। और जिस धन के लिए मनुष्य इस लोक के सुखों का परित्याग करता है और परलोक को बिगाड़ता है, वह धन उसके क्या काम आता है ? इष्ट जन का वियोग क्या धन से टल सकता है ? रोग आने पर क्या धन काम आता है ? जब विकराल मृत्यु अपना मुख फाड़ कर सामने आती है तो धन देकर उसे लौटाया जा सकता है ? सोने-चांदी और हीरों से भरी तिजोरियां क्या मौत को टाल सकती हैं ? आखिर संचित किया हुआ धन का अक्षय कोष किस बीमारी की दवा है ? चाहे गरीब हो या अमीर, खाएगा तो खाद्य पदार्थ ही, हीरा-मोती तो खा नहीं सकता। फिर अनावश्यक धनराशि एकत्र करने से क्या लाभ है ? मानव जीवन जैसी अनमोल निधि को धन के लिए विनष्ट कर देने वाले क्यों नहीं सोचते कि धन उपार्जन करते समय कष्ट होता है, उपार्जित हो जाने के पश्चात् उसके संरक्षण की प्रतिक्षण चिन्ता करनी पड़ती है और संरक्षण का प्रयत्न असफल होने पर जब वह चला जाता है, तब दुःख और शोक का पार नहीं रहता। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति में धन दुःख, चिन्ता, शोक और किसी संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानाञ्चरक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं शोक भाजनम्।

सन्ताप ही देता है। वास्तव में धन जीवन के लिए वरदान नहीं, अभिशाप है। एक अकिंचन निस्पृह योगी को जो अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है वह कुबेर की सम्पदा पालने वाले धनाढ्य को नसीब नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है कि धन भले ही शान्ति प्रदान न कर सकता हो तथापि गृहस्थ के लिए वह अनिवार्य तो है ही। गृहस्थी का काम धन के बिना नहीं चल सकता। इस कथन में सचाई मानी जा सकती है मगर आवश्यकता से अधिक धन के संचय का औचित्य तो इस तर्क से भी नहीं होता। अमर्याद

धन संचय की वृत्ति के पीछे गृहस्थी की आवश्यकता नहीं किन्तु लोलुपता और धनवान् कहलाने की अहंकार वृत्ति ही प्रधान होती है।

मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएं बहुत कम होती हैं किन्तु वह उन्हें स्वेच्छा से बढ़ा लेता है। आज तो मानव व्यक्ति ही नहीं, देश भी आवश्यकताओं के शिकार हो गए हैं। विदेशों में क्या भेजें और कैसे विदेशी मुद्रा प्राप्त करें, यह देश के नेताओं की चिन्ता है। जब उन्हें अन्य पदार्थ भेजने योग्य नहीं दीखते, तो उनकी नजर पशु धन की ओर जाती है। बढ़िया किस्म के वस्त्रों, खिलौनों और मशीनों की पूर्ति के लिए धन कहां से दिया जाय? इसका एक रास्ता पशु धन है। एक समय भारतवासी सादा जीवन व्यतीत करते थे तो देश पर विदेशों का ऋण नहीं था। मगर आज विचित्र स्थिति बन गई है। नन्हें-नन्हें बच्चों को दूध न मिले और गोमांस विदेशों में भेजा जाय। यह सब आवश्यकताओं को सीमित न रखने का फल है।

प्राचीन काल में कहावत थी—'यथा राजा तथा प्रजा।' अब प्रजा तंत्र के युग में यह कहावत बदल गई है और 'यथा प्रजा तथा राजा' के रूप में हो गई है। ऐसी स्थिति में प्रजा को जागृत होना चाहिए। अगर प्रजा जागृत रहेगी तो शासक वर्ग को भी जागृत रहना पड़ेगा। प्रजा में अपनी संस्कृति के रक्षण की भावना बलवती होगी तो वह ऐसी सरकार ही नहीं बनने देगी जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता की जड़ें उखाड़े और भारत की धार्मिक विशेषता का हनन करे। आज सरकार की ओर से हिंसा को बढ़ावा दिया जा रहा है, यह धर्मप्रिय जनता को विशेष रूप से सोचने योग्य और प्रतिकार करने योग्य मुद्दा है। प्रत्येक अहिंसा प्रेमी व्यक्ति को, फिर वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, संगठित होकर निश्चय करना पड़ेगा कि हम देश की संस्कृति के विरुद्ध कोई कार्य नहीं होने देंगे।

बन्धुओ, करोड़ों निरपराध और मूक प्राणियों के प्राण बचाने का प्रश्न है और इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ किसी का नहीं है। अतएव इस क्षेत्र में काम करने वाले कम मिलते हैं! किन्तु मैं विश्वास पूर्वक कहना चाहता हूं कि इस कार्य से आपको मानसिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त होगा। अगर आप

चाहते हैं कि देश में हिंसा न बढ़े तो प्रत्येक को अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना होगा। महा हिंसा से बनी वस्तुओं का उपयोग त्यागना पड़ेगा। वृद्ध और असमर्थ जानवरों का बेचना बंद करना होगा और गोशाला जैसे संस्थानों में उन्हें रखने की व्यवस्था करनी होगी। गोशाला की आय के लिये दुधारू पशु ही रक्खे जायं, यह भावना गलत है। आय के लिये दूसरे उपाय सोचे जा सकते हैं परन्तु असमर्थ पशुओं का विक्रय बंद कर उनका रक्षण तो गोशालाओं का मुख्य लक्ष्य है। इसको नहीं भूलना चाहिये। घर-धनी (स्वामी) अगर अपने जानवरों का पालन-पोषण न कर सके तो संस्थाएं उनकी रक्षा की व्यवस्था करें जिससे वे कत्लखाने में न जा सकें। पशु कत्लखाने में न जाएं, इस प्रकार की सावधानी रखी जाए, तभी हिंसा रोकी जा सकती है।

अगर व्यक्ति तन-धन संबंधी ममता को मोड़ ले तो व्यवहार और परमार्थ का कोई कार्य होना अशक्य नहीं है। ममता हटा लेने या कम करने से पाप रुक सकता है। साधक तन, मन और धन से ममता हटा ले तो उनसे आदर्श कार्य की सिद्धि हो, इसमें शंका ही क्या है ?

मन की ममता हटाकर स्थूलभद्र वेश्या की दुर्वृत्ति पर ममता हटाने से ही विजयी हो सके। सिंह की गुफा पर रहने वाला साधक तन की ममता को मार कर सिद्धि प्राप्त करने में असमर्थ हो सका। सिंह गुफावासी ने भी गुफा में अटल ध्यान धारण करके सफलता प्राप्त की।

मुनि दीक्षा अंगीकार करने वाला साधक जब अपने को गुरु के श्रीचरणों में अर्पित करता है तब द्रव्य परिग्रह (धन) का त्याग तो कर ही देता है, भाव-परिग्रह के त्याग की परीक्षा भी समय-समय पर होती रहती है। एक मुनि नाग की बांबी पर ध्यान में लीन हो गए। मुनि ध्यानावस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाता, वाणी का उच्चारण नहीं करता और चित्त की चंचलता को भी त्याग देता है। इस प्रकार तीनों गुप्तियों से गुप्त मुनि को देख कर नाग का रोष सीमातीत हो गया। उसने विचार किया कौन है यह अभागा जो अपने प्राण देने के लिए मेरी बांबी पर आया है ! मौत किसे पकड़ कर आज यहां ले आई है ? ऐसा सोचकर उसने फुंकार की, मगर मुनि

ज्यों के त्यों स्थिर बने रहे। नाग और निकट आया। इस वार उसने अपना मुंह मारा, फिर भी मुनि अडोल, अकम्प ! न उनका शरीर चलायमान हुआ और न मन विचलित हुआ। सर्प विस्मय में पड़ गया। फिर सर-सर करके वह मुनि के गले में चिपट गया। विषविहीन-सा हो गया। जैसे गारुड़ी लोग सर्प को वश में कर लेते हैं, वैसी ही स्थिति इस सर्प की हो गई।

जैसे समुद्र में विस्फोट होने से बम का विष विलीन हो जाता है। वैसे सर्प का विष मुनिराज के समता-सागर में विलीन हो गया। वह एक अनोखी स्थिति का अनुभव करने लगा।

मुनि की मनोदशा का विचार कीजिए। यह तो निश्चित है कि उनके मन में नाग के प्रति तनिक भी द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ। ऐसा होता तो नाग की हिंसक वृत्ति को ईंधन मिल जाता और उसे डंक मार कर विषवमन करने का अवसर मिल जाता।

तो क्या मुनि के मन में भय का संचार हुआ ? किन्तु भय भी हृदय की दुर्बलता है और हिंसा का ही एक रूप है। भय उत्पन्न होने पर मनुष्य निश्चल, मौन और शान्त नहीं रह सकता। अतएव यह मानना स्वाभाविक है कि उनके मन में भय की भावना का भी आविर्भाव नहीं हुआ। और फिर मुनि के लिए भय का कारण ही क्या था ! जो आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी, सत्-चित्-आनन्दमय मानता है और समझता है कि संसार का तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र भी आत्मा के एक प्रदेश को भी उससे अलग नहीं कर सकता, उसे भय क्यों उत्पन्न होगा ! अमूर्तिक आत्मा पर शस्त्र की पहुँच नहीं हो सकती— कहा भी है—

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।'

शस्त्र आत्मा का छेदन नहीं कर सकते, आग उसे जला नहीं सकती। कोई भी भौतिक पदार्थ आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। जो बहिरात्मा हैं, शरीर को अपना समझते हैं, वे ही विष और शास्त्र से भयभीत होते हैं। जिन्होंने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहचान लिया है, जो पौद्गलिक देह से

शुभ-अशुभ

भगवान् महावीर ने साधक की विविध स्थितियाँ बतला कर उसे ध्यान दिलाया कि संसार में विविध प्रकार के कर्म दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु वे सब मुख्य रूप से दो भेदों में अन्तर्गत हो जाते हैं-(१) शुभ या पुण्य कर्म और (२) अशुभ या पाप कर्म।

पुण्य कर्म और पाप कर्म का भेद यद्यपि उनके विपाक की विविधता के आधार पर किया गया है किन्तु सूक्ष्मता में उतरें तो प्रतीत होगा कि यह दोनों प्रकार भी कोई मौलिक नहीं हैं। इन दोनों का मूल कार्मणवर्गणा है जो पुद्गल की एक जाति है। कार्मणजातीय पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म और समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। जीव के मनोयोग, वचनयोग और काययोग की प्रवृत्ति या तो शुभ होती है या अशुभ। दोनों प्रकार की प्रवृत्ति से कर्मों का बन्ध होता है। शुभ योग की प्रवृत्ति से शुभ कर्मों का बन्ध होता है और उसे पुण्यबन्ध कहते हैं। तथा अशुभ-योग की प्रवृत्ति से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, जिसे पापबन्ध कहते हैं। पुण्यकर्म का फल जीव को इष्ट रूप में प्राप्त होता है और पापकर्म का फल अनिष्ट रूप में मिलता है, संसार में जितने भी इष्ट संयोग हैं, मनोरम फल हैं, अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है, वह सब पुण्य का परिणाम है और जितने भी अनिष्ट, अमनोज्ञ और अकाम्य फल है, वे सब पाप के परिपाक हैं। साधारणतया सामान्य संसारी जीव पुण्य को उपादेय और पाप को हेय समझते हैं और व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक भी है, किन्तु निश्चय दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों ही उपादेय नहीं हैं। शुद्ध अध्यात्म दृष्टि से दोनों प्रकार के कर्मों का अन्त होने पर ही सिद्धि, मुक्ति या शुद्ध स्वरूपोपलब्धि होती है। सिद्धि की प्राप्ति में दोनों प्रकार के कर्मबाधक हैं। मगर इस विषय की

विशेष विचारणा यहां नहीं करनी है। आज तो पुण्य और पाप के विषय में ही कतिपय विचार प्रस्तुत किये जाएंगे।

किसी जीव को पूर्वकृत पुण्य कर्म का उदय तो हो किन्तु उस पुण्य-कर्म के फलस्वरूप प्राप्त सामग्री का उपयोग वह पापकृत्यों में कर रहा हो तो वह कर्म उसे ऊपर नहीं उठा कर नीचे गिरा देगा। पुण्य प्रकृति का भोग करते समय मनुष्य अगर अपनी वर्तमान प्रवृत्ति को न संभाले तो वह गिर जाएगा।

उच्च, पद, धन, सुन्दर शरीर, अनुकूल परिवार, विनीत पुत्र, वैभव, बुद्धि, यश-कीर्ति, ये सब पुण्य के फल हैं, लेकिन इन्हें पाकर किसी ने यदि इनका ठीक उपयोग न किया, बल पाकर दूसरों को पीड़ा पहुँचाई, धन का दुरुपयोग किया, बुद्धि से कुकल्पनाएं करके स्व-पर को अधःपतन की ओर प्रेरित किया, इसी प्रकार प्राप्त किसी भी शक्ति का दुरुपयोग किया तो उसका परिणाम सुन्दर नहीं होगा। संसार में कितने ही मिथ्या मत-पंथ प्रचलित हैं। उन्हें चलाने वाले भी बुद्धिशून्य नहीं, बुद्धिमान लोग ही थे। लेकिन उन्होंने पुण्ययोग से प्राप्त बुद्धि का दुरुपयोग किया। कितने राजा-महाराजा धन-वैभव को प्राप्त करके उससे पापकर्म करते हैं। शारीरिक शक्ति प्राप्त करके अन्य प्राणियों का संहार करते हैं। कंस को जो शक्ति प्राप्त थी उसका उसने क्या उपयोग किया? मगर इस प्रकार पुण्य से प्राप्त साधनों का जो दुरुपयोग करते हैं वे अपनी आत्मा को नीचे गिराते हैं। इस प्रकार भावना यदि शुभ न हो-भावना में पुण्य प्रकृति का उदय न हो तो पुण्य जीव को नीचे भी गिरा देता है। प्राप्त शक्ति तथा वैभव के सदुपयोग का विचार उसे नहीं मिला। परिग्रह उसके जीवन में ममता तथा आसक्ति का कारण बना, इससे उसका पतन हुआ। जगत् में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं-(१) उदितोदित (२) उदितास्त (३) अस्तोदित और (४) अस्तास्त। जो मनुष्य उदय में उदय करने वाला है, वह उदितोदित कहलाता है। वर्त्तमान जीवन में जो स्वस्थ तन, धन, भूमि, आदि सामग्री मिली है, वह पुण्य के उदय के कारण मिली है। उस सामग्री का सदुपयोग करके जो उसके निमित्त से वर्त्तमान में भी पुण्य का उपार्जन करता है, ऐसा पुण्य से पुण्य का उपार्जन करने वाला पुरुष उदितोदित कहा गया है। वह वर्त्तमान में उदय को प्राप्त है और

भविष्य में भी उदय को प्राप्त होगा। उसने पूर्वपुण्य के उदय से वैभव, धन आदि प्राप्त किया और मति भी पाई और उसका सदुपयोग किया तो फिर ऊंचा उठेगा। हम भरत को उदितोदित कह सकते हैं तो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उदित-अस्त।

यदि दीपक प्रकाश में रहा है तो मनुष्य उसके प्रकाश में काम कर सकता है। उसके बुझ जाने पर काम नहीं किया जा सकता। एक प्रकाशित दीपक हजारों दीपकों को प्रकाशित कर सकेगा। छोटा-सा दीपक लालटेनों आदि को भी प्रकाश दे सकता है। किन्तु बुझने पर वह किसी काम का नहीं। जीवन की भी यही स्थिति है। जिसने अपने जीवन में विवेक प्राप्त किया है, वह उदय में उदय करेगा-अपने को ऊंचा उठाएगा और दूसरों को भी ऊंचा उठाने का प्रयत्न करेगा। जो मनुष्य उदितोदित है वह अपने धन से दीन, हीन, असहाय और विपन्न जनों के दुःख को दूर करेगा। ऐसा करके वह पुनः उदित बनेगा और दूसरों के उदय में भी सहायक बनेगा। यदि उसे सुबुद्धि प्राप्त है तो दूसरों को सत्परामर्श देकर कुपथ से हटाएगा, सुपथ पर लाने का प्रयत्न करेगा, ज्ञान का प्रकाश देगा। इस प्रकार स्वयं प्रकाशित होने के साथ-साथ दूसरों को भी प्रकाशित करेगा। किसी कवि ने ठीक कहा है—

कमनीय कुन्दन की कान्ति का कलेवर है,
कौन काम का जो काम मारा नहीं आपने।
माना आप रुस्तम से कम नहीं किन्तु क्या,
जो दीनों को विपत्ति से उबारा नहीं आपने।
कंकरी सी सम्पदा करोड़ों की न कौड़ी की,
जो दिया दीन-दुखी को सहारा नहीं आपने।
व्यर्थ हुए पंडित प्रवीण प्रतिभा के पूरे,
देश की दशा को जो सुधारा नहीं आपने॥

अगर कामवासना पर विजय प्राप्त न कर सके तो कुन्दन की सी कान्ति से कलित आपका यह कलेवर किस काम का? रुस्तम-सा बल पाकर भी यदि गरीबों को विपदा से नहीं बचाया तो आपका बल किस मर्ज की दवा है? पुण्य के योग से जो शक्ति प्राप्त हुई है, उसे पुण्य कार्य में जो नहीं लगाता

स्व-पर कल्याण में व्यय नहीं करता, उसका उस शक्ति को पाना व्यर्थ है। व्यर्थ ही नहीं वरन् अकल्याण का कारण है। ऐसे अभागे मनुष्य के लिए यही कहा जा सकता है कि उसने हीरे की कणी पाकर उसे आत्मघात का कारण बना लिया ! जो पुण्य, पाप का कारण बनता है वह पापानुबंधी पुण्य कहलाता है जो बाह्य में पुण्य रूप हो कर भी वस्तुतः पाप की ही श्रेणी में गिना जाता है।

किसी महापंडित का मस्तिष्क यदि समाज और देश की उन्नति में नहीं लगता तो उसका पाण्डित्य किस कामना का ? आज के वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों की बहुत-सी सूक्ष्म शक्तियों को समझते हैं। वे भौतिक पदार्थों के महा-पण्डित कहे जा सकते हैं। उनके वैज्ञानिक कौशल ने संसार को कुछ का कुछ बना दिया है। आज वे सुदूरगामी राकेट छोड़ कर चन्द्रमा और मंगल आदि का पता लगाने के लिए प्रयत्नशील हैं। सैकड़ों चमत्कार उन्होंने इस धरती पर दिखलाए हैं किन्तु उनकी इस सूक्ष्म प्रज्ञा का नतीजा क्या है ? उस प्रज्ञा के परिणाम स्वरूप जिन भयानक अणुबमों और उद्जन बमों का निर्माण हुआ, उससे जगत् में क्या शान्ति हुई है ? बुद्धिमान् वैज्ञानिक राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं। वे अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करके संहारक साधनों का निर्माण करके दुनियां को भीषण संकट में डाल रहे हैं। ऐसे पण्डितों की पण्डिताई किस काम की है ?

जो तन से दूसरों की सेवा करेगा, अपनी विद्या का उपयोग दूसरों को सम्यग्ज्ञान देने में करेगा, शक्ति के द्वारा दीनों की सहायता करेगा, वह मनुष्य उदितोदित माना जाएगा। वह दीपक से दीपक जगाने वाला है, पुण्य के द्वारा पुण्य का उपार्जन करने वाला है। उसके पुण्य को पुण्यानुबंधी पुण्य समझना चाहिए।

महावीर जैसे महापुरुष आज भी हमारे हृदय में विराजमान हैं, उनका नाम हमारे हृदय में पवित्र प्रेरणा उत्पन्न करता है और उनका स्मरण हृदम में श्रद्धा-भक्ति का स्रोत प्रवाहित कर देता है, क्योंकि उन्होंने स्वयं आदर्श जीवन व्यतीत कर जनसमाज के उत्थान में महान् योग प्रदान किया।

न केवल वाणी के द्वारा ही वरन् उन्होंने अपने जीवन व्यवहार से भी उच्च आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित किए। ऐसे महान् व्यक्ति ही जगत् में वन्दनीय और अभिनन्दनीय होते हैं।

इससे विपरीत जो पूंजी पाकर स्वयं उसका सदुपयोग नहीं करता, और दूसरों की सहायता नहीं करता प्रत्युत दुर्व्यसनों का पोषण करता है, वह इस लोक में निन्दित बनता है और अपरलोक को पापमय बना कर दुखी होता है।

पूर्व संचित पुण्य का ही यह फल है कि हमें आर्य भूमि में जन्म मिला, मानव शरीर मिला, धर्म संस्कार वाला कुल मिला, धन-वैभव मिला और सन्त समागम करने का सुयोग मिला। ऐसी स्थिति में आगे उदय का क्या रूप हो यह मनुष्य को सोचना चाहिए।

जीवन की अवधि है, वह स्थायी टिकने वाला नहीं यह निश्चित है। शरीर त्यागने के पश्चात् पुनः शरीर धारण करना पड़े और न भी धारण करना पड़े, परन्तु शरीर धारण करने के पश्चात् उसे त्यागना तो अनिवार्य ही है। कोई भी मनुष्य न अमर हुआ और न हो सकता है इसी प्रकार पुण्य के खजाने के समाप्त होने की भी अवधि है। जो भी कर्म बंधता है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, एक नियत अवधि तक ही आत्मा के साथ बद्ध रह सकता है। अवधि समाप्त होते ही वह आत्मा से पृथक हो जाता है। इस नियम के अनुसार पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म का भी क्षय होना अनिवार्य है। जिस खजाने में से खर्च ही खर्च होता रहता है और नवीन आय बिलकुल नहीं होती, वह कितना ही विपुल क्यों न हो, कभी न कभी समाप्त हो ही जाता है। इस तथ्य को कौन नहीं जानता ? व्यावहारिक जगत् में धन के आय-व्यय संबन्धी बातों की सबको चिन्ता रहती है, किन्तु जिस पुण्य के प्रभाव से धन-वैभव टिकता है, उसकी किस को कितनी चिन्ता रहती है ? हम पुण्य का जो खजाना लेकर आए हैं तथा जिसका उपभोग प्रतिपल कर रहे हैं, यदि उसमें नवीन आय सम्मिलित न की गई—नया पुण्य नहीं उपार्जित किया गया तो खजाना समाप्त हो जाएगा। फिर आगे क्या स्थिति होगी ? किन्तु मनुष्य वर्तमान को ही सब कुछ समझ

कर भविष्य को भूल जाता हैं। वह भूल जाता है कि उसे पर लोक में जाना होगा और वहां पुण्य के अभाव में क्या कठिनाइयां उठानी पड़ेंगी।

बन्धुओं! इस छोटे-से वर्तमान के लिए दीर्घ भविष्य को विस्मृत मत करो। जैसे पूर्व पुण्य का फल यहां भोग रहे हो, उसी प्रकार यहां भी पाप से बचो और पुण्य का उपार्जन करो जिससे आगे भी उतम संयोग प्राप्त कर सको और उन उतम संयोगों का सदुपयोग करके आत्मा का कल्याण साधन कर सको।

जो पुण्य को बढ़ाएंगे वे कभी किसी से भय नहीं खाएंगे। वे इहलोक और परलोक में निर्भय रहेंगे। कुछ करने का फल ही आज हमें इस रूप में प्राप्त हैं। अन्यथा यों संसार में कौन किसे पूछता है?

बीज अच्छे खेत में बोया जाता है तो पौधे के रूप में लहलहाने लगता है। वही अगर नाली में डाल दिया जाय तो सड़ जाएगा पर पौधे के रूप में विकसित नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार धन रूपी बीज अगर अच्छे खेत में डाला जाय, सुकृत्य में लगाया जाय तो वह पुण्य रूपी पौधे के रूप में विकसित होता है। कुकर्म ऊसर या खारी भूमि है, और सुकर्म सुन्दर खेत है। हमें बीज वहां डालना है जहां वह फूले, फले और विकसित हो। जो ऐसा करता है वही प्रथम श्रेणी का मानव है, उदय में उदय करने वाला है।

जीवन, धन और वैभव जाने वाली वस्तुएं हैं किन्तु इन जाने वाली वस्तुओं से कुछ लाभ उठा लिया जाय, अपने भविष्य को कल्याणमय बना लिया जाय, इसी में मनुष्य की बुद्धिमता, है, विवेकशीलता है। कहा भी है—

गढ़ रहे न गढ़पति रहे, रहे न सकल जहान।
दोय रहे नृप मान कहे, नेकी बदी निदान॥

सुकृत करने वाला मनुष्य अपना नाम संसार में चिरस्थायी बना जाता है। काल की चक्की उसके यश को खण्डित नहीं कर सकती। युग पर युग व्यतीत हो जाते हैं परन्तु लोगों की जीभ पर उसका सुयशगान बना रहता है।

भारत में आज जनता का राज्य है। योग्य व्यक्ति अपनी बुद्धि तथा बल का प्रयोग करके महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। प्रत्येक मानव पर आज महान् उत्तरदायित्व है। देश की स्वाधीनता का अर्थ इतना ही नहीं कि विदेशी शासकों की कुर्सी पर देशी शासक बैठ जाएं। सच्ची स्वाधीनता में देश की कल्याण कारिणी परम्पराओं की तथा संस्कृति की सुरक्षा भी गर्भित है। भारत स्वाधीन हो कर भी अगर अपनी परम्पराओं की और अध्यात्म प्रधान संस्कृति की रक्षा नहीं करता और विदेशियों के ही अनिष्ट आचार-विचार का अन्धानुकरण करता है तो इस स्वाधीनता का कोई विशेष अर्थ नहीं। भारत की आत्मा अगर उन्मुक्त न हुई तो वह स्वाधीनता किस काम की? स्वाधीनता का सच्चा लाभ तब है जब आप अपने देश की महान् सभ्यता का जो जनमंगल कारिणी है और जीवन के अन्तरंग तत्व के विकास पर भार देती है, प्रचार और प्रसार करें और अखिल विश्व के समक्ष उसका सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करें। किन्तु आज उलटी गंगा बह रही है। देश के देशी शासक विदेशों की नकल कर रहे हैं, उनकी संस्कृति को इस देश पर लादने का प्रयास कर रहे हैं, हिंसा बढ़ रही है, अनैतिकता अपना सिर ऊंचा उठा रही है, घूसखोरी, भ्रष्टाचार और पक्षपात बढ़ता जा रहा है। देश के इस अधःपतन को देख कर विवेकशील जन ही सोचते हैं कि आखिर इस दशा का कहां अन्त आएगा? देश कहां जाकर रुकेगा?

इस परिस्थिति में परिवर्त्तन लाने का कार्य शक्तिशाली व्यक्ति कर सकते हैं। शक्तिशाली वे जो बल-बुद्धि तथा आत्मिक शक्ति से युक्त हैं। जिन्होंने इस तथ्य को भलीभांति हृदयंगम कर लिया हो कि जीवन और धर्म अभिन्न हैं। धर्म की उपेक्षा करके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का उत्थान होना संभव नहीं है। प्रजा में धार्मिक भावना को जगाये बिना देश में फैले अनाचार का उन्मूलन नहीं हो सकता। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' अगर हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा।

जो लोग पेट पूर्त्ति की समस्या से ही परेशान हैं, उनसे सामाजिक कार्य करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती! श्रीमान् लोग अगर इस कार्य को

अपने हाथ में लें तो परिस्थति में सुधार की आशा की जा सकती है। उनके लिए यह कार्य कठिन नहीं है। भारत का पुरातन इतिहास बतलाता है कि राजपुत्रों ने महलों का परित्याग कर वनों की शरण ली और आत्मिक साधना में तत्पर होकर स्व-पर का कल्याण किया। महलों में पूर्व संचित पुण्य का भोग करके क्षय किया जा सकता है। किन्तु नयी सामग्री जुटानी है तो महलों को छोड़ना होगा।

आदिवासी लोगों की ओर भी अनेक कार्य कर्त्ताओं का ध्यान आकर्षित हुआ हैं। उन्हें सभ्य और शिक्षित बनाने का प्रयत्न हो रहा है। किन्तु सच्चीसभ्यता और शिक्षितता का लक्षण यह है कि वे दुर्व्यसनों से बचें, अपने जीवन व्यवहार में सुसंस्कृत हों, पापों से अपनीं रक्षा कर सकें, अपने जीवन के उच्च आदर्श को समझ सकें। जिन्होंने स्वयं अपने जीवन को सुधारा है, उन पर दूसरों के जीवन को भी सुधारने का दायित्व है। दूसरों के जीवन सुधार में सहायक बनना भी एक प्रकार से अपने जीवन को सुधारना है। जिसके पास पुण्य का बल है, दिमाग का बल है, वह साधारण प्रयास से भी दूसरे के जीवन में परिवर्त्तन ला सकता है।

सम्पत्तिशाली घरों के बढ़ने और चढ़ने के कारण बन्धु-भाव व्यसन हीनता और सेवा भावना है। इनके विपरीत कार्य होने से उनका विनाश हो जाता है। भर्तृहरि ने कहा है—

दौर्मन्त्र्यान्नृपति विनश्यति,
यतिः संगात् सुतो लालनात्।
विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयात्,
शीलं खलोपासनात्।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः,
स्नेहः प्रवासाश्रयात्।
मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात्।
त्यागात् प्रमादाद्धनम्॥

मंत्री खराब हो तो राजा विनष्ट हो जाता है। परिग्रह धारण

करने से साधु का सर्वनाश होता है ! अधिक लाड़ लड़ाने से पुत्र, अविद्या से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुर्जन की संगति से शील, मद्यपान से लज्जा, देखरेख नहीं करने से खेती, अधिक काल तक प्रवास से स्नेह, प्रेम के अभाव से मैत्री और अनीति से समृद्धि तथा त्याग एवं प्रयाद से धन का नाश हो जाता है।

जैसे लकड़ी में लगा घुन उसे नष्ट डालता है, उसी प्रकार जीवन में प्रविष्ट दुर्व्यसन जीवन को नष्ट कर देता है। अतएव दुर्व्यसनी लोगों की संगति से बचना चाहिए। अकर्त्तव्य से दुश्मनी रखनी चाहिए। जीवन को सदैव निर्मल और पवित्र बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। भगवान् महावीर का संदेश है कि अपने जीवन का उत्थान और पतन मनुष्य के स्वयं के हाथ में है। कोई अदृश्य शक्ति या देवी-देवता हमारे जीवन को बना-बिगाड़ नहीं सकते। मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु और स्वयं ही अपना मित्र है। 'पुरिसा तुम मेव तुमं मित्ता' आचा०

एक हितैषी ने संसारी लोगों को उद्बोधन करते कहा—मित्र ! जीवन की सरिता बह रही है, इस बहती हुई सरिता में कहीं तेरे जीवन की सम्पदा नष्ट न हो जाय। जरा संभल के चलना। कहा है—

धर्म री गंगा में हाथ धोय ले नी रे !
चांदणो हुओ है, मोती पोय ले नी रे !

सत्पुरुष सदा से संसारी जीवों को सावचेत करते आ रहे हैं कि धर्म रूपी गंगा में अवगाहन करो। ऐसा करने से ही जीवन में शान्ति मिलेगी। गंगा तन को निर्मल और शीतल बनाती है परन्तु धर्म-गंगा आन्तरिक मन को मन की मलीनना को दूर करती है और जीवन को शान्त तथा सुखमय बना देती है। इससे काम की जलन और तृष्णा की प्यास दूर होती है।

मगर धर्म की गंगा उसी के जीवन में प्रवाहित होती है जिसके हृदय में दैवी भावनाएं होती हैं। दानवी प्रकृति वालों से धर्म दूर ही रहता है।

पुराणों में एक कथा आती है। सुन्द और उपसुन्द नामक आसुरी प्रकृति के दो भाई थे। उन्होंने शिवजी की आराधना की। भोले शंकर ने

उनकी आराधना से संतुष्ट और प्रसन्न होकर वर दे दिया कि जिसके सिर पर हाथ रख दोगे वही भस्म हो जाएगा। 'करेला और नीम चढ़ा' की कहावत चरितार्थ हुई। आसुरी प्रकृति के साथ शक्ति का संयोग हुआ तो उनकी दानवता और अधिक बढ़ गई। उन्होंने शंकर पर ही हाथ रखने की सोची। शंकर स्वयं संकट में फंस गए। जान बचाने के लिए भागने लगे और वे दोनों भाई उनका पीछा करने लगे। मार्ग में विष्णु मिल गए। शंकर ने अपनी मुसीबत की कहानी उन्हें सुनाई तो विष्णु ने उपालंभ देते हुए कहा–आपने अपात्रों को वर दिया ही क्यों ! हथियार को अधिक तेज करने से उसकी काटने की शक्ति बढ़ती ही है। अस्तु, जो होना था हो गया। अब मैं सम्भालने का प्रयत्न करता हूँ।

विष्णु सुन्द-उपसुन्द के समीप पहुंचे। उन्होंने जब विष्णु से बाबा (शंकर) का परिचय पूछा तो विष्णु ने उन्हें सलाह दी कि यह वर वास्तविक है या धोखा ? इस बात की परीक्षा तो पहले कर लेनी चाहिए। वृथा भटकने से क्या लाभ है ?

विष्णु की बात सुन्द-उपसुन्द को जंच गई। उन्होंने परीक्षा के लिए एक दूसरे के सिर पर हाथ रक्खा और दोनों भस्म हो गये।

आज दुनिया के बड़े राष्ट्रों की स्थिति भी सुन्द-उपसुन्द के समान है। अगर ये एक-दूसरे पर हाथ फेरेंगे तो दुनिया का सर्वनाश कर छोड़ेंगे। यह सब आसुरी शक्ति की उच्छृंखल वृद्धि का परिणाम है। शक्ति में आसुरीपन धार्मिकता के अभाव से उत्पन्न होता है। शक्ति स्वयं तो शक्ति ही होती है, उसके साथ धर्मभाव हुआ तो वह दैवी रूप में होती है और अधर्म हुआ तो आसुरी रूप धारण कर लेती है। जो मनुष्य उदितोदित होता है वह धर्म का आचरण करके प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करता है और अपने जीवन को दैवी सम्पत्ति से विभूषित बना लेता है। वह जिस समाज और देश में जन्म लेता है, उसके उत्थान में अपना उत्थान मानता है और अपने पुण्य-आचरण से पवित्रता का विस्तार करता है। ऐसे सत्पुरुषों का लौकिक और पारलौकिक कल्याण होता है।

परिग्रह मर्यादा

"आचारःप्रथमो धर्म" अर्थात् धर्म के अनेक क्रियात्मक रूप हैं किन्तु आचार-सदाचार-सब धर्मों में प्रथम है। इस उक्ति के अनुसार जब भगवान् महावीर की वाणी का संकलन किया गया तो भगवान् के द्वारा प्ररूपित आचार धर्म का प्रथम अंग-आचारांग में संकलन हुआ। इस प्रकार प्रथम धर्म का प्रथम अंग में निरूपण किया जाना शास्त्रकारों की दूरदर्शिता और सूक्ष्म प्रज्ञा का परिचायक है।

आचारांग सूत्र में मुनिधर्म का हृदय ग्राही निरूपण है। उसमें भी प्रथम अध्ययन में पापःत्याग की प्ररूपणा की गई और हिंसा से होने वाले कुपरिणाम बतलाए गए हैं।

मुनियों के समान प्रत्येक साधक को पूर्ण रूप से निष्पाप और त्यागमय जीवन बनाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। त्यागमय जीवन यापन करने के लिए व्रतों को प्रतिज्ञा के रूप में अंगीकार करना आवश्यक होता है।

कई लोग समझते हैं कि हम यों ही व्रत का पालन कर लेंगे, प्रतिज्ञा के बन्धन में बांधने की क्या आवश्यकता है ?, किन्तु इस प्रकार का विचार हृदय की दुर्बलता से प्रसूत होता है। जिसे व्रत का पालन करना ही है उसे प्रतिज्ञा से घबराने की क्या आवश्यकता है ? प्रतिज्ञा के बन्धन में न बँधने के विचार की पृष्ठभूमि में क्या उस व्रत की मर्यादा से बाहर चले जाने की दुर्बल वृत्ति नहीं है ? यदि संकल्प में कमी न हो तो व्रत के बन्धन से बचने की इच्छा ही न हो। स्मरण रखना चाहिए कि बन्धन वही कष्टकर होता है जो अनिच्छा से मनुष्य पर लादा जाता है। स्वेच्छा पूर्वक अंगीकार किया हुआ,

व्रत का बन्ध साहस और शक्ति प्रदान करता है। प्रतिकूल परिस्थिति में इसके द्वारा अपनी मर्यादा से विचलित न होने की प्रेरणा प्राप्त होती है। व्रत के बन्धन से ही गांधीजी विलायत में मद्य, मांस और परस्त्री गमन के पापों से बच सके और आगे चल कर 'महात्मा' की महान् पदवी से विभूषित हुए। माता की प्रेरणा से जैन मुनि के समक्ष ग्रहण किए व्रतों ने उनके जीवन को कितना प्रभावित किया, इस बात को वह भली भांति समझ सकेगा जिसने उनकी जीवनी का अध्ययन किया है।

किन्तु व्रत ग्रहण करना यदि महत्वपूर्ण है तो उसका यथावत् पालन करना भी कम महत्व पूर्ण नहीं है। उचित है कि मनुष्य अपने सामर्थ्य को तोल कर और परिस्थितियों का विचार करके व्रतको स्वीकार करे और फिर दृढ़ संकल्प के साथ उस पर दृढ़ रहें। व्रत ग्रहण करके उसका निर्वाह नहीं करने के भयंकर दुष्परिणाम या अनर्थ हो सकते हैं। किंतु चूक के डर से व्रत ही नहीं करना बड़ी भूल है। जो कठिनाई आने पर भी व्रत का निर्वाह करता है और अपने संकल्प बल में कमी नहीं आने देता वह सभी कठिनाइयों को जीत कर उच्च बन जाता है। और अन्त में पूर्ण निर्मल बन कर चरम सिद्धि का भागी होता है।

साधु जीवन का दर्जा बहुत ऊंचा है, इसका कारण यही है कि वे महाव्रतों का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन करते हैं, और महाव्रतों के पालन के लिए उपयोगी जो नियम उपनियम हैं, उनके पालन में भी जागरूक बने रहते हैं। ऐसा साधु अपनी साधना में सफलता प्राप्त कर परम ज्ञान पाता है। यदि ऊंची मंजिल वाला फिसल गया तो वह चोट भी गहरी खाता है। अतः उसे बहुत ही सावधान होकर चलना पड़ता है। भव-भव के बन्धनों को काटने में वही सफल होता है जो व्रतों का पूर्ण रूप से निर्वाह करता है।

अपरिग्रह भी महाव्रतों में एक है। इस व्रत में साधक को पूर्ण रूप से अकिंचन होकर रहना पड़ता है। मगर श्रावक के लिए पूर्ण अपरिग्रह होकर रहना शक्य नहीं हैं, अतएव वह मर्यादित परिग्रह रखने की छूट लेता है। किन्तु व्रतधारी श्रावक परिग्रह को गृह-व्यवहार चलाने का साधन मात्र मानता है। कमजोर आदमी लकड़ी का सहारा लेकर चलता है और

उसे सहारा ही समझता है। कम-जोरी दूर होने पर वह लकड़ी का प्रयोग नहीं करता। अगर वह लकड़ी को ही साध्य मान ले और अनावश्यक होने पर भी हाथ में थामे रहे तो अज्ञानी समझा जाएगा।

इसी प्रकार व्रती श्रावक धन-वैभव आदि परिग्रह को जीवन यात्रा का सहारा समझता हैं, साध्य नहीं। धन अर्थात् परिग्रह को ही सर्वस्व समझ लेने से सम्यग्दृष्टि नहीं रहती। वह जो परिग्रह रखता है, अपनी आवश्यकताओं का विचार करके ही रखता हैं और उसका जीवन इतना सादा होता है कि उसकी आवश्यकताएं भी अत्यल्प होती हैं इस कारण वह आवश्यक परिग्रह की छूट रखकर शेष का परित्याग कर देता हैं।

डराने-धमकाने वाला यदि हाथ में बांस आ जाय तो उसी को लेकर दौड़ पड़ेगा। कमजोरी के कारण लकड़ी रखने का प्रयोजन दूसरा था किन्तु क्रोधावेश में उसका प्रयोजन दूसरा ही होता है—प्रहार करना। श्रावक परिग्रह का पूरी तरह त्याग नहीं कर पाता, यह उसकी दुर्बलता है। वह इसे अपनी दुर्बलता ही समझता है।

कभी-कभी ऐसा अवसर भी आ जाता है कि भ्रन, विपर्यास या मानसिक दुर्बलता के कारण मनुष्य व्रत की सीमा से बाहर चला जाता है वह समझता हैं कि मेरा व्रत-भंग नहीं हो रहा है। मगर वास्तव में व्रत भंग होता है। इस प्रकार का व्रतभंग अतिचार की कोटि में गिना जाता है। और जब व्रत से निरपेक्ष हो कर जानबूझ कर व्रत को खण्डित किया जाता है तो अनाचार कहलाता है। परिग्रह का परिमाण करने वाला श्रावक यदि धन, सम्पत्ति, भूमि आदि परिमाण से अधिक रख लेता है तो अनाचार समझना चाहिए और वैसी स्थिति में उसका व्रत पूरी तरह खंडित हो जाता हैं। पचास एकड़ भूमि का परिमाण करने वाला यदि साठ एकड़ रख लेता है तो यह जान बूझ कर व्रत की मर्यादा को भंग करना है और यह अनाचार है।

कोई व्यक्ति एक मकान के बीच में दीवाल खड़ी कर दे तो एक के वदले दो मकान कहलाएंगे। एक मकान के चार भाग कर दिये जाएं तो भी

वह वस्तुतः एक ही कहा जाता है, जब तक उसमें विशेष परिवर्तन न हो। इस प्रकार मकान का परिमाण करने में दृष्टि या लक्ष्य की प्रधानता होती है।

जमीन-जायदाद आदि के किये हुए परिमाण का व्रत सापेक्ष अतिक्रमण करना प्रथम अतिचार हैं। किसी ने व्रत ग्रहण करते समय एक या दो मकानों की मर्यादा की। बाद में ऋण के रुपयों के बदले उसे एक और मकान प्राप्त हो गया। अगर वह उसे रख लेता है तो यह अतिचार कहलाएगा। इसी प्रकार एक खेत बेच कर या मकान बेचकर दूसरा खेत या मकान खरीदना भी अतिचार है यदि उसके पीछे अतिरिक्त अर्थलाभ का दृष्टि कोण हो। तात्पर्य यह है कि इस व्रत के परिमाण में दृष्टि कोण मुख्य रहता है और व्रतधारी को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कि उसने तृष्णा, लोभ एवं असन्तोष पर अंकुश लगाने के लिए व्रत ग्रहण किया है अतएव ये दोष किसी बहाने से मन में प्रवेश न कर जाएँ और ममत्व बढ़ने नहीं पाए।

व्रती को नौ प्रकार के परिग्रह के अतिक्रमण से बचना चाहिए—
(१) जमीन (२) जायदाद (३) स्वर्ण (४) चांदी (५) घोड़ा आदि (७) धन (८) धान्य और (९) कुप्य—फर्नीचर वर्त्तन आदि।

पशुओं की सन्तति उत्पन्न होने पर संख्या में वृद्धि हो जाती है, यह स्वभाविक है। किन्तु एक तो उस वृद्धि को लाभ का कारण बनाना और दूसरे संरक्षण की भावना से उनको रखना अलग-अलग बातें है। ऐसी बातों का स्पष्टी करण अगर व्रत ग्रहण करते समय ही कर लिया जाय तो अधिक अच्छा। बाद में किया जाय तो इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि मेरे किये हुए निर्णय में कहीं मेरी ममत्व बुद्धि तो मुझे धोखा नहीं दे रही है! इस प्रकार की जागरूकता व्रत की रक्षा करने में सहायक होगी। किसी ने पचास हजार के धन का परिमाण किया, फिर व्याज में अतिरिक्त धन आ गया। उस अतिरिक्त धन को अगर कोई अतिक्रमण नहीं मानता तो यह अनुचित है।

अतिचार केवल जानने के लिए नहीं है, बचने के लिए भी हैं। जानी हुई बातों को केवल दिमाग की वस्तु बना कर रक्खा जाय और उनका आचरण से कोई सरोकार नहीं रक्खा जाय तो ऐसी जानकारी की कोई उपयोगिता नहीं होती। ज्ञान वही सार्थक है जिसके अनुसार वर्त्ताव किया जाता है। 'ज्ञानं भार : क्रियां बिना' अगर ज्ञान के अनुसार प्रवृति नहीं की गई तो वह ज्ञान बोझ रूप ही है।

परिग्रह परिमाण पांच अणुव्रतों में अन्तिम है और चार व्रतों का संरक्षण करना एवं बढ़ाना इसके आधीन है। परिग्रह को घटाने से हिंसा, असत्य, अस्तेय, कुशील, इन चारों पर रोक लगती हैं। अहिंसा आदि चार व्रत अपने आप पुष्ट होते रहते हैं।

परिग्रह परिणाम व्रत से महत्व बढ़ता नही, घटता है। जीवन में शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है। निश्चिन्तता और निराकुलता आती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने से धर्म क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है। इस व्रत के ये वैयक्ति लाभ हैं। किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है। आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टि गोचर होता है, इस व्रत के पालन न करने का ही परिणाम है। आर्थिक वैषम्य इस युग की एक बहुत बड़ी समस्या है। पहले बड़े-बड़े भीमकाय यंत्रों का प्रचलन न होने के कारण कुछ व्यक्ति आज की तरह अत्यधिक पूंजी एकत्र नहीं कर पाते थे; मगर आज यह बात नहीं रही। आज कुछ लोग यंत्रों की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते हैं तो दूसरे लोग धनाभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने से वंचित रहते हैं। उन्हें पेट भर रोटी, तन ढँकने को वस्त्र और औषध जैसी चीजें भी उपलब्ध नहीं। इस स्थिति का सामना करने के लिए अनेक वादों का जन्म हुआ है। समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय वाद आदि इसी के फल हैं। प्राचीन काल में अपरिग्रह वाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जाता था। इस वाद की विशेषता यह है कि यह धार्मिक रूप में स्वीकृत है, अतएव मनुष्य इसे बलात् नहीं, स्वेच्छा पूर्वक स्वीकार करता है। साथ ही धर्मशास्त्र महारंभीं यंत्रों के

उपयोग पर पाबन्दी लगाकर आर्थिक वैषम्य को उत्पन्न नहीं होने देने की भी व्यवस्था करता है। अतएव अगर अपरिग्रह व्रत का व्यापक रूप में प्रचार और अंगीकार हो तो न अर्थ वैषम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे, न वर्ग संघर्ष का अवसर उपस्थित हो और न उसके लिए विविध प्रकार के असफल वादों का आविष्कार करना पड़े। मगर आज की दुनिया धर्मशास्त्रों की बात सुनती कहां हैं ? यही कारण है कि संसार अशान्ति और संघर्ष की क्रीड़ाभूमि बना हुआ है और जब तक धर्म का आश्रय नहीं लिया जायगा तब तक इस विषम स्थिति का अन्त नहीं आएगा।

देशविरति धर्म के साधक को अपनी की हुई मर्यादा से अधिक परिग्रह नहीं बढ़ाना चाहिए। उसे परिग्रह की मर्यादा भी ऐसी करनी चाहिए कि जिससे उसकी तृष्णा पर अंकुश लगे, लोभ में न्यूनता हो और दूसरे लोगों को कष्ट न पहुँचे।

सर्वविरत साधक का जीवन तो और भी अधिक उच्चकोटि का होता है। वह आकर्षक शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श पर राग और अनिष्ट शब्द आदि पर द्वेष भी नहीं करेगा। इस प्रकार के आचरण से जीवन में निर्मलता बनी रहेगी। ऐसा साधनाशील व्यक्ति चाहे अकेला रहे या समूह में रहे, जंगल में रहे, या समाज में रहे, प्रत्येक स्थिति में अपना व्रत निर्मल बना सकेगा।

मुनि स्थूलभद्र वेश्या के भवन में, विलास और विकार के वातावरण में रहे। कुँए की पाल पर साधना करने वाले मुनि भी जन समुदाय के बीच में हैं। नाग की बामी और सिंह की गुफा वाले मुनियों को जन सम्पर्क से दूर रहना है। कुँए की पाल पर साधना करने वाले मुनि पर कभी पानी भरने वाली महिलाएँ पानी और कीचड़ उछाल देतीं उनसे बाल्टी या डोली टकरा देतीं। रात्रि में निद्रा से उन्हें बचना पड़ता है। कभी निद्रा का झोंका आ जाय तो कुँए में पड़ने का खतरा है। दिन के समय राग-द्वेष से अपनी आत्मा की रक्षा करनी है। इस प्रकार वे सतत अप्रमत्त अवस्था में रह कर अचल समाधि में स्थित रहे। निरन्तर जागृत रहना, पल भर के लिए भी निद्रा न लेना और राग-द्वेष पर विजय पाना कोई साधारण साधना नहीं है। प्रमाद पर विजय

प्राप्त करने की उतनी आवश्यकता शायद सिंह गुफा वाले और वेश्या के भवन वाले मुनि को न रही हो।

तीनों मुनि वर्षाकाल व्यतीत होने पर गुरु के चरणों में उपस्थित होते हैं और दीर्घ काल के पश्चात् गुरु का दर्शन करके आनन्द का अनुभव करते हैं। कुँए की पाल वाले, सिंह की गुफा वाले और नाग की बामी वाले, तीनों मुनियों को उनकी सफल साधना के लिए गुरु जी धन्यवाद देते हैं।

तीनों मुनि गुरुचरणों में प्रणत हो अपना-अपना वृत्तान्त निवेदन करने के लिए उत्सुक हैं। तीनों को अपनी साधना से सन्तोष है। हम अपनी साधना के गुरु संभूतिविजय को प्रसन्न कर सकेंगे, उनके मन में ऐसा विश्वास था। गुरुजी अपने शिष्यों की प्रतीक्षा उसी प्रकार कर रहे थे जैसे पिता विदेश से विद्याध्ययन करके आने वाले पुत्र की प्रतीक्षा करता है। गच्छ के अन्य मुनि भी उनकी तपस्या का वृत्तान्त सुनने के लिए आतुर हो रहे थे, जैसे किसी की लम्बी यात्रा का विवरण सुनने के लिए उसके स्वजन-परिजन आतुर रहते हैं।

उक्त तीनों मुनि जो पहले आ पहुँचे थे। उन्होंने अपना वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त में कहा—साधना थी तो बड़ी कठोर, परन्तु आपके अनुग्रह से वह निभ गई। यह आपकी कृपा का ही फल है। आपकी आज्ञा का सहारा लेकर ही हम सफल हो सके।

महामुनि ने उन्हें धन्य कहा और उनके दुष्कर कार्य के लिए उनकी सराहना की। गुरु से प्रशंसा प्राप्त करके तीनों मुनि गद्गद होगए और अपने जीवन को कृतार्थ समझने लगे। बीसों कोस से आया अश्व जैसे स्वामी की प्यार भरी थपकियों से सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही ये तीनों मुनि भी सन्तुष्ट हुए।

कुछ समय पश्चात् स्थूलभद्र भी गुरु के श्री चरणों में उपस्थित हुए। यथा योग्य प्रणति के पश्चात् उन्होंने भी अपना वृत्तान्त निवेदन किया।

कहा—गुरुदेव, आपके श्रीचरणों की कृपा और महिमा से मैंने रूपाकोशा को श्राविका बना दिया है। अब वह वेश्या नहीं रही। उसके जीवन का कल्मष धुल गया है, वह अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर हुई है, उसके जीवन में महान् परिवर्त्तन आ गया है।

गुरु ने यह सब सुनकर कहा—'धन्य, धन्य, धन्य !' इस प्रकार तीन बार धन्य कह कर स्थूलभद्र की साधना की महान् प्रसंशा की। फिर बोले—तुमने दुष्कर ही नहीं, अति दुष्कर कार्य किया है।

गुरु के लिए सभी शिष्य समान थे। उनके चित्त में किसी के प्रति न्यून या अधिक सद्भाव नहीं था। फिर भी साधना की गुरुता को ध्यान में रख कर उन्होंने शिष्यों को धन्यवाद दिया। संभूति विजय बड़े प्रसन्न हुए और अपने शिष्यों की साधना के लिए गौरव अनुभव करने लगे। ऐसे आदर्श साधकों के वृत्तान्त से हमें अपना लौकिक और पारलौकिक कल्याण साधन करना चाहिए।

—:o:—

भ्रमण पर अंकुश

दुनिया दुरंगी है। परस्पर विरोधी तत्त्वों की विद्यमानता इसकी विशेषता हैं। यहां धर्म है तो अधर्म भी है, नीति है तो अनीति भी है, सुजन हैं तो दुर्जन भी हैं, जीव है तो अजीव भी है, साधक तत्त्व हैं तो बाधक तत्त्व भी मौजूद हैं। कोई किसी कार्य में प्रवृत्त हो, तो उसे पहले यह समझ कर चलना चाहिए कि मेरे कार्य में अनेक बाधक उपस्थित होंगे। बाधकों के उपस्थित होने पर विचलित न होने की क्षमता और संकल्प का बल बटोर कर चलने वाला ही अपने कार्य में सफल होता है।

बाधक कारणों का कार्य बाधा पहुँचाना है किन्तु साधक यदि सजग है, उसके संकल्प में कहीं कोई कमजोरी नहीं है तो कोई भी बाधक तत्त्व उसके मार्ग को न अवरुद्ध कर सकता है और न उसे विमुख ही बना सकता है।

अध्यात्म साधना के पथ में क्या-क्या बाधाएं उपस्थित हो सकती हैं और उन पर किस प्रकार विजय प्राप्त करनी चाहिए, इस सम्बन्ध में इस क्षेत्र के अनुभवी साधकों ने पर्याप्त विचार किया है। प्रधान रूप से वे बाधक तत्त्व दो हैं—प्रमाद और कषाय।

प्रमाद और कषाय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रमाद, कषाय का मार्ग प्रशस्त करता है। वह साधक को पहले असावधान बनाता है और फिर कषाय आ धमकता है। कषाय का कार्य साधना में रुकावट डालना है, गतिरोध उत्पन्न करना है और कभी-कभी वह गाड़ी को उलट भी देता है। वह साधक को विपरीत दिशा में भी ले जाता है। इस प्रकार प्रमाद और कषाय दोनों सम्यग्दर्शन और विरतिभाव की निर्मलता में बाधक हैं। इन्हीं के प्रभाव से व्रत के विषय में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार का

सेवन करता है। जो लोग विषय और कषाय के पंजे में पड़े रहते हैं, उनको शास्त्र समझाना भी कठिन होता है।

प्रमाद आकर मनुष्य के हृदय पर जब अधिकार जमा लेता है तो श्रवण और वक्तव्य में शिथिलता आ जाती है। वास्तव में यही दोनों बाधक सर्वविरति और देशविरति की साधना को मलीन बनाते हैं। इसी कारण शास्त्र इन बाधक तत्त्वों से साधक को सावधान करता है। लोभ कषाय परिग्रह परिमाण व्रत का विशेष रूप से बाधक है। कई साधक इसके प्रभाव से अपने व्रत को दूषित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ—किसी साधक ने चार खेत रखने की मर्यादा की। तत्पश्चात् उसके चित्त में लोभ जगा। उसने बगल का खेत खरीद लिया और पहले वाले खेत में मिला लिया। अब वह सोचता है कि मैंने चार खेत रखने की जो मर्यादा की थी, वह अखण्डित है। मेरे पास पांचवां खेत नहीं है। इस प्रकार आत्म वंचना की प्रेरणा लोभ से होती है। इससे व्रत दूषित होता है और उसका असली उद्देश्य पूर्ण नहीं होता।

अणुव्रतों को निर्मल बनाये रखने के लिए अन्य सहायक व्रतों का पालन करना भी आवश्यक है। अतएव अणुव्रती साधक को उनकी ओर ध्यान देना चाहिए। शास्त्रों में उन्हें उत्तर व्रत या उत्तर गुण कहते हैं। वे भी दो भागों में विभक्त हैं—गुण व्रत और शिक्षाव्रत। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर सात होते हैं। पांच मूलव्रत (अणुव्रत) इनमें सम्मिलित कर दिए जाएं तो उनकी संख्या बारह हो जाती है। यही श्रावक के बारह व्रत हैं।

अणुव्रतों का निर्दोष पालन करने के लिए श्रावक को अपने भ्रमण पर भी अंकुश लगाना चाहिए। जितना अधिक घूमना होगा, उतना ही अधिक हिंसा, झूठ और परिग्रह का विस्तार बढ़ेगा। गमनागमन का क्षेत्र बढ़ेगा तो कुशील, मोह-ममता और अदत्तग्रहण की संभावना बढ़ेगी। वस्तुओं का किया हुआ परिमाण भी अपना रूप बढ़ा लेगा। इस कारण व्रती गृहस्थ अपने गमनागमन की भी सीमा निर्धारित कर लेता है। तथ्य यह है कि पापों के संकोच करने का दृष्टिकोण बढ़ाया जाना चाहिए। इच्छा को बेलगाम नहीं होने देना

चाहिए। यदि इच्छा बेलगाम होगई और उस पर काबू न किया गया तो सभी व्रत खतरे में पड़ जाएंगे।

आनन्द श्रावक ने अपनी स्थिति के अनुसार क्षेत्र की सीमा बांध ली और अपरिमित इच्छाओं को परिमित कर लिया। इसके लिए उसने ऊर्ध्व दिशा, अधोदिशा और तिर्छी दिशाओं में गमनागमन की सीमा-रेखा भी निश्चित कर ली। इस प्रकार दिशाओं सम्बन्धी नियम दिग्व्रत कहलाता है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

दिग्व्रत—विभिन्न दिशाओं में गमनागमन करने की मर्यादा को दिग्व्रत कहते हैं। एक केन्द्र से किसी दिशा की ओर जाने की दूरी इस व्रत के अनुसार निश्चित की जाती हैं। साधक ने अपने स्थायी निवास के लिए जो केन्द्र नियत किया है, उससे ऊपर की ओर जाना ऊर्ध्व दिशा में गमन करना कहलाता हैं। वायुयान के सहारे या विद्या अथवा ऋद्धि के बल से ऊपर जाना होता हैं। कूप,खदान, समुद्रतल आदि अधोगमन के मार्ग हैं। पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं और विदिशाओं में जाना तिर्यक् दिशा में गमन करना कहलाता है।

इस प्रकार के व्रत को ग्रहण करने का उद्देश्य अपनी इच्छा या संग्रह वृत्ति को सीमित करना है। सभी स्थानों में भूमि, धन, धान्य आदि एक-सा ही है, ऐसा सोच लेने से मनुष्य नवीन-नवीन स्थानों या देशों में भटकना बन्द कर देगा और मर्यादित क्षेत्र में रह कर अपने सादे और संयम जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करके निराकुलता पूर्वक धर्म का आचरण करके आनन्द में रहेगा। उसके जीवन में आकुलता-व्याकुलता और चिन्ता का बाहुल्य नहीं होगा।

दिग्व्रत में जिस दिशा में जाने की जो मर्यादा की है, उसमें इधर से उधर मिला कर कमी-बेशी नही करना चाहिए। ऐसा करने से व्रत का लक्ष्य सुरक्षित नहीं रहता। उदाहरणार्थ—किसी श्रावक ने सौ-सौ मील प्रत्येक दिशा में जाने का नियम लिया। उसे कामोत्तर मे लोभ के वश होकर सवा सौ मील तक जाने की इच्छा हुई। ऐसी स्थिति में किसी दूसरी दिशा में पच्चीस मील

घटा कर वांछित दिशा में बढ़ा लेना और उस दिशा की सीमा को सौ के बदले सवासौ मील कर लेना दिग्व्रत का अतिचार है।

कांक्षा (कामना) से व्रतों में कमजोरी आती है। ज्यों-ज्यों कामना की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों उसकी पूर्त्ति के साधनों का संग्रह बढ़ाया जाता है और उसके लिए दौड़-धूप भी बढ़ानी पड़ती है। स्पष्टतया इससे शान्ति भंग होती है और आकुलता बढ़ती है और अप्राप्त सामग्री को प्राप्त करने की धुन में मनुष्य प्राप्त सामग्री का आनन्द भी नहीं उठा सकता, फिर भी कामना का भूत उसके चित्त में प्रवेश करके उसे नचाता रहता है और नाना प्रकार की सुनहरी कल्पनाएं उसे बेभान बनाएं रहती हैं। यद्यपि ज्ञानी पुरुषों ने स्पष्ट कर दिया है कि वाह्य पदार्थों का संयोग दुःख का ही कारण होता है और वह संयोग जितना अधिक बढ़ेगा उतना ही अधिक दुःख बढ़ेगा, फिर भी मनुष्य इस ओर ध्यान नहीं देता और मोह के नशे में पागल बन कर सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से दुःख की सामग्री बटोरता रहता है।

शास्त्र में साधु को 'संजोगा विप्प मुक्कस्स' विशेषण लगाया गया है। यह विशेषण उसकी निराकुलता एवं शान्ति का सूचक है। संयोग से विमुक्त होना दुःखों से छुटकारा पाना है, क्योंकि एक आचार्य कहते हैं—

संयोग मूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अनादि काल से जीव दुःखों से घिरा हुआ है और अब तक भी उसके दुःखों का कहीं ओर-छोर नजर नहीं आता, इसका मूल कारण पर-संयोग है। पर-संयोग दो प्रकार का है—वाह्य और आन्तरिक, जिसे द्रव्य संयोग और भाव संयोग कह सकते हैं। धन-वैभव आदि भौतिक पदार्थों का संयोग बाह्य और क्रोध, लोभ, मोह, ममता आदि वैभाविक भावों का संयोग आन्तरिक संयोग है। इनमें से वाह्य संयोग से विमुक्ति पाना उतना कठिन नहीं है जितना आन्तरिक संयोग से।

काम, क्रोध आदि विकार जीव को अपने स्वरूप की ओर उन्मुख नहीं होने देते। ज्यों-ज्यों ये विकार घटते जाते हैं, बाहरी दौड़धूप स्वतः कम

होती जाती है। बाह्य दौड़धूप को रोकना उतना कठिन नहीं है जितना अन्तर की भावना को सीमित करना कठिन है।

भावना के क्षेत्र में अहंकार, मान, महिमा कामना को ऊर्ध्व दिशा कह सकते हैं, मोह, लोभ और तिरस्कार को अधोदिशा तथा काम को तिर्यक् दिशा कह सकते हैं। ज्ञानी चित्त के इन विकारों को सीमित करता—करता अन्ततः समूल नष्ट करने में समर्थ हो जाता है। कापुरुष (दुर्बल हृदय) के लिए अपनी भावनाओं का नियन्त्रण करना कठिन होता है। उसके चित्त में कामनाओं की जो चंचल हिलोरें उठतीं हैं, उन्हीं में वह बहता रहता है। उसको देहली भी डूंगरी जैसी लगती है। कहावत है—

'देहली होगई डूंगरी, सौ कोसां भया बजार।'

जब शुद्ध ज्ञानादिक का बल क्षीण होता है तो छोटे-मोटे विकारों पर विजय पाना भी कठिन होता है। परन्तु साधक का कर्तव्य है कि वह ऊंची दिशा में मन के भावों को क्रान्त न होने दे और लोभादि से नीचे न गिरे। स्थूलभद्र की साधना इसीलिए दुष्करतम कहलाई। काम का शस्त्र मृदुल होता है फिर भी बड़ी गहरी मार करता है।

परीषह के दो रूप होते हैं-अनुकूल परीषह और (२) प्रतिकूल परीषह। अनुकूल परीषह अर्थात् प्रलोभन। कोई साधक के सद्भूत अथवा असद्भूत गुणों की प्रशंसा करता है। साधक के लिए यह अनुकूल परीषह है। अपनी प्रशंसा सुनकर अगर वह गौरव का अनुभव नहीं करता, उसके मन में अभिमान नहीं जगता और अखंड समभाव स्थिर रहता है तो वह परीषह विजेता है और यदि मन में अहंकार उत्पन्न हो जाता है तो समझना चाहिए कि वह परीषह से पराजित हो गया हैं....अपने पद से गिर गया है।

साधु के समक्ष भोग-उपभोग की मनोज्ञ सामग्री प्रस्तुत की जाती है और उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया जाता है तो यह भी अनुकूल परीषह है। अगर साधु उस सामग्री के प्रलोभन में आकर संयम की सीमा का उल्लंघन

करता है तो वह गिर जाता है और यदि उसके मन में प्रलोभन उत्पन्न नहीं होता और समभाव बना रहता है तो वह परीषह विजेता कहलाता है।

इस प्रकार संयम से च्युत करने वाले जितने भी प्रलोभन हैं, सब अनुकूल परीषह कहलाते हैं। प्रतिकूल परीषह इससे उलटे होते हैं। भूख-प्यास की बाधा होने पर भी भोजन-पानी न मिलना, सर्दी-गर्मी का कष्ट होना, अपमान और तिरस्कार की परिस्थिति उत्पन्न हो जाना आदि जो अवांछनीय कष्ट आ पड़ता है, वह प्रतिकूल परीषह है।

अज्ञानी लोग अपनी प्रशंसा करने वाले को, अभिनन्दन-पत्र प्रदान करने वाले को और दूसरे प्रलोभन देने वाले को अपना मित्र समझते हैं और अपमान करने वाले को तथा किसी दूसरे तरीके से कष्ट और संताप पहुंचाने वाले को शत्रु समझते हैं। वह एक पर राग और दूसरे पर द्वेष करके कर्म का बन्ध करता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष दोनों पर समभाव रखता है। न किसी पर रोष, न किसी पर तोष। उसका समभाव अखंड रहता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि साधु के वास्तविक गुणों की प्रशंसा करना उसके लिए अनुकूल परीषह है तो क्या प्रशंसा करना पाप है? क्या साधु के गुणों की प्रशंसा नहीं करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाप और पुण्य का सम्बन्ध कर्त्ता की भावना पर निर्भर है। साधु के उत्तम संयम और उच्चकोटि के वैराग्य भाव को देखकर भव्य जीव के हृदय में प्रमोद भावना उत्पन्न होती है। प्रमोदभाव से प्रेरित होकर वह उन गुणों की स्तुति करता है। स्तुति सुनकर मुनि अभिमान करने लगे और अपने समभाव से गिर जाए, ऐसी कल्पना भी उसके हृदय को स्पर्श नहीं करती। वह उन गुणों की प्राप्ति की ही प्रकारान्तर से कामना करता है और अपने धर्म को पालन करता है। ऐसी स्थिति में प्रशंसा करना हेय नहीं है। हाँ, मुनि का कर्त्तव्य है कि वह अपने समभाव को स्थिर रक्खे और प्रशंसा सुनकर भी गर्व का अनुभव न करे, वरन् प्रशंसा के अवसर पर अपनी त्रुटियों का ही विचार करे। ऐसा करके मुनि अपने धर्म का पालन करता है। दोनों को अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए।

प्रतिकूल परीषह को सहन करना वीरता है तो अनुकूल परीषह को सहन करना महावीरता है। मनुष्य कष्ट झेल सकता है मगर प्रलोभन को जीतना कठिन होता है। कष्ट की अपेक्षा प्रलोभन के सामने गिर जाने की अधिक सम्भावना रहती है।

सम्भूति विजय के चार शिष्य उग्र साधना के लिए निकले थे। उनमें से तीन के सामने प्रतिकूल परीषह थे और चौथे स्थूलभद्र के सामने अनुकूल परीषह। प्रतिकूल परीषहों को जीतने वाले धन्य हुए तो अनुकूल परीषह को जीतने वाला अतिधन्य कहलाया। स्थूलभद्र के कार्य को 'दुष्करं अति दुष्करम्' कह कर सराहा गया। सारी मुनि मंडली ने भी उनकी सराहना की। तीनों मुनियों ने स्थूलभद्र की प्रशंसा सुनी।

जौहरी नगीनों का मूल्यांकन उनकी चमक-दमक आदि की दृष्टि से करता है। विभिन्न नगीनों की कीमत में अन्तर होता है। गुरु सम्भूति विजय जौहरी के समान थे और साधक मुनि नगीने के समान। यदि गुरु साधनाओं का सही मूल्यांकन न करे तो शिष्यों पर ठीक प्रभाव न पड़े। जिस गुणी में जिस-कोटि का गुण हो, उसकी उसी रूप में प्रशंसा करना दर्शनाचार का पोषण करना है।

गुरु के लिए सभी शिष्य समान थे। उनके मन में किसी के प्रति पक्षपात नहीं था। फिर भी स्थूलभद्र की उन्होंने विशेष प्रशंसा की। इसका कारण उनकी साधना की उत्कृष्टता ही समझना चाहिए। निद्रा, भूख, प्यास, आदि को जीतना उतना कठिन नहीं है जितना काम क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करना कठिन है।

अध्यापक अपने शिष्यों में स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न कर देता है जिससे अध्ययन में विशेष प्रगति हो, अध्यात्म मार्ग में भी इसी प्रकार प्रतियोगिता की सुयोजना की जाती है।

तीनों मुनियों को स्थूलभद्र की विशिष्ट प्रशंसा सुनकर विचार हुआ—हम लोगों ने प्राणों का ममत्व त्याग कर जीवन को संकट में डाल कर

साधना की, और स्थूलभद्र मुनि रूपाकोशा के विलास भवन में मजे से रहे, फिर उनकी साधना को सर्वाधिक महत्त्व क्यों प्रदान किया गया? वहाँ जाकर तो कोई भी चार महीने व्यतीत कर सकता था। कहा है—

जप तप करणी सोहिली, सोहिली रण-संग्राम।
प्रकृति पाछी मोड़नी, 'याको मुश्किल' काम।।

ऐसा सोचने वाले मुनि भी सामान्य नहीं थे। वे तपस्वी होने के साथ चतुर भी थे। अतएव उन्होंने अपने भावों को शीघ्र प्रकट नहीं किया। जिसमें चतुराई कम होती है वह शीघ्र ही अपने मनोभावों को प्रकट कर देता है, उगल देता है। बुद्धिमान् अपने विचार को औचित्य की तराजू पर तोलता है और तोल-तोल कर बोलता है।

संघ का अदब, गुरुजी का मान और बिना विचारे काम न करना या न बोलना चाहिए इस बात का भान, इन सब कारणों से वे मौन रहे। कडुए घूंट को पी गए।

अगर ज्ञान का प्रकाश पाकर कषाय का शमन कर लिया जाय तो वह रसायन है। दमन करने से भी उसकी भयंकरता कम हो जाती है। जिसका शमन कर दिया जाता है, वह शीघ्र उठ कर खड़ा नहीं होता किन्तु जिसका दमन किया जाता है वह समय की प्रतीक्षा करता है।

बन्धुओ, इस भूमि पर एक से एक बढ़ कर आत्म विजयी महापुरुष हुए हैं। वे आत्मविजय को ही परम लक्ष्य और चरम विजय मानते थे, क्योंकि आत्मविजय के पश्चात् किसी पर विजय प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। उनकी पावन प्रेरणा प्रदान करने वाली प्रशस्तियों और कथाओं से हमारा साहित्य परिपूर्ण है। ये प्रशस्तियां और कथाएं युग-युगान्तर तक मानव जाति की महान् निधि बनी रहेंगी और उसके समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करती रहेंगी। जो भव्य जीव आत्माभिमुख होंगे, वे उनसे लाभ उठाते रहेंगे और अपना कल्याण करेंगे।

विकार विजय

अज्ञानी और ज्ञानी के जीवन में बड़ा अन्तर होता है। बहुत बार दोनों की बाह्य क्रिया एक-सी दिखाई देती है, फिर भी उसके परिणाम में बहुत अधिक भिन्नता होती है। ज्ञानी का जीवन प्रकाश लेकर चलता है जब कि अज्ञानी अन्धकार में ही भटकता है। ज्ञानी का लक्ष्य स्थिर होता है, अज्ञानी के जीवन में कोई लक्ष्य प्रथम तो होता ही नहीं, अगर हुआ तो भी विचारपूर्ण नहीं होता। उसका ध्येय ऐहिक सुख प्राप्त करने तक ही सीमित होता है। फल यह होता है कि अज्ञानी जीव जो भी साधना करता है वह ऊपरी होती है, अन्तरंग को स्पर्श नहीं करती। उससे भवभ्रमण और बन्धन की वृद्धि होती है, आत्मा के बन्धन कटते नहीं।

ज्ञानी का अन्तस्तल एक दिव्य आलोक से जगमगाता रहता है। वह सांसारिक कृत्य करता है, गृहस्थी के दायित्व को भी निभाता है और व्यवहार-व्यापार भी करता है, फिर भी अन्तर में ज्ञानालोक होने से उनमें वह लिप्त नहीं होता। उसकी क्रियाएं अनासक्त भाव से सहज रूप में ही होती रहती हैं। इस तथ्य को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक अध्यात्मनिष्ठ सन्त भी भोजन करता है और एक रसलोलुप भी। बाहर से दोनों की क्रिया में अन्तर दिखाई नहीं देता। मगर दोनों की आन्तरिक वृत्ति में कितना अन्तर होता है? एक में लोलुपता है, जिह्वासुख भोगने की वृत्ति है और इस कारण, भोजन करते हुए वह चिकने कर्मों का बन्धन करता हैं तो दूसरे में पूर्ण अनासक भाव है वह इन्द्रिय तृप्ति के लिए नहीं वरन् जीवन के उच्च ध्येय को प्राप्त करने में सहायक शरीर को टिकाये रखने की इच्छा से भोजन करता है। अतएव भोजन करते हुए भी वह कर्मबंध नहीं करता यही पार्थक्य अन्यान्य

क्रियाओं के विषय में भी समझ लेना चाहिए। ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर दिखलाते हुए कहा गया है—

जं अण्णाणी कम्मं, खवेइ बहुवास कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसास मेत्तेणं॥

अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मों में जितने कर्म खपाता है, ज्ञानीजन तीन गुप्तियोंसे गुप्त होकर एक उच्छ्वास जितने अल्प समय में ही उतने कर्मों का क्षय कर डालता है! कहां करोड़ों जन्म और कहां एक उच्छ्वास जितना समय! इस अन्तर का कारण अन्तरंग में विद्यमान ज्ञान का आलोक ही है।

ज्ञानी पुरुष के संचार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। वह जहां चाहे विचरण कर सकता है और जितनी भी दूर जाना चाहे, जा सकता है। गंगा का पानी फैलकर सुखद वातावरण का निर्माण करता है। क्षारयुक्त, विषाक्त और गटर के गंदे जल पर नियंत्रण की आवश्यकता है। अज्ञानी के साथ विषय, कषाय और बंध का विष फैलता है, जिससे उसकी आत्मा तो मलीन होती ही है, पर समाज का वातावरण भी कलुषित बनता है। फोड़े के बढ़ने से हानि की आशंका की जाती है, स्वस्थ अंग के बढ़ने में कोई खतरा नहीं, वह स्वस्थता का चिन्ह माना जाता है।

गृहस्थ के जीवन में हिंसा और परिग्रहण का विष घुला रहता है। उसके विस्तार से विष वृद्धि की संभावना रहती है, अतएव उस पर नियंत्रण की आवश्यकता है। यही कारण है कि उसके गमनागमन पर प्रतिबंध लगाया गया है और उसे सीमित करने का विधान किया गया है। साधु के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उसका क्षेत्र सीमित नहीं किया गया, बल्कि उसे एक स्थान पर न रहकर भ्रमण करते रहने का विधान किया गया है। उसे एक जगह नहीं टिकना है, क्योंकि वह 'अनगार' है और उसे भ्रमण ही करते रहना है, क्योंकि उसे भ्रमर (भ्रमणशील) की उपमा दी गई है। कहा है—

बहता पानी निर्मला, पड़ा गंदीला होय।
साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय॥

साधु एक स्थान पर स्थिर हो जाएगा तो दूर-दूर तक उसके ज्ञान-प्रकाश की किरणें नहीं फैल सकेंगी। वह चलता-फिरता रहेगा तो जनसमाज को प्रकाश देगा, सत्प्रेरणा देगा। इस सामूहिक लाभ के साथ उसका निज का लाभ भी इसी में है कि वह स्थिर होकर एक जगह न रहे। एक जगह रहने से परिचय और सम्पर्क गाढ़ा होता है और उससे राग-द्वेष की वृत्तियां फलती-फूलती हैं। विचरणशील साधु इस अनिष्ट से सहज ही बच सकता है। साधु जहां भी जाएगा, प्रकाश की किरणें फैलाएगा। ज्ञान, दर्शन चारित्र का प्रचार भ्रमण बंद होने से नहीं हो सकेगा और जन-जन को उनके जीवन और प्रवचन से जो प्रकाश मिलता हैं, वह नहीं मिल सकेगा। हाँ, साधु के लिए गमनागमन का निषेध वहीं है जहां जाने से उसके ज्ञान एवं चारित्र में बाधा उपस्थित होती हो।

आनन्द ने अपने गमनागमन की मर्यादा की थी। सम्यग्-दृष्टि विद्यामान होने से उसमें ज्ञान का प्रकाश था, पर चारित्र का पूर्ण प्रकाश नहीं था वह क्षेत्रीय सीमा निर्धारित करके अपनी कामनाओं को मर्यादित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने ऊर्ध्व दिशा, अधो दिशा और तिर्छी दिशा में गमनागमन करने का प्रमाण बांध लिया।

जिस साधक ने दिशा परिमाण व्रत अंगीकार किया है, उसे चलते-चलते रास्ते में सन्देह उत्पन्न हो जाय कि कहीं वह निर्धारित परिमाण का उल्लंघन तो नहीं कर रहा है? फिर भी वह आगे चलता जाय तो उसका चलना व्रत का अतिचार है! ऐसा करने से व्रत में मलीनता उत्पन्न होती है। अगर साधक जान-बूझ कर किसी कारण से परिमाण का उल्लंघन करता है तो अनाचार का सेवन करता है।

संदिग्ध अवस्था में व्रत का जो उल्लंघन हो जाता है, वह अतिचार की कोटि में आता है, जैसे रात्रि भोजन त्यागी अगर सूर्योदय से पहले या सूर्यास्त के पश्चात् शंका की स्थिति में कार्य करे तो वह अतिचार है।

स्वेच्छापूर्वक व्रतों को ग्रहण करने वाला साधक अतिचार से भी

बचने की सावधानी रखता है और ऐसा प्रयत्न करता है कि उसका व्रत सर्वथा निर्दोष रहे, फिर भी भूल-चूक हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में अगर व्रत दूषित हो जाता है मगर दूषित करने की इच्छा नहीं होती तो उसे व्रत का आंशिक विराधन ही समझा जाता है।

वस्तुतः साधक का दृष्टिकोण पापों पर विजय प्राप्त करना है, जिन्होंने प्रत्येक संसारी जीव को अनादिकाल से अपने चंगुल में फंसा रक्खा है।

'जे तू जीत्योरे ते हूं जीतियो,
पुरुष किसूं मुझ नाम,

प्रभु के चरणों में आत्मनिवेदन का ढंग निराला होता है। अध्यात्म-भावना के रंग में रंगा हुआ साधक अपनी आन्तरिक निर्बलता का अनुभव करता है और उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त पद्य में भक्त ने निवेदन किया है—प्रभो! जिन काम क्रोध आदि विकारों को आपने पराजित कर दिया, उन विकारों ने मुझे पराजित कर रक्खा हैं! कैसे मैं मर्द होने का दावा करूँ! हारे हुए से हारना मर्दानगी नहीं, नपुंसकता है। यह भक्त के निवेदन की एक विशिष्ट शैली हैं। इसमें प्रथम तो वह अपने विकारों पर विजय प्राप्त करने की उत्सुकता प्रकट करता है, दूसरे अपने असामर्थ्य के प्रति असन्तोष भी व्यक्त करता हैं।

विकारों पर विजय प्राप्त करने की साधना दो प्रकार की हैं—द्रव्य साधना और भावसाधना। दोनों साधनाएँ एक दूसरी से निरपेक्ष होकर नहीं चल सकतीं, परस्पर सापेक्ष ही होती हैं। जब अन्तरंग में भावसाधना होती है तो बाह्य चेष्टाओं, क्रियाओं के रूप में वह व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकती। अन्तरतर के भाव बाह्य व्यवहार में छलक ही पड़ते हैं। बल्कि य तो यह है कि मनुष्य की बाह्य क्रियाएं उसकी आन्तरिक भावना का प्रायः दृश्यमान रूप हैं। हृदय में अहिंसा एवं करुणा की वृत्ति बलवती होगी तो जीवन रक्षा रूप बाह्य प्रवृत्ति स्वतः होगी। ऐसा मनुष्य किसी प्राणी को कष्ट नहीं देगा और किसी को कष्ट में देखेगा तो उसे कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार

वाह्य क्रियाकाण्ड तभी सजीव होता है जब उसके साथ आन्तरिक भावना का सम्मिश्रण हो। अगर वह न हुई तो क्रियाकाण्ड मात्र दिखावा होकर रह जाता है। वह स्वीपर वंचना का साधन भी वन सकता है। अतएव साधना के जो दो भेद कहे गए हैं, वे केवल उसके दो रूप हैं, स्वतंत्र दो पक्ष नहीं हैं।

अपरिचित पथ पर चलने वाला पथिक पहले चले पथिकों के पद-चिन्ह देखकर आगे बढ़ता है जिससे वह भटक न जाय। साधना मार्ग के बटोही को भी ऐसा ही करना चाहिए। पूर्वकालीन साधना के मार्ग पर चले हुए महापुरुषों के अनुभवों का लाभ हमें उठाना चाहिए, वीतरागों का स्मरण हमें प्रेरणा देता है, स्फूर्त्ति देता है, आत्मविश्वास जगाता है और सही मार्ग से इधर-उधर भटकने से बचाता है। आदर्श महापुरुषों की शिक्षाओं से हमारे जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान होता है, उलझनें सुलझ जाती हैं। आचार मार्ग में भी महापुरुषों के वचनों से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। भूधर जी महाराज ऐसे ही महापुरुषों में से एक थे।

भूधर जी महाराज विजयादशमी को ही इस धरती पर अवतरित हुए और विजयादशमी के दिन ही स्वर्गवासी हुए। यह एक विस्मय कारक घटना है, परन्तु महापुरुषों के जीवन के वास्तविक रहस्य को समझना बहुत कठिन है।

मारवाड़ के प्रसिद्ध नगर सोजत में धन्ना जी महाराज का उपदेश सुनकर उनके चित्त में विराग उत्पन्न हुआ और वे उन्हीं के पास दीक्षित हो गए। दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने संयम और तप का मार्ग ग्रहण किया। अपने अन्दर साधना की ज्योति जगाई और वह ज्योति उन्हीं तक सीमित नहीं रही। अन्दर जब प्रकाश उत्पन्न होता है तो उसकी कतिपय किरणें बाहर प्रस्फुटित हुए बिना नहीं रहतीं। बाहर निकल कर वे किरणें कितने ही लोगों का पथ प्रशस्त करती हैं। भूधरजी महाराज के अन्तरतर में आलोक का जो पुंज उद्भूत हुआ, उससे सहस्रों नर-नारियों को मार्गदर्शन मिला। उनकी वाणी-गंगा में अवगाहन करके न जाने कितने लोगों ने अपने मन का मैल धोया।

त्याग और तप की साधना से प्रमाद घटता है और प्रमाद के घटने से ज्ञान बढ़ता है। चारित्र की शोभा ज्ञान के बिना नहीं होती। ज्ञान और चारित्र का संगम ही सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग है। भूधरजी महाराज इन दोनों ही क्षेत्रों में अग्रसर थे।

एक बार भूधर जी महाराज का इन्दौर की ओर विहार हुआ। उस काल में किसी दुकान पर खुले रूप में प्रवचन करने का प्रचलन था। जिस गांव के प्रांगण में वे प्रवचन कर रहे थे, वहां होकर कुछ सैनिकों के साथ एक सेनाधिकारी निकला। मुनि के प्रवचन को सुनने की उत्कंठा से वह ठिठका। कुछ वाक्य कानों में पड़े तो रुक गया और आगे सुनने को उत्सुक हुआ। उनके ज्ञानपूर्ण भाषण से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसके चेहरे पर जिज्ञासा की रेखाएं देख कर मुनिराज ने कहा—क्या कुछ पूछने की इच्छा है?

वह अधिकारी जोधपुर के श्रीभण्डारी थे। मुनिराज के प्रश्न को सुनते ही उन्हें एक नवीन कल्पना आई। बात यह थी कि वे दिल्ली बादशाह के यहां काम करते थे, उसकी शाहजादी गर्भवती हो गई थी। भंडारी जी ने कहा था—कोई दैवी कारण होगा लड़की ऐसी गलती नहीं कर सकती? उनका यह विचार कहां तक सत्य है या नहीं, इस विषय में मुनिराज के मुख से वे जानना चाहते थे। अतः उन्होंने मुनिराज से पूछा-'क्या पुरुष के साथ संभोग किये बिना भी कोई स्त्री गर्भवती हो सकती है?

भूधर जी स्वामी ने उत्तर दिया-हाँ, ऐसा हो सकता है। गर्भाधान का एक कारण पुरुष संयोग ही नहीं है। भगवान् महावीर ने उसके पांच कारण अन्य भी बतलाए हैं। गर्भ पुरुष के संयोग से है अथवा अन्य कारण से, इसकी परीक्षा भी की जा सकती है।

विज्ञान ने आज अन्वेषण की कुछ बातें जगत् के समक्ष रक्खी हैं किन्तु महर्षियों ने पहले ही उनका चिन्तन कर लिया था।

स्नान करते समय जल में मिले हुए वीर्य के पुद्गल स्त्री के गर्भाशय में प्रवेश कर सकते हैं। पुरुषों के बैठने के स्थान में रहे हुए वीर्य-पुद्गल, यदि

स्त्री उसी स्थान में बैठ जाय तो कदाचित् उसके गर्भाशय में जा सकते हैं। इत्यादि परिस्थितियों में पुरुष के संसर्ग के बिना भी गर्भ रह सकता है। पुरुष के संसर्ग से जो गर्भाधान होता है उसमें गर्भ के शरीर में अस्थियों का निर्माण होता है, मगर अन्य कारणों से होने वाले गर्भ में मांसपिण्ड ही बनता है। उसमें अस्थि नहीं होती।"

भंडारी जी इस बात से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने बादशाह के सामने यह बात रख कर शाहजादी के प्राण बचालिये। बादशाह को जब पूज्य भूधरजी महाराज का परिचय प्राप्त हुआ तो बड़ा आश्चर्य हुआ उन्होंने पूज्य श्री के दर्शन कर अहिंसा धर्म का ज्ञान प्राप्त किया।

एक बार पूज्य भूधर जी महाराज कालू नामक ग्राम में पधारे। यह ग्राम जोधपुर रियासत के अन्तर्गत है। आषाढ़ का महीना था गर्मी तेज गिर रही थी। मेघ घिर-घिर कर आते और बिखर जाते थे। किसानों में बड़ी व्यग्रता थी। बार-बार आशा बंधती और वह निराशा में परिणत हो जाती थी। प्रकृति कृषकों के साथ निष्ठुर क्रीड़ा कर रही थी।

ऐसे समय में भूधर जी महाराज वहां पहुँचे थे। नदी वहां की सूखी पड़ी थी। तेज धूप पड़ने से नदी की रेत तप जाती थी। भूधर जी महाराज उस रेत में लेट कर आतापना लेते थे। आंखों की सुरक्षा के लिए वे उन पर पट्टी बांध लिया करते थे।

एक दिन एक किसान उस ओर निकला यद्यपि मुनि ने उसको कोई हानि नहीं पहुँचाई थी, फिर भी कषाय के वशीभूत होकर उसने उनके मस्तक पर लट्ठ का प्रहार कर दिया।

भारत में और विशेषतः देहातों में अब भी अनेक प्रकार के अंध-विश्वास प्रचलित हैं। उस जमाने में तो और अधिक प्रचलित थे। संभवतः उस किसान ने सोचा कि यह साधु नदी की रेत में लेट कर वर्षा नहीं होने देता।

इसी के कारण बादल आ-आ कर चले जाते हैं। इस विचार से उसको क्रोध आना स्वाभाविक था।

मस्तक पर प्रहार होते ही रुधिर की धारा प्रवाहित होने लगी। बाबा जी ने गीले वस्त्र की पट्टी बांधली। जब वे गांव में आए तो शोर गुल मच गया। प्रहार करने वाला पकड़ा गया और कडाह के नीचे दबा दिया गया। यह समाचार भूधर जी महाराज तक पहुँचा।

मुनि क्षण भर के लिए सोच-विचार में पड़ गए। वे सोचने लगे— मेरे कारण एक अज्ञान किसान के प्राण चले जाएंगे तो मैं इसे कैसे सहन कर सकूंगा! इस घटना से तो जैन शासन की भी बदनामी होगी!

उसी समय उन्होंने अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर लिया। मुनिजी ने घोषणा कर दी—"जब तक उस किसान को नहीं छोड़ दिया जाएगा, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा।

मुनिराज की भीष्म प्रतिज्ञा सुन कर ग्राम के लोग सन्न रह गए। सर्वत्र उनकी दयालुता की भूरि-भूरि सराहना होने लगी। उसी समय वह किसान छोड़ दिया गया। किसान के मन में भारी उथल पुथल हुई। वह सोचने लगा मैं जिसकी जान लेने पर उतारू हुआ, उसी ने मेरी जान बचाई! ऐसा महात्मा धन्य है। मैं कितना अधम हूँ कि एक निरपराध साधु को व्यथा पहुँचाने से न हिचका!

श्री राम और महावीर स्वामी की कथाओं में भी करुणा का सजवी आदर्श उपलब्ध होता है, मगर उन्हें हुए बहुत काल हो चुका है। मगर भूधर जी महाराज को हुए तो लम्बा समय नहीं हुआ। वे आधुनिक काल के ही महापुरुषों में गिने जा सकते हैं। उनका ज्वलन्त जीवन हमारे समक्ष एक महान् आदर्श है।

राम ने रावण की दानवी लीला समाप्त की। हमारी दृष्टि में आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही राम का प्रतीक है। उहोंने काम रूपी दशानन पर विजय प्राप्त की। रावण अपने समय का महान् शक्तिशाली राजा था। उसका जीवन

वैसा पतित नहीं था जैसा साधारण लोग समझते हैं। वह बड़ा नीतिज्ञ और भक्त था। बाल्मीकि ने भी उसे महात्मा माना है। उसके जीवन में मर्यादा थी, इसी कारण सीता का शील सुरक्षित रह सका। फिर भी उसके प्रति आज भी घृणा प्रकट की जाती है। किन्तु आज समाज में रावण से बढ़ कर न जाने कितने महारावण मौजूद हैं। वे अपने हृदय को टटोल कर आज अपनी शुद्धि का संकल्प कर लें तो उनके लिए विजयादशमी वरदान सिद्ध होगी। जैसे राम, महावीरस्वामी तथा भूधर जी जैसे महापुरुषों ने अन्तः करण के विकारों पर विजय प्राप्त की, वैसे ही हमें भी अपने विकारों को जीतना है। यही विजया दशमी का दिव्य संदेश है। जो विकार पर विजयी बनेगें, वे अपना इहलोक और परलोक सुधार सकेंगे। उन्हीं का कल्याण होगा।

———

भोगोपभोग-मर्यादा

भगवान् महावीर धर्म तीर्थंकर थे। उन्होंने ऐसे धर्मतीर्थ की प्ररूपणा की है जो प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक युग के लिए समान रूप से हितकारी है। अढ़ाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जब महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म के सिद्धांतों के मर्म पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता हैं, मानो इसी युग को लक्ष्य करके उन्होंने इन सिद्धान्तों का उपदेश किया है। उनके सिद्धान्त बहुत गंभीर और व्यापक हैं तथापि भगवान ने श्रुतधर्म और चारित्र धर्म की सीमा में सभी का समावेश कर दिया है।

श्रुत धर्म का सम्बन्ध विचार के साथ और चरित्र धर्म का सम्बन्ध आचार के साथ है। आचार का उद्गम विचार है। विचार को बीज मान लिया जाय तो आचार उससे फूटने वाला अंकुर, पौधा, वृक्ष आदि सभी कुछ है। पहले विचार का निर्माण होता है फिर आचार उत्पन्न होता है। हो सकता है कि कभी विचार आचार के रूप में परिणत न हो। बहुत बार ऐसा होता भी है। मगर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विचार आचार का कारण नहीं है। ऐसे अवसर पर यही मानना होगा कि विचार में शिथिलता है, दृढ़ता नहीं आई है। उसे समुचित पोषण-सामग्री नहीं मिली है।

विचार और आचार जीवन के दो पक्ष हैं। दोनों पक्ष यदि सशक्त होते हैं तो जीवन गतिशील बनता है और ऊँची उड़ान भरी जा सकती है। दोनों में से एक के अभाव में जीवन प्रगतिशील नहीं बन सकता।

श्रुतधर्म में ज्ञान-दर्शन का समावेश है और चारित्रधर्म में आचार के व्रत, नियम, उपनियम आदि सभी अंगों का समावेश हो जाता है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि श्रुतधर्म मूल है तो व्रत-नियम आदि उसके फल हैं। श्रुतधर्म रूपी मूल अच्छा हो तो पत्र-पुष्प-फल आदि भी

मजबूत होंगे। मूल के कमजोर होने से फल भी कमजोर होते हैं। फलों में सड़ांद या विकृति का कारण वास्तव में मूल का परिपुष्ट न होना है। मूल पुष्ट होता है तो वह सड़ांद या विकृति का निराकरण कर देगा।

इसी प्रकार विचार-बल यदि पुष्ट हो तो साधक अहिंसा सत्य आदि व्रतों का ठीक तरह से निर्वाह कर सकेगा। मूल ढीला हुआ तो सामायिक में भी प्रमाद सातएगा या निद्रा आएगी। भगवान् महावीर स्वामी ने इन्हीं तथ्यों को सामने रखकर आनन्द आदि को उपदेश दिया है।

दिग्व्रत के अतिचारों के पहले चर्चा की गई है। वे पांच हैं। (१) ऊर्ध्वदिशा के परिमाण का अतिक्रमण (२) अधोदिशा संबंधी परिमाण का अतिक्रमण (३) तिर्छी दिश। सम्बन्धी परिमाण का अतिक्रमण (४) एक दिशा के परिमाण को घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण को बढ़ा लेना और (५) किये हुए परिमाण का स्मरण न रखना। यह भी कहा जा चुका है कि परिमाण का उल्लंघन उसी स्थिति में अतिचार माना गया है जब संदेह की स्थिति में किया गया हो। अगर जान-बूझ कर उल्लंघन किया जाय तो वह अनाचार हो जाता है।

भोगोपभोग परिमाण—भोजन, पानी गंध, माला आदि जो वस्तु एक ही बार काम में आती है, वह उपभोग कहलाती है और जो वस्त्र, अलंकार शय्या, आसन आदि वस्तुएँ बारबार काम में लायी जाती हैं उन्हें परिभोग कहते हैं। श्रावक को ऐसी सब चीजों की मर्यादा कर लेनी चाहिए जिससे शान्ति और सन्तोष का लाभ हो, निरर्थक चिन्ता न करनी पड़े, तृष्णा पर अंकुश लग सके और जीवन हल्का हो। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को जितना कम कर लेगा, उतनी ही अधिक शान्ति उसे प्राप्त हो सकेगी। अगर अपनी भोगोपभोग संबंधी इच्छा को नियंत्रित नहीं किया गया तो जिन्दगी उसके पीछे बर्बाद हो जाती है। भोगोपभोग के लिए ही मनुष्य हिंसा करता है, असत्य-भाषण करता है, अदत्त ग्रहण करता है, कुशील सेवन करता है, और संग्रह परायण बनता है। यदि भोगोपभोग की लालसा कम हो गई तो हिंसा

आदि पापों से स्वतः ही बचाव हो जाता है। कई ब्राह्मण पुजारियों ने मंदिरों में दी जाने वाली बलि को बंद करा दिया है। उन्होंने यह कह कर हिंसा रुकवा दी कि अभी मेरे रहते मिष्ठान्न का भोग लगने दो। मेरे न रहने के बाद जो चाहो करना। ऐसी बात वही कह सकता है जिसमें मांसभक्षण की लालसा न हो। वास्तव में भोग की लालसा न हो तो हिंसा जैसे अनेक बड़े-बड़े पापों से पिण्ड छूट जाए।

इस प्रकार भोगोपभोग के साथ पापों का अनिवार्य संबंध है। भोगोपभोग की लालसा जितनी तीव्र होगी, पाप भी उतने ही तीव्र होंगे। अतएव जो साधक पापों से बचना चाहता है उसे भोगोपभोग के साधनों में कमी करनी चाहिए। कमी करने का अच्छा उपाय यही है कि उनका परिमाण निश्चित कर लिया जाय और धीरे-धीरे यथायोग्य उसमें भी कमी की जाय। ऐसा करने वाला स्वयं ही अनुभव करने लगेगा कि उसके जीवन में शान्ति बढ़ती जा रही है, एक प्रकार की लघुता और निराकुलता आ रही है।

भोगोपभोग के दो प्रकार बतलाए गए हैं, यथा—

(१) भोजन संबंधी, जैसे खाना पहनना आदि।

(२) कर्म संबंधी।

किसी भुक्तभोगी ने ठीक ही कहा है—

पेट राम ने बुरा बनाया, खाने को माँगे रोटी।

पड़े पाव भर चून पेट में, तब फुर के बोटी बोटी॥

भोगोपभोग की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसे क्रूरतापूर्ण कार्य कर डालता है कि जिनमें पशु-पक्षियों की हत्या होती है। भोगोपभोग की लालसा की बदौलत ही मनुष्य रक्त की धाराएँ प्रवाहित करता है। उसे पाप करते समय तो कुछ जोर नहीं पड़ता, हँसते-हँसते भयानक पाप कर डालता है, मगर उनका फल भोगते समय भीषण स्थिति होती है। हम अनेक मानवों और मानवेतर प्राणियों को घोर व्यथा, अतिशय दारुण वेदन भागते और छट-

पटाते देखते हैं, यह सब उनके पाप कर्म का ही प्रतिफल है। अगर इस तथ्य को मानव भलीभाँति समझ ले तो भोगोपभोगों के पीछे न पड़ कर बहुत-से पापों से बच सकेगा।

हिंसा को सहन करने वाला और उसमें सहयोग देने वाला भी हिंसा के फल का भागी होता है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बलि प्रथा को सहकार देना महान् पातक है। जिन कार्यों से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता हो और जिन स्थानों में हिंसा होती हो और जो कर्मबन्ध के कारण हों उनके साथ असहयोग करना चाहिए। ऐसा करने से दो लाभ होंगे—अज्ञानवश ऐसे दुष्कर्म करने वालों का हृदय-परिवर्त्तन होगा और स्वयं को पाप से बचाया जा सकेगा। अज्ञानी जनों को सही राह न बतलाना भी अपने कर्त्तव्य से मुंह मोड़ना है। पुण्य योग से जिसे विचार और विवेक प्राप्त हुआ है जिसने धर्म के समीचीन स्वरूप को समझा है और जिसे धर्म के प्रसार करने की लगन है, उसका यह परम कर्त्तव्य है कि वह अज्ञानी जनों को सन्मार्ग दिखलाए। इस दिशा में अपने कर्त्तव्य का अवश्य पालन करना चाहिए। यह धर्म की बड़ी से बड़ी प्रभावना है।

भोगोपभोग की सामग्री परिग्रह है और उसकी वृद्धि परिग्रह की ही वृद्धि है। परिग्रह की वृद्धि से हिंसा की वृद्धि होती है और हिंसा की वृद्धि से पाप की वृद्धि होती है। साधारण स्थिति का आदमी भी दूसरों की देखा देखी उत्तम वस्तुएँ रखना चाहता है। उसे सुन्दर और मूल्यवान फर्नीचर चाहिए, चांदी के वर्त्तन चाहिए, पानदान चाहिए, मोटर चाहिए। और पड़ौसी के यहाँ जो कुछ अच्छा है सब चाहिए। जब सामान्य न्याय संगत प्रयास से वे नहीं प्राप्त होते तो उनके लिए अनीति और अधर्म का का आश्रय लिया जाता है। अतएव मनुष्य के लिए यही उचित है कि वह अल्प-सन्तोषी हो अर्थात् सहज भाव से जो साधन उपलब्ध हो जायँ, उनसे ही अपना निर्वाह कर ले और शान्ति के साथ जीवन यापन करे। ऐसा करने से वह अनेक पापों से बच जायगा और उसका भविष्य उज्ज्वल बनेगा।

(पूर्णरूप से त्यागमय जीवन यापन करने वाले भोगोपभोग की सामग्री से विमुख ही रहते हैं।) भोगोपभोग की वस्तुएँ दो कोटि की होती हैं—

(१) निर्जीव भोग्य और उपभोग्य पदार्थ, और

(२) सजीव जैसे हाथी, घोड़ा, फूलमाला; आदि।

यद्यपि पूर्ण त्यागी को भी जीवन निर्वाह के लिए भोगोपभोग की वस्तुओं का ग्रहण और उपयोग करना पड़ता है, तथापि वह उनके उपयोग में आनन्द या शौक नहीं समझता। वह उन्हें जीवन यापन का अनिवार्य साधन समझ कर ही काम में लाता है। आसन, वसन, अशन आदि उसके लिए उपभोग्य नही वरन् जीवन निर्वाह के साधन मात्र होते हैं।

भावना में यदि अनासक्ति है तो कोई भी जीवन निर्वाह का साधन भोग या परिग्रह नहीं बनता। आसक्ति होने पर सभी पदार्थ परिग्रह हो जाते हैं। स्थूलभद्र ने वेश्यालय में चार मास व्यतीत किए किन्तु परिपूर्ण अनासक्ति के कारण वे बेदाग रहे। संभूतिविजय ने तीन मुनियों को धन्यवाद दिया, और स्थूलभद्र ने काम-विजय कर जो सिद्धि पाई, उसके लिए उन्होंने 'दुष्करम् अति दुष्करम्' कह कर अपना प्रमोद प्रकट किया। कामना-विजय को महत्व देना गुरु महाराज का लक्ष्य था और उसे महत्व देना उचित तो था ही किन्तु अन्य मुनियों को लगा कि गुरुजी ने पक्षपात किया है। वे सोचने लगे कि वे वेश्या के घर में रह कर चार मास व्यतीत कर लेना कौन बड़ी बात है! इसमें 'अति दुष्कर' क्या है!

'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' इस कहावत का अर्थ यह है कि मनुष्य का चेहरा ही उसके मन की बात प्रकट कर देता है। भाव-भंगी को देख कर दूसरे के हृदय की थाह ली जा सकती है। अपने अन्य शिष्यों के चेहरे को देख कर विचक्षण गुरु भाँप गए कि इन्हें मेरे निर्णय से सन्तोष नहीं है। मगर उन्होंने सोचा—अभी इस सम्बन्ध में ऊहापोह करने का अवसर नहीं है। उपयुक्त अवसर आने पर इन्हें समझाना होगा।

तीनों मुनि सोचने लगे—अगला चातुर्मास्य हम लोग वेश्या के घर करेंगे और वहीं ध्यान लगा कर गुरु महाराज से प्रशंसा प्राप्त करेंगे।

शेर की गुफा, सर्प की बामी और कुँए की पाल पर रहने वाले मुनि काम-विजय की दुष्करता को नहीं समझते थे। उन्हें खयाल नहीं आया कि काम-विजय संसार में सब से बड़ी विजय है और जो काम को जीत लेता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह को अनायास ही जीत लेता है। काम को जीतने के लिए अपनी मनोवृत्ति को पूरी तरह वशीभूत करना पड़ता है और निरन्तर मन की चौकसी रखनी पड़ती है। तनिक देर के प्रमाद से भी काम विजय के लिए की जाने वाली चिर-साधना नष्ट हो जाती है। ब्रह्मा, विष्णु, और महेश जैसे तथा रावण जैसे बली राजाओं को भी जो जीत सकता है, उस काम को जीतना क्या साधारण बात है ? उसके लिए बड़ी तपस्या चाहिए। मन को मेरू के समान अचल बनाना होता है और अन्तःस्तल के किसी भी कोने में मोह या राग न रह जाए, इस बात की सावधानी बरतनी पड़ती है। आग पत्थर के फर्श पर गिर कर बुझ जाती हैं और घास की गंजी में गिर कर सहस्रों ज्वालाओं के रूप में प्रज्वलित हो उठती है। काम विजेता को अपना हृदय पत्थर के समान मजबूत बनाना पड़ता है।

स्थूलभद्र ने अपने हृदय को पूरी तरह साध लिया था। काम की गहरी घुसी हुई वृत्ति का उन्मूलन कर दिया था। अतः उनकी विजय महान् थी। इस विजय के महत्व को आवेग के कारण अन्य तीन मुनि नहीं समझ सके।

शीतकाल चल रहा था। तीनों मुनियों में इन दिनों कुछ विशेष घनिष्टता कायम हो गई थी। वे एक दूसरे के प्रति अधिक सहानुभूति रखने लगे थे। शेर की गुफा वाले मुनि का सम्मान अन्य दो से कुछ अधिक था। निःशस्त्र रह कर शेर के सामने जाना और उससे मैत्री रखना भी कोई आसान काम नहीं था। उसने अपने सौम्य भाव एवं दृष्टि से सिंह की हिंसक शक्ति को उसके क्रूरतर स्वभाव को भी वश में कर लिया था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही था कि उस मुनि का सम्मान तीनों में अधिक होता।

तीनों मुनि शीतकालीन तपःसाधना में निरत हो गए। साधु शब्द का अर्थ ही है—साधनाशील। मगर सामान्य संसारी जीवों की अपेक्षा उसकी साधना निराली होती है। सामान्य लोग भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए साधना करते हैं जब कि साधु उनके त्याग की और अभिलाषा न करने की साधना करता है। शुद्ध आत्मोपलब्धि ही उसकी साधना का उद्देश्य होता है।

गृहस्थ और साधु के जीवन की साधनाएँ दो प्रकार की होती हैं—सामान्य साधना और विशिष्ट साधना। षट् आवश्यक करना, स्वाध्याय करना ध्यान करना व्रतों का पालन करना आदि दैनिक साधना सामान्य साधना कहलाती है। विशेष साधना वह है जो विशिष्ट पर्व आदि के अवसरों पर की जाती है। चातुर्मास के समय की जाने वाली अतिरिक्त साधना भी विशिष्ट साधना के अन्तर्गत है।

सामान्य साधना के समय तीनों मुनियों के मन में ईर्ष्याभाव था। ईर्ष्या के बदले अगर स्पर्द्धा का भाव होता और वे काम-विजय के लिए चित्त वशीभूत करने का विशिष्ट अभ्यास करते तो उनके हित में अच्छा होता। स्वस्थ स्पर्द्धा दूसरे के उत्थान एवं विकास में बाधक नहीं बनती। उसमें दूसरों का भी विकास वांछित होता है और उसकी अपेक्षा अपना अधिक विकास अभीष्ट होता है। अतएव यह एक अच्छा गुण कहा जा सकता है। दान, सेवा ईश्वर-भक्ति, स्वाध्याय, सत्संग आदि में प्रतिस्पर्धा का भाव हो तो अवांछनीय नहीं वरन् अभिनन्दनीय गिना जा सकता है, मगर ईर्ष्या होना अनुचित है। ईर्ष्या में दूसरे के प्रति जलन होती है, द्वेष होता है। इससे आत्मा मलीन बनती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे को गिराने का षड्यन्त्र रचता रहता है और ऐसी दूषित भावना से वह स्वयं गिर जाता है, दूसरा कदाचित् गिरे कदाचित न भी गिरे।

एक बार तीनों मुनियों ने परस्पर विचार विमर्श किया और वे मिलकर गुरुजी के निकट पहुँचे। यथोचित वन्दन एवं नमस्कार करके उन्होंने

सिंह गुफावासी मुनि के लिए रूपाकोशा के घर जाकर साधना करने की अनुमति माँगी।

गुरुजी बड़े असमंजस में पड़ गए। वे इन मुनियों के मनोभाव को भलीभाँति जानते थे। उन्हें पता था कि साधना की इस माँग के पीछे सहज भाव नहीं हैं, अहंकार को तुष्ट करने की ही प्रधान भावना है। स्थूलभद्र के प्रति ईर्ष्याभाव ने इन्हें इसके लिए उद्यत किया है। स्थूलभद्र जिस वासना पर विजय प्राप्त करके यशस्वी बने, उसे जीतना प्रत्येक के लिए सरल नहीं है। ऐसी पात्रत्ता प्राप्त करने के लिए विशिष्ट भूमिका होनी चाहिए। इन तीनों में अभी तक उस भूमिका का निर्माण नहीं हो सका है। सिंह गुफावासी अनगार सात्विक भाव वाला है अवश्य, पर इस समय ईर्ष्या के कारण उसके सात्विक भाव में कुछ मलीनता ही आई है। उत्कर्ष के बदले इसकी विशुद्धि का अपकर्ष हुआ है। नीतिकार कहते हैं।

घृत कुम्भसमानारी, तप्तांगारसमः पुमान्।

तस्मात् घृतञ्च, कुम्भञ्च नैकत्र स्थापयेद् बुधः।

नारी घी का घडा है और पुरुष तपा हुआ अंगार। इन दोनों को एक जगह रखने वाला पुरुष बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता।

गुरु संभूतिविजय बड़ी दुविधा में थे। उनका मन अनुमति देने को तेयार न था। वे उस मुनि के संयम को संकट में नहीं डालना चाहते थे। भला कौन ऐसा गुरु होगा जो अपने शिष्य को असंयम के गहरे गर्त में गिराने की इच्छा करे? गुरु और शिष्य का सम्बन्ध संयम की वृद्धि के लिए होता है, अन्यथा पिता, भ्राता आदि से नाता तोड़ कर गुरु के नाम पर नया नाता जोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी? एक साधना का अभिलाषी नौसिखिया किसी अनुभवी की शरण में जाता है और निवेदन करता है—भगवन्! मैं साधना के इस अपरिचित और गहन पथ पर चलना चाहता हूँ! आप इस पथ के अनुभवी हैं। इस मार्ग में आने वाली विघ्न बाधाओं से परिचित हैं।

अनुग्रह करके मुझे अपनी शरण में लीजिए, मेरा पथप्रदर्शन कीजिए और संसार-अटवी से पार होने में मेरी सहायता कीजिए।

अनुभवी साधक सोचता है—इसे ग्रहण करने के कारण मेरी एकाग्र साधना में कुछ बाधा आएगी, मगर दूसरे की साधना में निस्पृह भाव से सहायक होना भी साधना का एक अंग है। इसके अतिरिक्त जिन शासन की परम्परा को निरन्तर चालू रखने के लिए भी यह आवश्यक है कि साधना क्षेत्र में आने वाले अनुभव हीन जनों का मार्ग दर्शन किया जाए। अगर मेरे गुरुजी ने मुझे शरण न दी होती तो मैं आज इस स्थिति में कैसे आता ? जब मैंने किसी की छत्र छाया ली तो ऋण को चुकाने के लिए भी यह आवश्यक है कि मैं किसी को अपनी छत्रच्छाया प्रदान करूँ।

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध का यह शास्त्रीय आधार है। पुराने परिवार को त्याग कर नया परिवार बनाया इस संबंध का उद्देश्य नहीं है। हुकूमत चलाने या प्रतिष्ठा पाने के लिए चेलों की फौज नहीं बनाई जाती। ऐसी स्थिति में गुरु अपने शिष्य को ऐसी ही अनुमति देगा जिससे उसके संयम की वृद्धि हो। वह ऐसा आदेश कदापि न देगा जिससे संयम को खतरा उपस्थित हो जाए।

गुरु संभूतिविजय इसी कारण उन मुनियों की प्रार्थना को सुनकर 'हाँ' नहीं कह सके। वे मौन ही रह गए।

जब शिष्यों ने देखा कि गुरुजी मौन हैं तो 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' अर्थात् चुप्पी सहमति का लक्षण है, यह समझ कर वे वहाँ से चल दिए। सिंह गुफावासी अनगार रूपाकोशा के घर जाने को उद्यत हो गए। आगे की घटना प्रसंग आने पर विदित होगी। हमें इस घटना से यह सीखना है कि ईर्ष्या के बदले यदि सात्विक स्पर्धाभाव से काम लिया जाय तो इह- परलोक में कल्याण हो सकता है।

भोगोपभोगव्रत की विशुद्धि

मुक्ति के लिए प्रयाण करने वाले प्रत्येक पुरुष के लिए यह आवश्यक है कि वह जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति समभाव धारण करे और उनके सुख-दुख को अपने ही सुख-दुख के समान समझें। त्रस और स्थावर जितने भी प्रकार के जीव हैं, सब के प्रति मैत्रीभावका धारण करना अध्यात्म साधना का अनिवार्य अंग है।

भगवान् महावीर स्वामी ने त्रसजीवों के समान स्थावर जीवों की रक्षा करना भी आवश्यक बतलाया है, मगर सभी साधकों की योग्यता और पात्रता समान नहीं होती। हाथी का पलान हाथी ही संभाल सकता है। प्रत्येक स्तर के मनुष्य के लिए यदि समान साधना का विधान किया जाय तो वह अनुकूल नहीं होगी। वह यदि गृहत्यागी अनगार के योग्य होगी तो गृहस्थ उससे लाभ नहीं उठा सकें गे और उनका जीवन साधना विहीन रह जायगा। अगर वह गृहस्थ के योग्य हुई तो साधुओं को भी गृहस्थों के समान होकर रहना पड़ेगा। इस प्रकार दोनों तरफ से हानि होगी।

इस स्थिति को सामने रख कर महावीर स्वामी और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने सभी स्तर के साधकों के लिए साधना क्षेत्रों का विधान कर दिया है। मुनिधर्म में सम्पूर्ण विरति का विधान है और गृहस्थ धर्म में देशविरति का। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि साधु और गृहस्थ के धर्म में कोई विरोध नहीं है, वस्तुतः एक ही प्रकार के धर्मों के पूर्ण और अपूर्ण दो स्तर हैं। साधु भी अहिंसा का पालन करता है और गृहस्थ भी। किन्तु गृह-व्यवहार से निवृत्त होने और भिक्षाजीवी होने के कारण साधु त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा से बच सकता है किन्तु गृहस्थ के लिए यह

भव नहीं है। उसे युद्ध, कृषि, व्यापार आदि ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जिनमें हिंसा अनिवार्य है। अतएव स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग उसके लिए अनिवार्य नहीं रक्खा गया। त्रस जीवों की हिंसा में भी केवल निरपराध जीवों की संकल्पी हिंसा का ही त्याग आवश्यक बतलाया है। इससे अधिक त्याग करने वाला अधिक लाभ का भागी होता है किन्तु देशविरति अंगीकार करने के लिए इतना त्याग तो आवश्यक है। इसी प्रकारअन्यान्य व्रतों में भी गृहस्थ को छूट दी गई है।

गृहस्थ ने जिस सीमा तक जो व्रत अंगीकार किया है, उसका पालन कष्टों और विघ्न-बाधाओं का सामना करके भी वह करता है। व्रत के मार्ग में आने वाली सभी कठिनाइयों को वह दृढ़ता पूर्वक सहन करता है। जिन सीमाओं में उसने मनोवृत्ति को वश में करने का व्रत लिया है, उसका वह पालन करेगा। यही नहीं, सम्पूर्ण रूप से विरति का पालन करना उसका लक्ष्य होगा और वह उस लक्ष्य की ओर बढ़ने का निरन्तर प्रयास करेगा। यह बात दूसरी है कि वह उस ओर बढ़ पाता है या नहीं और यदि बढ़ पाता है तो कितना ?

आनन्द श्रावक के चरित्र में श्रावक जीवन की एक अच्छी झांकी हमें मिलती है। उसने भोगोपभोग के साधनों की जो मर्यादा की थी, शास्त्र में उसका दिग्दर्शन विवरण मिलता है। भोगोपभोग नियमन संबंधी व्रत के दो विभाग हैं—भोजन सम्बन्धी और कर्म संबंधी। कर्मसम्बन्धी भोगोपभोग में जो मर्यादा की जाती है, उसे भगवान् महावीर ने समझा दिया है। उस पर आप ध्यान देंगे तो विदित हो जाएगा कि श्रावक का शास्त्रीय जीवन वैसा नहीं जैसा आज दिखाई देता है, वरन् वह निराले ही ढंग का होता है।

गृहस्थ भले ही श्रावक जीवन में रहता है, मगर उसका लक्ष्य 'मुनि-जीवन' होता है। मुनिजीवन एक प्रकार से पराश्रित है, क्योंकि मुनि गृहस्थ के यहाँ से निर्वाह योग्य वस्तु पाता है। गृहस्थ जिन वस्तुओं का उपयोग करता होगा, वही वस्तुएँ साधु को प्राप्त हो सकेंगी, उन्हें ही वह दे सकेगा। सोने-चांदी के पात्रों में खाने वाला यदि काष्ठपात्र न रखता हो तो अवसर आने

पर काष्ठपात्र मुनि को कैसे दे सकेगा ? हां तो यहां पहले भोजन संबंधी भोगोपभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) **सचित्ताहार**—व्रत में त्यागी हुई सचित्त वस्तुओं का असावधानी या भ्रम के कारण सेवन करना सचित्ताहार नामक अतिचार है। इस अतिचार से बचने के लिए श्रावक को सदा सावधान रहकर त्यागी हुइ सचित्त वस्तुओं के सेवन से बचना चाहिए।

(२) **सचित्त से सम्बद्ध वस्तु का आहार**--यदि कोई वस्तु अचित्त होते हुए भी सचित्त से प्रतिबद्ध है तो वह आहार के योग्य नहीं है, जैसे बबूल या किसी अन्य वृक्ष से गोंद निकाल कर उसका सेवन करना। अनेक परिपक्व वस्तुएँ भी बर्फ आदि के साथ रखी जाती हैं जिससे अधिक समय सुरक्षित रह सकें—जल्दी खराब न हो जाएँ। दूध, दही, घृत आदि अचित्त पदार्थ हैं तथापि यदि सचित्त से सम्बन्धित हों तो उनको ग्रहण करना भी अतिचार है।

(३) **पूरी पकी नहीं, पूरी कच्ची भी नहीं**—गृहस्थी में ऐसे भी खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते हैं जो अधपके या अधकच्चे कहे जा सकते हैं। मोगरी आदि वनस्पतियों को तवे पर छोंक कर जल्दी उतार लिया जाता है। उनका पूरा परिपाक नहीं होता। उनमें सचित्तता रह जाती है। अतएव जो सचित्त का त्यागी है, उसके लिए ऐसे पदार्थ ग्राह्य नहीं हैं। उनके सेवन से व्रत दूषित होता है।

(४) **अभिषवाहार**—इसका अर्थ है सड़े-गले फल आदि का सेवन करना। ऐसे पदार्थों के सेवन से त्रसजीवों की हिंसा होती है और असावधानी में वे खाने में भी आ सकते हैं। प्रत्येक खाद्य पदार्थ की एक अवधि होती है तब तक वह ठीक रहता है। अधिक समय बीत जाने पर वह सड़ जाता है, गल जाता है या घुन जाता है। उसमें जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह खाद्य नहीं रहता। अधिक दिनों तक रखने से मिष्ठान्नों में भी जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। वह न खाने योग्य रहते हैं और न खिलाने योग्य। पशुओं को भी ऐसी चीज नहीं खिलाना चाहिए। अनुचित लालच और अविवेक के कारण मनुष्य इन्हें खाकर या खिलाकर महा हिंसा के कारण बन

जाते हैं। इससे अनेक रोगों की भी उत्पत्ति होती है। अन्यान्य खाद्य वस्तुओं में भी नियत समय के पश्चात् जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव गृहस्थों को, विशेषतः बहिनों को इस विषय में खूब सावधानी बरतनी चाहिए। खाने के लिए उपयोग करने से पहले प्रत्येक खाद्य पदार्थ को बारीकी से जाँच कर लेना चाहिए। बहुत बार खाद्य वस्तु में विकृति तो हो जाती है परन्तु देखने वाले को सहसा मालूम नहीं होती। अतएव वस्तु के वर्ण, गंध आदि की परीक्षा कर लेनी चाहिए। अगर वर्ण गंध आदि में परिवर्त्तन हो गया हो तो उसे अखाद्य समझना चाहिए। अगर खान-पान संबंधी मर्यादा पर पूरा ध्यान दिया जाय और बहिनें विवेक एवं यतना से काम लें तो बहुत-से निरर्थक पापों से बचाव हो सकता है और स्वास्थ्य भी संकट में पड़ने से बच सकता है।

मनुष्य बाहरी तुच्छ हानि-लाभ को सोचता है, मगर यह नहीं देखता कि समय बीत जाने के कारण यह वस्तु त्याज्य हो गई है। यदि इसका सेवन किया जागगा। तो कितनी हिंसा होगी, यह विचार बहुत कम लोगों को होता है। श्रावक श्राविका की दृष्टि पाप से बचने की होती है, आर्थिक हानि लाभ उसकी तुलना में गौण होते हैं। अतएव जिस वस्तु का स्वाद बदल जाय, गंध बदल जाय और रंगरूप बदल जाय, उसे अभक्ष्य जान कर श्रावक कार्य में नहीं लेता—नही लेना चाहिए।

विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न स्वभाव हैं। कोई वस्तु शीघ्र बिगड़ जाती है, कोई देर में बिगड़ती है। उनका बिगड़ना मौसम पर भी निर्भर है। अतएव सब चीजों के लिए कोई एक समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। गृहस्थ यदि सावधान रहे तो अपने अनुभव से ही यह सब समझ सकता है। बहिनों को इस सम्बन्ध में खूब सावधान रहना चाहिए।

(५) तुच्छ औषधिभक्षण—भोजन करने का साक्षात प्रयोजन भूख को उपशान्त करना है। जिस वस्तु को खाने से वह प्रयोजन सिद्ध न हो, उसे नहीं खाना चाहिए। विवेकवान् गृहस्थ यह लक्ष्य रखता है कि काम बने, भूख मिटे और वस्तु व्यर्थ न बिगड़े। सीताफल, तिन्दुकफल आदि में बीज बहुत होते हैं। उनमें खाद्य अंश अत्यल्पहोता हैं। उनके खाने से शरीर निर्वाह

हो जाय ऐसी बात नहीं हैं। जिस वस्तु के सेवन से शरीर की यात्रा का निर्वाह न हो और उस वस्तु की भी हानि हो, उसके सेवन से भला क्या लाभ है, उदर की पूर्ति हो, शरीर का निर्वाह हो और अधिक हिंसा भी न हो, यही विचार उत्तम है। केवल थोड़ी सी देर के स्वाद-सुख के लिए किसी वस्तु को खाना और हिंसा का भागी बनना श्रावक पसन्द नही करता। श्रावक अपने भोजन के विषय में विवेक युक्त होता है। जिसमें विवेक नहीं होता, वह खाने के विषय में कम सोचता हैं। स्वाद लोलुप न हिंसा-अहिंसा का विचार करता है न हित अहित की बात सोचता है और अन्य प्रकार के हानि-लाभों का विचार करता है।

आज फल, मक्खन, घृत आदि पदार्थ विदेशों से सीलबन्द हो कर भारत आ रहे है। यह कैसी विडम्बना है। जिस देश में गाय को माता माना जाता हो और उसकी पूजा की जाती हो वह देश मक्खन जैसी चीज भी विदेश से मंगवाए। जो देश कृषिप्रधान गिना जाता हो उसे विदेशों की दया पर निर्भर रहना पड़े और उदरपूर्ति के लिए उनका मुख ताकना पड़े, यह भारतीय जनों के लिए क्या शोचनीय स्थिति नहीं है ?

जब देश में खाद्य पदार्थों की कमी हो तब तो खास तौर पर ध्यान रखना चाहिए कि कोई खाद्य पदार्थ बिगड़ने न पावे। इससे लौकिक और धार्मिक दोनों लाभ होंगे। पर इधर कितना ध्यान दिया जा रहा हैं ?

आज लोगों की सात्त्विक वृत्ति कम हो रही है। खाद्य अखाद्य का कोई ध्यान नहीं रखा जा रहा है। मिलावट करना मामूली बात हो गई है। भाग्य से ही कोई चीज शुद्ध मिल सकती है, अन्यथा किसी में कुछ और किसी में कुछ मिलाया जा रहा हैं और लोग विवश होकर ऐसे पदार्थों को खरीदते हैं। दूध और आटे जैसी वस्तुओं का, जो शरीर एवं जीवन के लिए उपयोगी मानी गई हैं, शुद्ध रूप में प्राप्त होना कितना कठिन हो गया है, इस बात को आप भली भांति जानते हैं। केमिकल के नाम पर क्या-क्या मिलाया जाता है, इसका क्या पता हैं ? पैक की हुई वस्तुओं पर भी आज भरोसा नहीं रह गया है। अभी यह स्थिति है तो आगे आने वाले समय में क्या स्थिति होगी, कहा नहीं

जा सकता। इन बातों का उल्लेख किया जा रहा है कि धर्म का आधार नैतिकता नही वहां धर्म ठहर नहीं सकता। अतएव धर्म की प्रतिष्ठा के लिए जीवन में नैतिकता आना आवश्यक है। आज नैतिकता के ह्रास के कारण लोगों के हृदय में से धर्म का भाव भी नष्ट होता जा रहा है।

आज भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न करके मनुष्य उच्छृंखल प्रवृत्ति का परिचय दे रहा है, किन्तु याद रखना चाहिए कि आहार बिगड़ने से विचार बिगड़ता है और विचार बिगड़ने से आचार में विकृति आती है। जब 'आचार विकृत होता हैं तो जीवन भी विकृत बन जाता है। शास्त्र में कहा है—

'आहार मिच्छे मियमेसणिज्जं।'

एक शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया-काम क्रोध मोह आदि विकारों पर कसे विजय प्राप्त की जाय ? तो गुरु ने उत्तर दिया—तेरा आहार आवश्यकता के अनुसार और निर्दोष होना चाहिए। इससे मन में सात्विकता आएगी, मन शुद्ध होगा। साधना के मार्ग में सजग रह कर चलने वाला ही अपना जीवन ऊंचा उठा सकता है।

बहुत-से विवेकहीन लोग स्वाद के लोभ में पड़ कर आवश्यकता से अधिक खा जाते हैं। भोजन स्वादिष्ट हुआ तो ठूंस-ठूंस कर उसे पेट में भरते हैं। यदि अन्न पराया हुआ तव तो पूछना ही क्या है। पेटू लोगों ने कहा है—

परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे, शरीरे मा दयां कुरु।
परान्नं दुर्लभ लोके. शरीरं हि पुनः पुनः ॥

अर्थात्—अरे मूर्ख ? पराया अन्न मिले तो शरीर पर दया मत कर। शरीर मिल सकता है, किन्तु पराया अन्न दुर्लभ है। जहां लोगों की ऐसी दृष्टि हो वहां क्या कहा जाय, वे जीवन के लिए भोजन समझने के वजाय भोजन के लिए जीवन समझते है। किन्तु भगवान् महावीर ने साधक को सूचना दी है कि भोजन उतना ही करना चाहिए जिससे संयम की साधना में बाधा न पहुंचे आवश्यकता से अधिक भोजन किया जाएगा तो शरीर में गड़वड़ होगी, मन में

अशान्ति होगी, प्रमाद आएगा और साधना यथावत् न हो सकेगी। स्वाध्याय और ध्यान के लिए चित्त की जिस एकाग्रता की आवश्यकता है, वह नहीं रह सकेगी।

आनन्द ने जब व्रत ग्रहण किए तो भोजन सम्बन्धी अनेक मर्यादाएँ भी स्वीकार की। उसका आहार शुद्ध है उसके पास ज्ञान का बल है, अतएवः प्रगति के द्वार अवरुद्ध नहीं खुले हुए हैं। जहां आत्मज्ञान का लोकोत्तर प्रकाश देदीप्यमान रहता है वहीं साधना सही मार्ग चलती और फलती है।

स्थूलभद्र मुनि अपने आत्मज्ञान के बल पर वह कार्य कर सके जिसे देव भी नहीं कर सकते। सिंह गुफावासी मुनि ने गुरु संभूति विजय से निवेदनकिया कि मुझे भी वेश्या के घर में वर्षाकाल व्यतीत करने की अनुमति दी जाय। उन्हें ज्ञान नहीं है कि मुनि स्थूलभद्र ने कैसा जीवन व्यतीत किया है और किस सीमा तक विराग अवस्था प्राप्त करके काम को पराजित किया है आवेश में चलने वाला व्यक्ति प्रायः असफल होता है, चाहे लौकिक साहस का काम हो, चाहे लौकोत्तर साहस का। भयपूर्ण स्थानों में विजय पाने का लौकिक कार्य हो या कामक्रोध आदि विकारों पर विजय पाने का आध्यात्मिक कार्य हो, जोश वाला व्यक्ति सफलता नहीं पाता। उस मुनि को इतना भी पता नहीं कि स्थूलभद्र ने रूपकोशा के जीवन में ही महान् परिवर्तन कर दिया है।

जब उक्त मुनि ने अनुमति माँगी तो गुरुजी कुछ देर तक मौन ही रहे। वे समझ गए कि इसके मन में भावावेश खेल रहा है। यह स्थूलभद्र की बराबरी करने की ही भावना से कठोर साधना करना चाहता है। मगर स्थूलभद्र की योग्यता और वैराग्य वृत्ति की ऊँचाई का इसको ठीक-ठीक परिज्ञान नहीं है।

स्थूलभद्र का अभिनन्दन और अभिवादन सकल संघ का अभिनन्दन और अभिवादन है, ऐसी उदार भावना यदि उन तीनों मुनियों में होती तो वे ईर्ष्या के वशीभूत होकर ऐसा करने पर उतारू न होते। उन्हें यही पता नहीं कि जब साथी मुनि के गुणों का उत्कर्ष एवं सन्मान हो उनका मन सहन नहीं

कर सकता तो वे दुर्जय काम-वासना को उस हद तक कैसे जीत सकेंगे ! इतना दुर्बल हृदय क्या उस घोर परीसह को जीतने में समर्थ हो सकेगा ?

एक गांव में एक भाई अपने आपको बड़े साहसी मानते थे।। वे अक्सर कहा करते-भूत का क्या भय है ? मैं भूत के लिए भी भूत हूं। साहस का कोई भी कार्य कर सकता हूं।

लोगों ने उनकी परीक्षा करने की ठानी। एक बार जब वे इसी प्रकार की डींगे मार रहे थे, लोगों ने उनसे कहा अगर आप रात्रि के समय, श्मशान में जाकर, पीपल के पेड़ में कील ठोंक कर आजाएं तो समझें कि आप वास्तव में हिम्मतवर हैं। अन्यथा अपने मुंह से अपनी तारीफ के पुल बांधना कौन बडी बात है ?

वह महाशय जैसे वस्त्र पहने थे, वैसे ही श्मशान पहुँच गए। बात उन्हें चुभ गई थी और वे इस परीक्षा में सफल होकर अपना सिक्का जमा लेना चाहते थे। श्मशान में पहुँच कर उन्होंने पीपल के वृक्ष में कील भी गाड़ दी। किन्तु उतावलेपन में आदमी चूके बिना नहीं रहता। उतावलापन काम बिगाड़ता है। जब उसने पीपल के मूल में कील ठोकी तो कपड़े का एक पल्ला भी उस कील में दब गया। वह अपना पल्ला छुड़ाने लगा पर वह छूटा नहीं। उसने समझ लिया—भूत ने मेरा पल्ला पकड़ लिया है। होशहवास गुम हो गए। भय का इतना तीव्र संचार हुआ कि वे भाई वहीं पर ठार हो गये।

धैर्य से काम लिया होता और अहंभाव मन में न आता तो उसका काम बन जाता, परन्तु अधैर्य, अहंकार एवं जोश के कारण उसका काम बिगड़ गया।

सिंह गुफावासी मुनि के हृदय में भी अहंकार का विष घुला हुआ था। वे सोचते थे कि मेरे समान तपस्वी कौन है ? इस अहंकार की प्रेरणा से ही उन्होंने अनुमति चाही थी, मगर गुरुजी मौन रहे। वे जानते थे कि इसे सफलता मिलने वाली नहीं है। यह ईर्षा के वशीभूत होकर अब तक के किये पर पानी फेर देगा। तथापि हमेशा के लिए इसे अच्छी सीख मिल जाएगी।

मैं अनुमति तो दे नहीं सकता—इसके अधः पतन में कैसे निमित्त बन सकता हूं ? मगर मना करना भी उचित नहीं प्रतीत होता। मना करूँगा तो इसके चित्त में सदा शल्य बना रहेगा और यह निश्शल्य साधना नहीं कर सकेगा। आवश्यक यह है कि कषाय का विष किसी प्रकार धुल जाए। यह सब सोच कर गुरुजी मौन ही रहे।

अन्य मुनिजन भी वर्षाकाल में अपनी-अपनी साधना में लगने की बात सोचने लगे। सिंह गुफावासी मुनि पाटलीपुत्र जा पहुँचे, जहाँ रूपाकोशा का घर है। रूपाकोशा का पूरा मुहल्ला था। यद्यपि उसने वेश्यावृत्ति का परित्याग कर दिया था, फिर भी लोग उसके यहाँ आते-जाते थे।

मुनि भी उसके घर पहुँचे। उसने मुनि का यथोचित सन्मान किया। उसके अनुपम रूप-लावण्य ने, उसकी मधुर वाणी ने और विनम्रतापूर्ण व्यवहार ने मुनि के मन को आकर्षित कर लिया। मुनि ने उससे कहा—मुझे अपने भवन में चातुर्मास्य व्यतीत करने की आज्ञा दीजिए।

चतुर रूपाकोशा ने दुनियां देखी थी। वह उड़ती चिड़िया को पहचानती थी। मुनि के मन का भाव उससे छिपा नहीं रहा। उसने समझ लिया कि यह मुनि स्थूलभद्र की बराबरी करना चाहते हैं, अन्यथा इतने बड़े पाटलीपुत्र को छोड़ कर मेरे यहाँ चौमासा व्यतीत करने का क्या हेतु हो सकता है ?

इन मुनि का शरीर तो स्थूलभद्र के शरीर के समान था, किन्तु स्थूलभद्र के अन्तर में विराजमान मनोदेवता के समान मन नहीं था। रूपाकोशा ने सोचा—मुनि को सीख मिलनी चाहिए किन्तु पतित नहीं होने देना चाहिए। अच्छा हुआ कि वे मेरे भवन में आए; अन्यत्र कहीं चले गए होते तो न जाने क्या होता ?

मन ही मन इस प्रकार सोच कर रूपाकोशा ने कहा—आप प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करें; किन्तु मेरी माँग आपको पूर्ण करनी होगी।

मुनि नहीं समझ पाए कि इसकी माँग क्या बला है ? वह तो इसी धुन में थे कि किसी प्रकार इसके यहाँ ठहरने को स्थान मिल जाय। वे प्रमाणपत्र

कर्मादान

कहा जा चुका है कि चारित्र धर्म दो भागों में विभाजित किया गया है—(१) अनगार धर्म और (२) सागार धर्म। मुनियों का धर्म अनगार धर्म कहलाता है, जिसका आधार पूर्ण त्याग है। पूरी तरह पापों से निवृत्त होने पर और ममता को जीत लेने पर ही अनगार धर्म का पालन हो सकता है। किन्तु यह योग्यता सब में नहीं होती। जीवन को इतनी उच्च भूमिका पर पहुँचाना साधारण व्यक्तियों के लिए सुसाध्य नहीं है। अतएव जो अनगार धर्म के मार्ग पर नहीं चल सकता वह सागार धर्म अर्थात् गृहस्थ धर्म का पालन करता है, जिसे श्रावक धर्म भी कहते हैं। मुनि धर्म और श्रावकधर्म की दिशा में कोई अन्तर नहीं है—अन्तर केवल स्तर का है। अतएव जैसे मुनि अहिंसा की आराधना करता है वैसे ही श्रावक भी। मुनि त्रस-स्थावर जीवों की पूर्ण अहिंसा का पालक होता है परन्तु श्रावक उसे आंशिक रूप में पाल सकता है। फिर भी उसका लक्ष्य सदैव अहिंसा की ओर ही रहता है। वह अधिक से अधिक जीव रक्षा करता हुआ अपना संसार व्यवहार चलाता है। बन्ध मोक्ष आदि की विचारधारा उसके जीवन से अछूती नहीं रहती। प्राणातिपात विरमण उसका प्रथम धर्म है। वह सापेक्ष, निरपेक्ष, निवार्य, अनिवार्य कार्यों को लक्ष्य में रखकर चलता है। विवेक का दीपक उसका मार्ग दर्शक होता है। वह ऐसे भोगों तथा कर्मों पर नियंत्रण करता है जिससे बड़ी हिंसा होती हो। वह निरर्थक हिंसा नहीं करता और सार्थक हिंसा से भी अधिक से अधिक बचने का प्रयास करता है।

अहिंसा की आराधना के लिए और साथ ही ममत्व भाव को कम करने के लिए ही गृहस्थ भोगोपभोग की सामग्री की मर्यादा बाँध लेता है। भोगोपभोग परिमाण व्रत का निर्मल पालन हो सके, इस उद्देश्य से उसके पांच

अतिचार बतलाए गए हैं और उनका विवेचन भी किया जा चुका है।

मोक्षमार्ग का साधक, चाहे वह मुनि हो या गृहस्थ, जीवनरक्षण और शरीर रक्षण के लिए ही भोजन करता है, रसना की तृप्ति के लिए नहीं, स्वाद लोलुपता से प्रेरित होकर नहीं। इसी उद्देश्य से यह कहा गया है कि श्रावक तुच्छ औषधियों के प्रयोग को भी सीमित करे।

अतिचारों की गणना में 'औषधि' शब्द का प्रयोग विशेषअभिप्राय से किया गया है। उसमें कुछ रहस्य निहित है। प्रत्येक तुच्छ वनस्पति-धान्य को औषधि या औषध कहा है। 'ओषं-पोषं, धत्ते-धारयति, इति औषधिः।' यह इस शब्द की व्युत्पत्ति है, जिसका अभिप्राय यह है कि जो शरीर को पुष्टि प्रदान करे वह औषधि कहलाती है। मूल औषधि या दवा धान्य वनस्पति है।

लोग समझते हैं कि 'नेचरोपैथी' पश्चिम की देन है, मगर जिन्होंने भारतीय साहित्य-सागर में अवगाहन किया है, वे भलीभाँति समझ सकते हैं कि इसका मूल भारत में है। उत्तराध्ययन सूत्र के मृगा पुत्रीय अध्ययन को जो विचारपूर्वक पढ़ेंगे, वे इस तथ्य से परिचित होंगे। भारत के मनीषी बहुत प्राचीन काल से प्राकृतिक उपचार के महत्व को जानते थे। आज भारतवासी उसके महत्व को भूल रहे हैं और पश्चिम के लोग उसकी उपयोगिता को स्वीकार कर रहे हैं, यह एक विस्मय की बात है।

प्राकृतिक चिकित्सा के मुकाबिले में अनेक प्रकार की चिकित्सा पद्धतियाँ प्रचलित हुई हैं। आज इस देश में विदेशी दवाओं का इतना अधिक प्रचार हो गया है कि भारत की आयुर्वेदिक औषधों को भी उनके समान गोलियों, केप्सूलों और इंजेक्शनों के ढाँचे में ढालना पड़ा। आयुर्वेद का विधान है— 'ज्वरादौ लंघनम् पथ्यम्' अर्थात् बुखार आते ही उपवास कर लेना चाहिए, किन्तु आज इस बात पर कौन विश्वास करता है? सूर्य की किरणें और जल आदि प्राकृतिक वस्तुएँ बड़ी लाभदायक औषधियाँ हैं।

ऋषि-मुनियों के दीर्घ जीवन का कारण उनका प्राकृतिक वस्तुओं का सेवन है। कई प्राणी जीभ से चाट-चाट कर अपना घाव ठीक कर लेते हैं।

मगर लोगों को प्राकृतिक चिकित्सा पर आज भरोसा नहीं रहा है। वे अपवित्र एलोपैथिक औषधों का सेवन करके अपना धर्म विनष्ट करते हैं। शास्त्र की दृष्टि से समस्त धान्य औषधि की कोटि में आते हैं। यदि विधिपूर्वक इनका सेवन किया जाय तो वे स्वास्थ्य प्रद सिद्ध होते हैं। हाँ, अविधि से सेवन करने पर अवश्य रोगोत्पादक हो सकते हैं।

व्रतमय जीवन व्यतीत करने वाले को तुच्छऔषध का सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि उसमें खाद्य अंश कम होता है और फेंकने योग्य अंश अधिक होता है।

महावीर स्वामी का कथन है—हे मानव! तू वृथा पाप के भार को क्यों बढ़ाता है ? पदार्थों का सेवन इस प्रकार कर कि तेरा काम चले और वस्तु का विनाश न हो। भोगलालसा पर अंकुश लगाएगा तो कर्म बन्ध पर स्वतः अंकुश लग जाएगा जीवन बनाना है, जीवन से कुछ महत्वपूर्ण लाभ उठाना है और आत्म साधना की यात्रा में बिना टकराए लक्ष्य पर पहुँचना है तो भोग और उपभोग की सामग्री पर विवेकपूर्ण नियंत्रण करना आवश्यक है। यदि ठीक तरह से यह नियंत्रण स्थापित हो जाय और जीवन में संयम और सादगी आ जाय तो बड़े-बड़े राक्षसी कल-कारखानों की आवश्यकता ही न हो। इस प्रकार के कारखानों की स्थापना महा तृष्णा की बदौलत होती है। उनमें कितने ही लोगों की हत्या और शोषण होता है, कितने ही गरीबों के हाथ-पैर कटते हैं और न जाने कितने लोगों की आजीविका नष्ट होती है। हजारों मनुष्य अपने हाथों से जो निर्माण करते हैं, उसे एक बड़ा कारखाना थोड़े-से लोगों की सहायता से कर डालता है। परिणामस्वरूप बहुत से लोग बेकार और बेरोजगार फिरते हैं उनके पास कोई आजीविका नहीं। जिन देशों की आबादी अल्प संख्यक हो वहाँ कल-कारखानों की उपयोगिता समझ में भी आ सकती है किन्तु जिस देश में इतनी विपुल जनसंख्या हो और वह निरन्तर बढ़ती ही जा रही हो, वहाँ यंत्रों से काम लेना और मानव शक्ति को व्यर्थ बना देना बुद्धिमत्ता नहीं है। धार्मिक दृष्टि से भी यह महारंभ है।

जो श्रावकधर्म की आराधना करता है उसे चिन्तन करना है, विचार करना है, आत्मा को भारी बनाने वाले कार्यों को कम करना है और अपने लक्ष्य की ओर गति तीव्र करनी है। यह यांत्रिक पद्धति से चढ़ने का मार्ग नहीं है, जीवन तय करने का मार्ग है। यंत्र के सहारे भारी वस्तुएँ ऊपर उठाली जाती हैं, मगर भारी जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कोई यंत्र नहीं है। दूसरे के सहारे ऊँचा चढ़ना अस्थायी है, अल्पकालिक है। इस प्रकार चढ़ना वास्तविक चढ़ना नहीं है। अध्यात्म की उच्च, उच्चतर और उच्चतम भूमिका पर आत्मीय पुरुषार्थ से ही चढ़ा जाता है। भगवान् महावीर ने उच्च स्वर में घोष किया है—

'तुममेव तुमं मित्ता,' किं बहिया मित्त मिच्छसि: आचारांग।

हे आत्मन् ! तू अपना मित्र आप ही है। क्यों बाहरी मित्र (सहायक) की अपेक्षा रखता है।

भगवान् की स्वावलम्बन की इस उदात्त स्वर लहरी में जीवन का तेज और ओज भरा हुआ है। हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि हमारा कल्याण और उत्थान हमारे ही प्रयत्न और पुरुषार्थ में निहित है। कल्याण और उत्थान भीख माँगने से नहीं मिलता।

'जीवित प्राणी चलता है, मुर्दा घसोटा जाता है।'

एंजिन दूर है तो मजदूर धक्का देकर डिब्बों को इधर उधर कर देते हैं। या एंजिन ने धक्का दिया, डिब्बा थोड़ी दूर चला और रुक गया। उसमें पावर (शक्ति) नहीं है चलने की। वह दूसरे के सहारे चलने वाला है। इसी प्रकार सत्संगति का धक्का लगने पर थोड़ा आगे चला जा सकता है, मगर मंजिल तक पहुँचने के लिए तो निज का ही बल चाहिए।

रेल की पटरियों पर चलने वाली ठेला गाड़ी में धक्का देकर गति लानी पड़ती है। वार-वार धक्का देने से उसमें वेग आता है। एक-दो स्टेशनों तक यों काम चल जाता है। डिब्बों को लेकर चलने की शक्ति उसमें नहीं है। क्या मानव को अपना जीवन ऐसा ही बनाना उचित है? नहीं, उसे सजीव

की तरह स्वयं चलना चाहिए, मुर्दे की तरह दूसरे के सहारे चलना शोभा नहीं देता।

श्रावक आनन्द ने महावीर स्वामी की ज्ञान ज्योति से अपना लघु दीप जला लिया और अब वह स्वयं आलोकित होकर चल रहा है। उसने भोगोपभोग परिमाण व्रत को जब अंगीकार किया तो भोजन की दृष्टि से होने वाले पाँच और कर्म की दृष्टि से होने वाले पन्द्रह अतिचारों से भी बचने का संकल्प किया। पाँच अतिचारों का प्रतिपादन किया जा चुका है। कर्मादानों के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाना आवश्यक है।

'कर्मादान' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है, वे दो शब्द हैं—कर्म और आदान। जिन कार्यों से कर्म का बन्ध होता है वे कर्मदान हैं, यह इस शब्द का अर्थ है। किन्तु यह अर्थ परिपूर्ण नहीं है। संसार में ऐसी कोई प्रवृति नहीं है जिससे कर्म का आदान (ग्रहण-बन्ध) न होता हो। शुभ कृत्य शुभ कर्मों के आदान के कारण हैं तो अशुभ कृत्यों से अशुभ कर्मों का आदान होता है। इस प्रकार भाषण, प्रवचन, श्रवण, मुनिवन्दन आदि सभी क्रियाएँ कर्मादान सिद्ध हो जाती हैं। फिर कर्मादानों की संख्या पन्द्रह ही क्यों कही गई है? क्या वास्तव में संसार के सभी कृत्य कर्मादान ही हैं? इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है।

'कर्मादान' जैन परिभाषा के अनुसार योगरूढ़ शब्द है। यहाँ 'कर्म' शब्द से महा कर्म अर्थ समझना चाहिए, अर्थात् जिस कार्य या व्यापार धंधे से घोर कर्मों का बन्ध हो, जो कार्य महारंभ रूप हों, वही कर्मादान कहलाते हैं।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) खर कर्म और (२) मृदु कर्म। जिस कर्म में हिंसा बढ़ न जाय, यह विचार रहता है, वह सौम्य कर्म कहलाता है और जहाँ यह विचार न हो वह खर कर्म है। अथवा यों कहा जा सकता है कि जो कर्म आत्मा के लिए और अन्य जीवों के लिए कठोर बनें, वे खर कर्म हैं। खर कर्म दुर्गति की ओर ले जाते हैं। जीवों के विनाश की अधिकता

वाले कार्य करने से हृदय कठोर बन जाता है और करुणा भाव विलुप्त हो जाता है। इसी कारण ऐसे कार्यों को कर्मादान कहा गया है।

कर्मादान पन्द्रह हैं जिनमें से दस कर्म से सम्बन्ध रखते हैं और पाँच व्यापार-धंधे से संबंध रखते हैं। आशय यह है कि कर्मादानों में दो प्रकार के कार्यों को ग्रहण किया गया है—वाणिज्य को और कर्म को। जिस चीज को आप स्वयं बनाते नहीं किन्तु उसका क्रय-विक्रय करके लाभ कमाते हैं, वह वाणिज्य कहलाता है। एक बुनकर स्वयं कपड़ा बनाता और बेचता है, वह कर्म कहलाता है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत में इन्हीं दोनों के संबंध में मर्यादा की जाती है। जब कोई गृहस्थ इस व्रत को धारण करे तो उसे प्रभोलन से ऊपर उठना चाहिए और देश-काल संबंधी वातावरण से प्रभावित नहीं होना चाहिए। उसके अन्तः करण में संयम के प्रति गहरी लगन होनी चाहिए और उसके फलस्वरूप जीवन में सादगी आ जानी चाहिए। वह अपनी आवश्यकताओं को नियंत्रण में रक्खेगा और तृष्णा के वशीभूत नहीं होगा तभी इस व्रत का समीचीन रूप से पालन कर सकेगा।

अनगार धर्म साधना का रूप निराला है। उसमें पूर्ण रूप से वाणिज्य एवं कर्म का त्याग तो होता ही है, सभी प्रकार के आरंभमय कार्यों का भी त्याग होता है। अनगार का जीवन ऐसी मर्यादा से बंधा है कि प्रलोभनों को वहाँ जगह ही नहीं है। जरा-सी असावधानी में वह वर्षों की कठिन साधना को गँवा देता है। सांसारिक हानि लाभ के विषय में साधारण मनुष्य भी सावधान रहता है तो आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में तो और भी अधिक सचेत रहने की आवश्यकता है। जो सचेत रहेगा वह आत्मिक धन को नहीं खोएगा। उसे मानसिक सन्तुलन रखने की अनिवार्य आवश्यकता है।

अनादि कालीन कुसंस्कारों के कारण मन में विविध प्रकार के आवेगों की ऊर्मियाँ उत्पन्न होती हैं। अगर मनुष्य उनके वेग में वह जाता है तो उसका कहीं ठिकाना नहीं रह जाता! भय और क्रोध के वेग को जीतना आसान नहीं

फिर भी वह जीता जा सकता है, मगर राग का वेग अतीव प्रबल होता है। उसे जीत लेना अत्यन्त कठिन है। आदि वासी कहलाने वाले लोग आज भी खुले जंगलों में पड़े मिल जाते हैं, जहाँ शेर जैसे हिंस्र जानवरों का आवागमन होता रहता है। वे निर्भय रह कर जंगल में निवास करते हैं। भय को जीतना उनकी प्रकृति के अन्तर्गत है। किन्तु राग को जीतना इतना सरल नहीं है। इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान भी बाह्य एवं शब्दस्पर्शी मात्र नहीं मगर आत्मस्पर्शी होना चाहिए।

सिंह गुफा वासी मुनि ने राग की दुर्जेयता को नहीं समझा उसने भय की वृत्ति पर विजय पाई थी और सोचा था कि भय को जीतना ही कठिन है। जिसने भय को जीत लिया इसके लिए रागवृत्ति को जीतना चुटकियों का खेल है। परन्तु वह राग की आग में से गुजरा नहीं था। शूर वीर पुरुष पैने प्रहारों को जीत लेता है परन्तु रमणी के मृदुल प्रहारों के सामने उसे भी हार जाना पड़ता है। उन प्रहारों को जीतने के लिए फौलाद का कलेजा चाहिए। इसी कारण कहा गया है कि महा पुरुषों का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर और फूल से भी अधिक कोमल होता है। दूसरे को दुःख में देख कर उनका हृदय अनायास ही मुरझा जाता है परन्तु अपने प्रति वे वज्र के समान होते हैं। कठिन से कठिन उपासर्ग भी उनके दिल को हिला नहीं सकते।

जोश की स्थिति में सिंह गुफा वासी मुनि पाटलीपुत्र में रूपाकोशा के घर पहुँचे। उन्होंने उसके घर में निवास करके चार मास (चातुर्मास्य) व्यतीत करने की अनुमति माँगी। वेश्या उनके आत्मबल की परीक्षा करना चाहती थी। अतएव उसने विनम्र एवमधुर स्वर में कहा मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आपका मेरे द्वार पर पदार्पण हुआ। समाज में मेरी जैसी महिलाएँ गर्हा की दृष्टि से देखी जाती हैं किन्तु आप लोकोत्तर दृष्टि से सम्पन्न हैं। आपके लिए प्राणीमात्र समान हैं। इसी कारण इतने बड़े नगर को छोड़ कर यहाँ पधारे हैं। किन्तु आप पहले भिक्षा ग्रहण कर लीजिए, बाद में धर्म वृद्धि की बात कीजिएगा।

अर्थी अर्थलाभ का पात्र होता है, और कामी काम लाभ का पात्र होता

है। राजिया कवि ने कहा है—

कहणी जाय निकाम, आछोड़ी आणी उकत।
दामां लोभी दाम, रजें न बातां 'राजिया'॥

वेश्या बोली धर्म की बात करने से पहले पेट पूर्ति कर लीजिए।

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव।
दोनों डूबा बापड़ा बैठ पत्थर की नांव॥

और भी कहा है—

बिल्ली गुरु बगला किया, दशा ऊजली देख।
कहो कालू कैसे तिरै. दोनों की गति एक॥

रूपाकोशा कहती है- आपका प्रयोजन है मेरे रंग महल में रहने के लिए एक कमरे की अनुमति प्राप्त करना, किन्तु एक बात मेरी भी मान लीजिए।

राग की स्थिति में मनुष्य का विवेक सुषुप्त हो जाता है। जिस पर राग भाव उत्पन्न होता है, उसके अगुवण उसे दृष्टिगोचर नहीं होते। गुणवान् के गुणों का आकलन करना भी उस समय कठिन हो जाता है।

रूपाकोशा ने मुनि से भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की। मुनि ने आनाकानी नहीं की और भिक्षा अंगीकार करली। यह भिक्षा मुनि की कसौटी करने के लिए दी गई थी। वे कितने गहरे पानी में हैं, यह जानने के लिए ही दी गई थी, अतएव उसमें गरिष्ठ मादक और उत्तेजक खाद्य थे। मुनि ने भिक्षा ग्रहण करके उसका उपयोग कर लिया।

मुनि के मन पर आहार का असर हुआ। चिरकाल से पोषित विराग निर्बल पड़ने लगा और अनादिकालीन राग का भाव उभरने लगा। जैसे संध्या के समय सूर्य अस्त होने लगता है और अन्धकार अपने पैर फैलाने लगता हैं, उसी प्रकार मुनि के मन रूपी आकाश से विवेक का सूर्य अस्त होने लगा और मोह का अन्धकार अपना प्रसार करने लगा। उलकी यह मनोदशा देखकर विचक्षण रूपाकोशा ने कहा-आप रंग-महल में रहने की अनुमति चाहते

हैं और मैं प्रसन्नता पूर्वक आपको अनुमति देना चाहती हूँ, किन्तु अनुमति पाने से पहले आपको मेरी एक छोटी-सी शर्त स्वीकार करनी होगी। शर्त यह है कि एक रत्न-जटित कंबल लाकर आप मुझे प्रदान करें। यह शर्त पूरी होते ही सारा रंग महल आप अपना ही समझिए। यही नहीं, मैं भी आपकी दासी होकर सेवा करूंगी।

मुनि कुछ हिचकिचाए। सोचने लगे—रत्नजटित कंबल कहां पाऊंगा मैं? यह विचार कर वे असमंजस में पड़ गए।

रूपाकोशा ने उनके भाव को ताड़ कर कहा—आप चिन्ता में पड़ गए हैं? रत्नजटित कंबल नेपाल-नरेश के यहां मिलता है। अभ्यागत साधु-सन्तों को वे मुफ्त में ऐसे कंबल देते हैं। कंबल की कीमत तो कुछ देनी नहीं है, सिर्फ नेपाल तक जाने का साहस करना है। नेपाल जंगल प्रधान देना है और पैदल चलने वालों को पद-पद पर भय बना रहता है। अगर आप में इतनी निर्भयता हो तो ही वहां जाने का साहस कीजिएगा, अन्यथा रहने दीजिए।

निर्भयता और साहस की बात सुनकर मुनि के हृदय में अहंकार जागा। सोचने लगे—भय को जीतने में कौन मेरी बराबरी कर सकता है! मेरे पास साहस का जितना बल है, अन्य किसके पास हो सकता है! रूपाकोशा की मांग मेरे लिए एक चुनौती है। इस चुनौती का सामना न किया तो मैंने संयम क्या पाला अब तक भाड़ ही झौंका समझना चाहिये।

मुनि के मन में अज्ञान रूप में अनुराग के अंकुर फूट निकले थे, ऊपर से उन्हें चुनौती भी मिल गई। उनके ज्ञान की छाप राग की छाप से दब गई। विवेक पराजित हो गया, राग विजयी हो गया। निर्भयता, जो अब तक उनका भूषण थी, विवेक एवं समभाव के अभाव में दूषण बन गई। वह उन्हें पतन की ओर घसीटने लगी। हृदय में राग का जो तूफान उठा, उससे विवेक का दीपक बुझ गया।

नेपाल पहुँचना मामूली बात नहीं। वहां जीवन के उपभोग की—विलास की—सामग्रियां कम हैं और वहां के निवासियों की आवश्यकताएं भी

कम हैं वहां के लोग प्रायः निर्भय रहते हैं। परन्तु मुनि को वास्तविकता का पता नहीं था। वह तो किन्हीं अन्य विचारों में ही चक्कर लगाने लगे थे।

रूपाकोशा की भावना मुनि को सत्पथ पर लाने की ही थी। वह उन्हें असंयम और अधः पतन की ओर नहीं लेजाना चाहती थी। मुनि के विलुप्त विवेक को जागृत करना उसका लक्ष्य था। उनका मानसिक बल उभर आए और वे जिन अवांछनीय वृत्तियों के वशीभूत हो रहे हैं, उनसे सावधान हो जाएं, यही उसका काम्य था। इसी उद्देश्य से उसने रत्नजटित कंबल का नाटक रचा था। वह मुनि को स्खलना से बचाने का प्रयास कर रही है।

इसी प्रकार हमें भी समाज की स्खलनाओं को ध्यान में रखना है और हृदय में घुसे हुए मलीन भावों को जीतना है। ऐसा करने से हमारा इह लोक-परलोक दोनों में कल्याण होगा।

कर्मादान

[२]

जिसका समभाव, करुणाभाव एवं मैत्रीभाव इतना व्यापक बन जाता है कि वह त्रस और स्थावर—सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक हो जाय, जिसके जीवन में संसार के किसी भी सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ सम्बन्धी आसक्ति नहीं रह जाती, जो सब प्रकार के पापमय कृत्यों से अपने को पृथक् कर लेता है और जो महाव्रतों का परिपालन करने में समर्थ होता है, वही श्रमणधर्म के पालन का अधिकारी है। श्रमणधर्म का पालन करने के लिए गृहस्थी से नाता तोड़कर एकान्त साधना से नाता जोड़ना पड़ता है। किन्तु श्रावक का जीवन मात्र एक मर्यादा के साथ, आचार से परिपूर्ण होता है। वह अपनी परिस्थिति और सामर्थ्य के अनुसार देशविरति का आचरण करता है। श्रावक के व्रतमय जीवनादर्श का सम्यक् प्रकार से निरूपण हमें उपासकदशांग सूत्र में मिलता है। उसमें भगवान् महावीर के समय के दस श्रावकों का विवरण है, जिससे श्रावकधर्म की एक स्पष्ट रूपरेखा हमारे समक्ष खिंच आती है।

उपासकदशांग में पहला चरित आनन्द श्रावक का है। आनन्द के माध्यम से उसमें श्रावक के बारह व्रतों पर प्रकाश डाला गया है। पहले व्रतों का निरूपण और फिर उनके अतिचारों का प्रतिपादन यह क्रम उसमें रक्खा गया है। आनन्द ने विभिन्न व्रतों में क्या-क्या मर्यादाएँ रक्खीं, यह भी विशद रूप से वर्णन मिलता है।

आनन्द सम्बन्धी उल्लिखित वर्णन केवल आनन्द के लिए ही नहीं, देशविरति का पालन करने वाले प्रत्येक साधक के लिए है। उस वर्णन के प्रकाश में श्रावक अपने व्रतमय जीवन का निर्माण कर सकता है और आदर्श

श्रावक बनकर अपने जीवन को सफल कर सकता है। यहाँ कर्मादान का विचार करना है। कल 'कर्मादान' शब्द के अर्थ पर विचार किया जा चुका है। ये कर्मादान पन्द्रह हैं, यह भी कहा जा चुका है। इस वर्गीकरण में उन सभी कर्मों का समावेश कर लेना चाहिए जो महारंभ के जनक हैं और जिनसे घोर अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। ये कर्मादान जानने के योग्य हैं जिससे आत्मा भारी न बने। कर्मादानों के विषय में आचार्य हरिभद्र, आचार्य अभयदेव और आचार्य हेमचन्द्र आदि ने कर्मादानों की व्याख्या की है और उनके भेदों पर अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। यहाँ संक्षेप में इन पर विचार करना है—

(१) **इंगाल कम्मे** (अंगार कर्म)—इंगाल का अर्थ है कोयला। कोयला बना कर बेचने का धंधा करने वाला अग्निकाय, वनस्पतिकाय और वायुकाय के जीवों का प्रचुर परिमाण में घात करता है। अन्य त्रस आदि प्राणियों के घात का भी कारण बनता है। इस कार्य से महान् हिंसा होती है। कोयला बनाने के लिए लकड़ी का ढेर कर-करके उसमें आग लगानी पड़ती है जैसे कुंभार मिट्टी के बर्तनों को पकाने के लिए उनका ढेर करता है। प्रायः जीव-जन्तु जहां शीतलता पाते हैं वहां निवास करते हैं, लकड़ी के पास और उसके सहारे भी अनेकानेक जीव रहते हैं। ऐसी स्थिति में लकड़ी की ढेरी को जलाने से कितने जीवों की हत्या होती है, यह तो केवल भगवान् ही जानते हैं। अतएव कोयला बनाने का धंधा करने वाला महारंभ और त्रस जीवों की हिंसा का भी भागी बनता है। धंधे के रूप में इस कार्य को करने से बड़े परिमाण में करना पड़ता है। अतएव महारंभ का कारण होने से इंगालकम्म (अंगार कर्म) श्रावक के करने योग्य नहीं है।

कुछ आचार्यों ने अंगार कर्म का व्यापक अर्थ लिया है। वे अंगार का अर्थ अग्नि मान कर इसकी व्याख्या करते हैं। अगर यह अर्थ लिया जाय तो लोहकार, स्वर्णकार, हलवाई और भड़भूंजे का धंधा भी अंगार कर्म के अन्तर्गत आ जाएगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि व्याख्याकारों के विचारों पर देश, काल और वातावरण की छाया भी पड़ती है।

जैसा यहाँ श्रावक के कर्म पर विचार किया गया है, उसी प्रकार मनुस्मृतिकार ने ब्राह्मणों के कर्म बतलाए हैं। ब्राह्मणों के कर्म का निरूपण करने में मनुस्मृतिकार का लक्ष्य यह रहा प्रतीत होता है कि त्याग-साधना-परायण ब्राह्मण अर्थोपार्जन में लीन न बन जाएँ। श्रावक का पद भी ऊँचा है। श्रावक को ब्राह्मण भी कहा गया है। साधु की तरह श्रावक भी किसी को शिक्षा दे सके, ऐसा लक्ष्य है।

किन्तु शिक्षा वही दे सकता है जो स्वयं त्याग करता है। स्थूल प्राणातिपात का और महारंभ-महापरिग्रह का स्वयं जो त्याग करेगा वही दूसरे को इनके त्याग की प्रेरणा कर सकेगा, अन्यथा

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे,
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।'

यह उक्ति चरितार्थ होगी। जो स्वयं त्याग करता है और शिक्षा देता है, उसका प्रभाव अड़ौसी-पड़ौसी पर क्यों नहीं पड़ेगा? उनका परिमार्जन क्यों नहीं होगा? त्याग भावना विद्यमान होने मे उसकी वाणी प्रभावोत्पादक होगी आचार के अनुरूप विचार जब भाषा के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं तो अवश्य दूसरों पर स्थायी प्रभाव अंकित करते हैं। श्रोताओं के हृदय में परिवर्तन ला देते हैं। हाँ, कोई एकदम ही अपात्र और कुसंस्कारी श्रोता हो तो बात दूसरी है।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों की दृष्टि से ईंटें पकाने, खपरा पकाने का तथा लोहार आदि का धंधा अंगार कर्म में समाविष्ट हो जाता है पर कोयला बना-बना कर बेचना अत्यन्त खर कर्म है, अतएव श्रावक को इसका परित्याग करना ही चाहिए।

(२) वणकम्मे (वनकर्म)—वृक्षों को काट कर बेचने का काम वनकर्म कहलाता है। वनकर्म करके मनुष्य घोर पाप उपार्जन करता है। वन के वृक्षों को काटने का ठेका लेने वाला किसी अन्य बात को ध्यान में नहीं रखता।

उसके सामने एक ही लक्ष्य रहता है कि अधिक से अधिक वृक्षों को काट कर कैसे अधिक से अधिक धन कमाया जाय।

एक समय था जब फलदार वृक्षों को काटना कानूनी अपराध समझा जाता था। आज भी राष्ट्रनायक नेहरू जी निर्देश करते हैं कि वृक्षों का काटना अत्यन्त हानिकारक है। वे कहते हैं—जब तक दस वृक्ष नये न लगा दिए जाएँ तब तक एक वृक्ष न काटा जाए। मगर बड़े-बड़े साफ किये जा रहे हैं जिससे ईंधन तथा गृह निर्माण के लिए भी लकड़ी मिलना मुश्किल हो जाता है।

भारतीय संस्कृति में वट, पीपल, नीम आदि वृक्षों के काटने में भय बतलाया गया है। संभवतः इस विधान के पीछे इन विशालकाय वृक्षों की रक्षा करने का ही ध्येय रहा हो। साधारण जनता ऐसे वृक्षों को काटना अनिष्ट-कारक समझती आई है, परन्तु अब यह धारणा परिवर्तित होती जा रही है।

जब वृक्षों के सम्बन्ध में भारतीय जनता का यह दृष्टिकोण था तो पशुओं की बलि की बात कहाँ तक संगत हो सकती है?

वनस्पति की गणना स्थावर जीवों में की गई है, किन्तु अन्य स्थावर जीवों की अपेक्षा वनस्पति में चेतना का अंश किंचित अधिक विकसित प्रतीत होता है। अतएव उसकी रक्षा की ओर इतर लोगों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ हो, यह स्वाभाविक है। धार्मिक दृष्टि से वृक्षों का काटना पाप है ही, मगर लौकिक दृष्टि से देखा जाए तो भी उनका काटना हानिकारक है। वृक्षों को सुरक्षित रखने से छाया, फल फूल आदि की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ वृक्षों की बहुतायत होती है वहाँ वर्षा भी अधिक होती है, जिससे फसल में वृद्धि होती है। इस प्रकार धार्मिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से वृक्षों का उच्छेदन करना अनुचित है, अधर्म है।

जीव-जगत् पर वृक्ष का कितना महान् उपकार है! एक-एक वृक्ष हजार-हजार प्राणियों का पालन करता है। उससे पशुओं, पक्षियों और मानवों का—सभी का रक्षण और पालन होता है। अतएव जब वृक्ष हमारा रक्षक है तो हमारे द्वारा भी वह रक्षणीय होना चाहिए। पुराने जमाने के लोग पुराने और

उखड़े हुए वृक्षों के सिवाय अन्य किसी को काटना उचित नहीं समझते थे। यह उनका व्यावहारिक दृष्टिकोण था। धार्मिक दृष्टिकोण से वृक्षों का छेदन करना इसलिए वर्जित है कि उसके प्रत्येक अंग में हजारों जीव निवास करते हैं। वृक्ष के मूल में पृथक् और फलों-फूलों में पृथक्-पृथक् जीव होता है। जो वृक्ष का उच्छेदन करता है वह एक ऐसे साधन को नष्ट करता है जो हजारों वर्ष विद्यमान रह कर अनेकानेक जीवों का अनेक प्रकार से उपकार कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह जीवघात के पाप का भागी भी होता है। अतएव सद्गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह जंगल का ठेका लेकर और वृक्षों को काट कर अपनी आजीविका न चलाए। उदर पूर्ति के अनेक साधन हो सकते हैं जो पापरहित या अल्पतर पाप वाले हों। ऐसी स्थिति में पेट पालने के लिए घोर पाप उपार्जित करना और आत्मा को गुरुकर्मा बनाना विवेकशील पुरुषों के लिये उचित नहीं है। मनुष्य सम्पत्तिशाली बनने के लिए पाप के कार्य करता है मगर यह नहीं सोचता कि ऐसा करके वह आत्मा की अनमोल सम्पत्ति नष्ट कर रहा है। उस सम्पत्ति के अभाव में उसका भविष्य अत्यन्त दयनीय हो जाएगा। अल्पारंभ के कार्यों से ही जब गृहस्थ जीवन का निर्वाह निर्वाध रूप से हो सकता है तो क्यों अनन्त जीवों का घात किया जाय?

पर का घात करना वस्तुतः आत्मघात करना है, क्योंकि पर के घात से आत्मा का अहित होता है। एक मनुष्य किसी जीव का घात करने को उद्यत हो रहा है, कदाचित् उस जीव का घात हो जाय, कदाचित् वह बच भी जाय, मगर घातक तो पाप बन्ध करके अपनी आत्मा का घात कर ही लेता है। उसके चित्त में कषाय का जो उद्रेक होता है, उससे आत्मिक गुणों का विघात होता है और वह विघात ही उसका आत्मविघात कहलाता है।

स्मरण रखना चाहिए, कर्म अपना फल दिये बिना नहीं रहते। घात का प्रतिघात होता है। आज तुम जिसका छेदन-भेदन करके प्रसन्न होते हो, वही आगे चलकर तुम्हारा छेदन-भेदन करने वाला बन सकता है। चरितानुयोग में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि हिंसक हिंस्य बन गया, छेदक को छेद्य बनना पड़ा और भेदक को भेद्य बनना पड़ा।

मनुष्य अपने को सर्व श्रेष्ठ सामर्थ्यशाली और जीवजगत् का सम्राट् समझता है, मगर सम्राट् सदा सम्राट् नहीं बना रहेगा, एक समय ऐसा आ सकता है जब उसे रंक की स्थिति में आना पड़े। मनुष्य को कीट, पतंग और वनस्पति आदि के रूप में भी जन्म लेना पड़ता है। उस समय यह सर्व श्रेष्ठ सामर्थ्य कहाँ पाओगे? इस अल्प- कालीन वर्त्तमान वैभव की चकाचौंध में अनन्त भविष्य को क्यों आँखों से ओझल कर रहे हो? जो अपने को विशिष्ट सामर्थ्यशाली समझता है उसमें भविष्य को देखने का भी सामर्थ्य होना चाहिए न!

इन सब स्थितियों को यथावत् जानकर देशविरत श्रावक पाप से भय मानता है। अज्ञान व्यक्ति ही पाप से नहीं डरते। पाप का भय भाव में है। बदनामियां लोक-परलोक का भय तो मोह के कारण होता है। पाप का भय आत्मा की निर्मलता को उत्पन्न करता है, वह उत्थान का कारण है। कई लोग पाप से तो नहीं डरते किन्तु अपयश और अपवाद से डरते हैं। ऐसे लोग जीवन को उच्च कक्षा पर आरूढ़ नहीं कर सकते। उनमें एक प्रकार की लोकैषणा है। जब अपवाद एवं अपयश की संभावना न हो तो उनकी पाप में प्रवृत्ति भी हो सकती है। अतएव पाप से भयभीत न होकर केवल लोकापवाद से भयभीत होने वाला साधक सफल नहीं होता। जो पापभय को प्रधान और लोकभय को गौण समझता है, वही साधक उत्तम माना जाता है।

सिंह गुफावासी, सर्प की बामी पर साधना करने वाले और कुंए की पाल पर अप्रमत्त रहने वाले मुनियों ने भय को जीता, प्रमाद को जीता और पापभय को भी बचाया, अतएव वे अपनी साधना में सफल होकर गुरुचरणों में पहुँचे।

अध्यवसायों की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) वर्द्धमान (२) हीयमान और (३) अवस्थित। चित्त की परिणति या तो उच्च से उच्चतर दशा की ओर बढ़ती हुई होती है या नीचे की ओर गिरती हुई होती है अथवा अवस्थित अर्थात् ज्यों की त्यों स्थिर रहती है। उत्तम कोटि के साधक वर्द्धमान स्थिति में रहते हैं और मध्यम श्रेणी के अवस्थित कोटि में। उत्तम कोटि के

साधक आठवें गुणस्थान से निरन्तर ऊँचे चढ़ते हुए बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचते हैं और सिद्धि का झंडा गाड़ देते हैं। उनकी आत्मा में अनन्त ज्ञान की ज्योति जगमगाने लगती है। मध्यम साधक छठे-सातवें गुणस्थान तक ही रह जाता है। निम्न कोटि का साधक हीयमान दशा में वर्तता है। उसके परिणामों की धारा गिरती जाती है। भगवान् महावीर ने साधकों को सचेत किया है—

'जाए सद्धाए णिक्खंतो तमेव अणु पालए।'

जिस श्रद्धा, आत्मबल, उत्साह और उल्लास से व्रतों को धारण किया है, उसे कम न होने दो। एक बार अन्तर में जो ज्योति जागृत हुई है, वह मन्द न पड़ने पाए, बुझ न जाए, साधक को सदैव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए।

सिंहगुफावासी मुनि जब रूपाकोशा के द्वार पर पहुँचा तब उसका अध्यवसाय अलग प्रकार का था। भिक्षा अंगीकार करने पर उस अध्यवसाय में परिवर्तन हो गया। निस्पृह साधक कभी नहीं फिसलता, स्पृहावान् कभी भी फिसल सकता है। किसी ने ठीक ही कहा है—

चाह छोड़, धीरज धरे तो हो बेड़ा पार।

मानसिक दुर्बलता मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाती है। सिंह गुफावासी मुनि ने दुर्बलता से ग्रस्त होकर रूपाकोशा से कहा—नेपाल का मार्ग कितना ही दुर्गम हो, भले अगम्य ही हो, मैं वहाँ से रत्नजटित कंबल ले आऊँगा। जिसने सिंह की गुफा में चार मास—एक सौ बीस दिन-निर्भयता के साथ व्यतीत किये हों, उसे जंगल से क्या भय! मैंने भय की वृत्ति पर पूरी तरह विजय पाली है, अतएव आप मेरी बात पर अविश्वास मत लाइए। रत्न कंबल मैं ला दूँगा, किन्तु अभी यह साधना पूर्ण होने दीजिए।

एक चाह से दूसरी चाह उत्पन्न होती है। रूपाकोशा समझ गई कि मुनि का मन विचलित हो गया है। वह इस रंगमहल के प्रलोभन में फँस गया

है। मगर पूरी कसौटी किए बिना वह मानने वाली नहीं। मुनि को स्थिर करने का उसने निश्चय कर लिया था। अतएव उसने कहा— आप निडर और आत्मजयी वीर हैं, किन्तु वर्षा प्रारम्भ होने पर मार्ग में कीचड़ ही कीचड़ हो जाएगा। चोरों और हिंसक पशुओं का डर रहेगा। अतएव रत्नकंबल पहले ही ले आइए।

रूपाकोशा का आग्रह मुनि को प्रीतिकर नहीं हुआ। उसके मन में निराशा का भाव उदित हुआ और शीघ्र ही विलीन भी हो गया। दूसरा कोई मार्ग न देख मुनि रत्नकंबल लाने के लिए चल पड़े।

राग के वशीभूत होकर मनुष्य क्या नहीं करता? राग उसके विवेक को आच्छादित करके उचित-अनुचित सभी कुछ करवा लेता है। वह प्राण हथेली में लेकर अतिसाहस का कोई भी काम कर सकता है।

मुनि रूपाकोशा के भवन में ठहरे थे। उनकी आत्मा इतनी प्रबल नहीं थी कि वह उस वातावरण पर हावी हो जाती, अपनी पवित्रता और सात्विकता से उसे परिवर्तित कर देती, जहर को अमृत के रूप में परिणत कर देती। परिणाम यह हुआ कि उस वातावरण से उनकी आत्मा प्रभावित हो गई। जब आत्मा में निर्बलता होती है तो आहार, विहार, स्थान और वातावरण आदि का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रहता। अतएव साधक को इन सब का ध्यान रखना चाहिए और इनकी शुद्धि को आवश्यक समझना चाहिये।

उक्ति है—'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' अर्थात् मनुष्यों में दोषों और गुणों की उत्पत्ति संसर्ग से होती है। यदि उत्तम विचार वाले का संसर्ग हो तो सत्कर्मों की प्रेरणा मिलती है। समान या उच्च बुद्धि वाले की संगति हो तो वह मार्ग से विचलित होने पर बचा लेगा। इसके विपरीत यदि दुष्ट साथी मिल गए तो फिसलते को और एक धक्का देंगे।

तो रूपाकोशा की प्रेरणा से मुनि रत्नकंबल लाने को उद्यत हो गए। पहाड़ी भूमि की दुर्गमता निराली होती है। वहाँ घुमावदार ऊँचे-नीचे ऊबड़-खावड़ रास्ते से जाना पड़ता है, झाड़ियों से उलझना पड़ता है और जंगली

जानवरों के बीच से मार्ग तय करना पड़ता है। मुनि ने बाहर का भय जीत लिया है और पाप के भय को पीठ पीछे कर दिया है। वे यह भी भूल गए हैं कि लौटते समय वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाएगा और विहार करना निषिद्ध होगा, तब क्या होगा ?

मुनि अडोल भाव से पहाड़ों और वनों को पार करते हुए नेपाल देश में जा पहुँचे। फिर राजधानी में भी पहुँच गए। उन्हें खाने-पीने की सुधि नहीं थी, एक मात्र रत्न कंबल प्राप्त करने की उमंग थी। उन्हें बतलाया गया था कि नेपाल-नरेश रत्न कंबल वितरण करते हैं। उन्हें खयाल ही नहीं आया कि जिसके शरीर पर साधारण वस्त्र का भी ठिकाना नहीं वह किस बिरते पर रत्न जटित कंबल की चाह करता है !

यह निमित्त (रूपाकोशा) वास्तव में चक्कर में डालने वाला नहीं, उबारने वाला है।

मुनि इस बात से प्रसन्न है कि वह सफलता के द्वार तक आ पहुँचा है। वह नहीं सोच सकता कि उस रत्न कंबल का क्या होगा ?

बन्धुओ, यह साधक की हीयमान स्थिति है। इसे समझ कर हमें अपनी साधना में सजग रहना है। छल-कपट, माया-मोह, फरेब किसी समय भी अपना सिर ऊंचा उठा सकते हैं। यदि असावधान हुए तो नीचे गिरना संभव है। अतएव सावधान होकर ज्ञान बल लेकर चलना है, पाप से डरना है, भगवान् से डरना है। यह लक्ष्य कभी मंद न पड़े। यदि पाप से भय है, अधः-पतन से भय है तो शास्त्र या धर्म की शिक्षा काम आएगी। पाप का भय हो तो साधक कहीं भी रहे, जीवन निर्मलता के मार्ग में अग्रसर ही होता जाएगा और लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण होगा।

———

कर्मदान

[३]

अध्यात्म के क्षेत्र में शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही सिद्धि मानी गई है और उस सिद्धि को प्राप्त करना ही प्रत्येक साधक का चरम लक्ष्य है। जल तभी तक ढुलकता, ठोकरें खाता, ऊँचे-नीचे स्थानों में पददलित होता और चट्टानों से टकराता है, जब तक महासागर में नहीं मिल जाता। नदी-नाले के जल की यह सब मुसीबतें समुद्र मे मिल जाने के पश्चात् समाप्त हो जाती हैं। साधक के विषय में भी यही बात है। उसे भी ऊँची-नीची अनेक भूमिकाओं में से गुजरना पड़ता है, अनेकानेक परीषहों और उपसर्गों की चट्टानों से टकराना पड़ता है और ठोकरें खानी पड़ती हैं। किन्तु जब वह सिद्धि रूपी महासागर में पहुँच जाता है तो उसका भटकना, ठोकरें खाना और टकराना सदा के लिए समाप्त हो जाता है। उसे शाश्वत और अविचल स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

समुद्र में प्रवेश करने के पश्चात् भी जल वाष्प बनने पर रूपान्तर को प्राप्त करता है किन्तु सिद्धि प्राप्त होने पर साधक को किसी रूपान्तर-पर्यायान्तर को प्राप्त नहीं करना पड़ता। चरम सिद्धि के अनन्तर न तो किसी प्रकार की असिद्धि की संभावना रहती है और न उससे बढ़कर कोई सिद्धि है जिससे प्राप्त करने का प्रयत्न करना आवश्यक हो।

जो साधना करता है और साधना के हेतु ही अपनी समस्त शक्तियाँ समर्पित कर देता है, उसी को सिद्धि प्राप्त होती है। साधना करने वाला साधक कहलाता है। साधारणतया साधनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं—अर्थसाधना, कामसाधना, धर्मसाधना आदि। अर्थ या काम की साधना का

आत्मोत्कर्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह साधना बाह्य साधना है और यदि उसमें सफलता मिल जाय तो आत्मा का अधःपतन भले हो, उत्थान तो नहीं ही होता। ऐसी साधनाएँ इस आत्मा ने अनन्त-अनन्त वार की हैं, मगर उनसे कोई समस्या सुलझी नहीं। इन साधनाओं में सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी घोर असिद्धि का सामना करना पड़ता है। किन्तु धर्मसाधना (आत्मसाधना) से प्राप्त होने वाली सिद्धि शाश्वत सिद्धि है। यह सिद्धि आत्मा के अनन्त और अक्षय वैभव-कोष को सदा के लिए उन्मुक्त कर देती है और अव्याबाध सुख की प्राप्ति का कारण होती है।

हम अपनी ओर स्वयं दृष्टिपात करें और सोचें कि हमारे जीवन में कौन-सी साधना चल रही है? हम अर्थ और काम की साधना में व्यग्र हैं अथवा धर्म की साधना कर रहे हैं? स्मरण रखना चाहिए कि अर्थ और काम की साधना छूटे बिना धर्मसाधना संभव नहीं है। दोनों परस्पर विरोधी हैं। जहां धर्म साधन की प्रधानता होगी वहां अर्थ और काम की साधना गौण या लंगड़ी हो कर ही रह सकती है। अर्थ-काम साधना का भाव वहाँ महत्व का नहीं रहेगा, क्योंकि वहाँ दृष्टिकोण आत्मा की शुद्धि और निज-गुण वृद्धि का रहेगा।

जीवन में एक ऐसी स्थिति भी होती है जहां मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की साधना करता है। गृहस्थ जीवन में ऐसी स्थिति है। किन्तु विवेक शील गृहस्थ इनका सेवन इस ढंग से करता है कि धर्म, अर्थ और काम में से कोई किसी का विरोधी न बने। इन तीनों के परस्पर अविरोधी सेवन से गृहस्थ जीवन में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत वह अत्यन्त श्रेष्ठ बनता है। सद् गृहस्थ अर्थ और काम का सेवन धर्म का घात करके नहीं करेगा और धर्म का सेवन अर्थ और काम का नियामक होता है पर विघातक नहीं होगा। अर्थ और काम का सेवन भी उसका अविरुद्ध होगा। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जब तक गार्हस्थिक उत्तरदायित्व को वहन करके चल रहा है तब तक वह धर्म का बहाना करके अपने सामाजिक या पारिवारिक कर्त्तव्यों से विमुख नहीं होगा और श्रावक के योग्य धर्मसाधना का भी परित्याग नहीं

करेगा। अर्थोपार्जन करते समय और उसका उपभोग करते समय धर्म का विस्मरण नहीं करेगा। इस प्रकार पारस्पर अविरोधी धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते हुए वह अपने गृहस्थ जीवन को आदर्श बनाएगा और जब एकान्त धर्मसाधना का सामर्थ्य अपने में पाएगा तो गार्हास्थिक उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त कर लेगा। एक आचार्य कहते हैं—

परस्पराविरोधेन, त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमदः सौख्य, मपवर्गो ह्यनुक्रमात् ॥

यदि त्रिवर्ग का अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का सेवन इस प्रकार किया जाय कि कोई किसी के सेवन में बाधक न हो तो ऐसे मनुष्य लौकिक सुख के साथ त्यागी बनकर अनुक्रम से, मुक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं।

साधक को अपना चिन्तन, स्मरण, भाषण और व्यवहार ऐसा रखना चाहिए जो लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक हो। अर्थ और काम की साधना में वहां रुक जाएगी जहां वह धर्म साधना में गतिरोध उत्पन्न करेगी। जैसे दुर्घटना की आशंका से चालक गाडी को रोक देता है, उसी प्रकार धर्मसाधना का साधक अर्थ एवं काम की गाड़ी को रोक देगा। श्रावक सदा सजग रहेगा कि काम और अर्थ कहीं धर्म के मार्ग में बाधक तो नहीं हो रहे हैं। उसके लिए धार्मिक साधना का दृष्टिकोण मुख्य है, अर्थ और काम गौण हैं। गृहस्थ आनन्द ने इसी कारण अर्थ और काम पर रोक लगा दी थी।

पिछले दिनों अंगारकर्म और वन कर्म पर चर्चा की गई। जब कहीं कोई नवीन नगर बसाना होता है तो उस जगह के समस्त वृक्षों को कटवाना और घास-फूस को जला देना पड़ता है। मगर व्रत की साधना को लेकर चलने वाले साधक के लिए ऐसे धंधे करना उचित नहीं है। वन के बड़े २ वृक्ष जब काटे जाते हैं तो अनेक पशु पक्षियों के घर-द्वार विनष्ट हो जाते हैं। यदि सहसा वृक्षों की कटाई हो तो पक्षी संभल नहीं पाते। उन पक्षियों का छोटा-मोटा पारिवारिक जीवन होता है। संभलने का अवसर न मिलने से उनके अंडे-बच्चे आदि सर्वनाश के ग्रास बन जाते हैं। कुछ पक्षी तो वृक्षों की कोटरों में ही घर

बना कर रहते हैं। जब यकायक वृक्ष कटने लगते हैं तो उनके लिए प्रलय का सा समय आ जाता है। बेहाल हो जाते हैं।

यह तो वृक्ष काटने की बात हुई किन्तु जहां वृक्ष काट कर कोयला बनाया जाता है वहाँ के प्राणियों का तो कहना ही क्या ! अतएव ऐसे निर्दयता पूर्ण कृत्य खरकर्म माने गए हैं।

(३) साडी कम्मे (शकट कर्म)—इसका सम्बन्ध वन कर्म से है। गाडी आदि बना कर बेचने का धंधा करना शकटकर्म कहलाता है। अथवा गाड़ी चलाना सागडीकर्म है। श्रावक को यह धंधा भी नहीं करना चाहिए। यह भी महाहिंसा से युक्त कर्म है। इसके लिए वनस्पति का विशेष रूप से उच्छेद करना पड़ता है। जो गाड़ी, गाड़ा, रथ आदि बनाता है, वह बैलों और घोड़ों आदि की बाधा का भी कारण बनता है। उनके मारण, छेदन, त्रास और संताप का निमित्त होता है।

गाड़ीवान के सामने दो बातें होती हैं। पशु पर दया और स्वामी की आज्ञा का पालन। परन्तु उसका अधिक लगाव और झुकाव मालिक की आज्ञा की ओर होता है, क्योंकि मालिक उसे आजीविका देता है। आज्ञा के उल्लंघन से वह रुष्ट होता है, उलहना देता है। पशु मूक है। अत्याचार करने पर भी वह उसका प्रतीकार नहीं कर सकता, कुछ बिगाड़ नहीं सकता। अतएव पशु के प्रति दयालु होने पर भी उसे स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए उसके प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना पड़ता है। अतएव श्रावक ऐसी आजीविका नहीं करता जिससे पशुओं के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना पड़े।

कई लोग पशुओं की दौड़ की होड़ लगाते हैं और जो पशु दौड़ में विजयी होता है, उसके स्वामी को पुरस्कार मिलता है। घोड़ों की दौड़ आजकल भी होती है। किन्तु ऐसा करना उनकी जान के साथ खिलवाड़ करना है।

मनुष्य अपनी उत्कंठा तथा कुतूहलवृत्ति का पोषण करने के लिए पशुओं को सताता है और अनर्थदंड के पाप का भागी बनता है। स्मरण रखना चाहिए कि जहां आवश्यकता की पूर्त्ति नहीं है, वहां पशुओं के साथ

किया जाने वाला दुर्व्यवहार अर्थदण्ड की सीमा से बाहर निकल कर अनर्थदण्ड की सीमा में चला जाता है।

धर्म की साधना करने वाले मुमुक्षु को बेलगाम नहीं होना चाहिए। मुमुक्षु का दर्जा वही प्राप्त कर सकता है जो अर्थ और काम पर अंकुश लगाता है जिसने अर्थ और काम पर अंकुश लगाना सीखा ही नहीं है, जप तप आदि साधना जिसके लिए गौण या नगण्य है, वह वास्तव में साधक नहीं कहा जा सकता। वह गिरता-गिरता कहां तक जा पहुँचेगा, नहीं कहा जा सकता।

गुणों को छोड़ कर गुरु या परमात्मा की आराधना कितनी भी की जाय, बेकार है। ज्ञान, दर्शन और चरित्र कोई अलग देवता नहीं हैं। गुणी के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना गुणी (द्रव्य) नहीं रह सकता। एक दूसरे के बिना दोनों के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जैसे हाथ, पैर, पीठ, पेट आदि अंगोपांगों का समूह ही शरीर कहा जाता है, इनसे पृथक् शरीर की कहीं सत्ता नहीं है।और शरीर से पृथक् उसके अंग-उपांगों की भी सत्ता नहीं है, इसी प्रकार गुणों का समूह ही द्रव्य है और द्रव्य के अंश धर्म ही गुग हैं। परस्पर निरपेक्ष गुण या गुणी का अस्तितत्व नहीं हैं।

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, सभी जीवद्रव्य हैं। इनकी उपासना, आराधना और भक्ति कर लेना ही पर्याप्त है। गुणों का साधन करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार की भ्रान्ति किसी को हो सकती है। किन्तु भूलना नहीं चाहिए कि अर्हन्त आदि गुणों के कारण ही वन्दनीय हैं। वास्तव में हम गुणी के द्वारा गुणों को ही वन्दन करते हैं। गुणों को वन्दन करने का उद्देश्य यह हैं कि हमारे चित्त में गुणों की महिमा अंकित हो जाय और हम उनका लाभ कर सकें।

जो व्यक्ति ज्ञान के बदले अज्ञान, कुदर्शन और कुचारित्र के पथ पर चल रहा है, उसकी गुरु सेवा, मुनिभक्ति और भगवदाराधना आदि सब व्यर्थ हैं। भले ही वह ऊपर-ऊपर से भक्ति का प्रदर्शन करता हो, तथापि यदि हिंसा, असत्य और मोह-ममता के मार्ग पर चल रहा है तो ऐसा ही समझना चाहिए

कि उसने वास्तव में भक्ति नहीं की है। उसने भक्ति के रहस्य को समझा ही नहीं है। कहा भी है—

प्रभु तो नाम रसायण सेवे,
पण जो पथ्य ,पलाय नहीं।
तो भव-रोग कदीय न छूटे,
आत्म शान्ति ते पाय नहीं ।।

प्रभु का नाम अनमोल रसायन है। वस्तु-रसायन के सेवन का प्रभाव सीमित समय तक ही रहता है. किन्तु नाम रसायन तो जन्म-जन्मान्तरों तक उपयोगी होता है। उसके सेवन से आत्मिक शक्तियाँ बलवती हो जाती हैं और अनादि काल की जन्म-मरण की विविध व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

रसायन के सेवन के साथ यदि पथ्य का सेवन न किया जाय तो कोई लाभ नहीं होता। रसायन का सेवन निष्फल हो जाएगा। यही नहीं, कदाचित् विपरीत प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है। नाम-रसायन के सेवन के विषय में भी यही नियम लागू होता है। नाम-रसायन के सेवन के लिए अहिंसा आदि सदाचरण पथ्य हैं। इनका पालन किये विना नाम-रटन वृथा है।

सच्ची धर्मसाधना करने वाला मुमुक्षु धर्म के विरुद्ध आचरण की संभावना होते ही अपने ऊपर नियंत्रण लगा लेता है। गलती उससे हो सकती है, अनुचित शब्द का प्रयोग भी हो सकता है, किन्तु अपनी गलती प्रतीत होते ही वह उसका समुचित परिमार्जन कर लेता है और ऐसा करने में उसे तनिक भी हिचक नहीं होती। मुमुक्षु का जीवन अत्यन्त स्पृहणीय और अभिनन्दनीय होता है। दूसरों पर उसके जीवन की ऐसी गहरी छाप लग जाती है कि वह सर्वत्र सम्मान पाता है। जीवन को सफल बनाने की कुंजी उसके हाथ लग जाती है।

किन्तु यह तभी सम्भव है जब लोभवृत्ति पर अंकुश रक्खा जाय और कामना पर नियंत्रण किया जाय। इतना कर लेने पर अन्याय ग[illegible] रण भी रुक जाते हैं, क्योंकि कामना ही मनुष्य [illegible] घसीट ले[illegible] ी

है और जब कामना पर काबू पा लिया जाता है तो सभी दुर्गुण दूर हो जाते हैं। एक उक्ति प्रसिद्ध है—

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।

भूख की अन्तर्ज्वाला से जो जल रहा है, वह करूणाहीन बन जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सर्पिणी १०८ अंडे देती है परन्तु उन्हें खा जाती है। कुतिया भी भूख की मारी अपने बच्चे को निगल जाती है। सद्यः प्रसूता कुतिया को भोजन देने की प्रथा इसी कारण प्रचलित है। ऐसे प्राणी उपदेश के पात्र नहीं हैं क्योंकि असह्य भूख से प्रेरित हो कर ही वे ऐसा करते हैं। मगर जिस मनुष्य में इतना सामर्थ्य है कि अपनी भूख मिटा कर दूसरों को भी खिला दे, वह यदि करुणाहीनता का काम करता है तो यह स्थिति अत्यन्त दयनीय और शोचनीय है।

जो मनुष्य स्थावर और त्रस जीवों के बचाव का ध्यान रखने वाला है, उससे क्या यह आशा की जा सकती है कि वह मनुष्यों के उत्पीड़न में निमित्त बनेगा ? वह जान-बूझ कर कदापि ऐसा नहीं करेगा कि किसी का जीवन या किसी की जीविका का उच्छेदन करके अपना स्वार्थ सिद्ध करे। जो भगवद्भक्ति-परायण है, उससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि भगवान् की भक्ति का उद्देश्य 'अपने जीवन को सद्गुणों के सौरभ से सुरभित करना है, परमात्मा के गुणों को अपनी आत्मा में प्रकट करना है। परमात्मिक गुणों की अभि-व्यक्ति सम्यक् चारित्र के द्वारा ही संभव है अतएव भगवद् भक्त पुरुष सम्यक्-चारित्र की आराधना अवश्य करेगा।

सम्यक् चारित्र के दो रूप है—संयम और तप। संयम नवीन कर्मों के आस्रव-बंध को रोकता है और तप पूर्व संचित कर्मों को क्षय करता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। किसी सरोवर को सुखाने के लिए दो काम करने पड़ते हैं—नये आने वाले पानी को रोकना और पहले के संचित को उलीचना। इन उपायों से सरोवर रिक्त हो जाता है। इसी

प्रकार आत्मा को कर्म-रहित बनाने के लिए भी दो उपाय करने पड़ते हैं—संयम की आराधना करके नवीन कर्मों के बन्ध को रोक देना पड़ता है और तप के द्वारा पूर्वसँचित कर्मों की निर्जरा करनी पड़ती है। इन दोनों उपायों से आत्मा पूर्ण निष्कर्म अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

इन्द्रिय और मन की वृत्तियों पर नियंत्रण करके पाप के खुले द्वार को रोकना संयम कहलाता है। यह संयम धर्म भी दो प्रकार का है—समस्त पापों का निरोध श्रमण धर्म अथवा सर्वविरति संयम कहलाता है और देशतः पापों का निरोध देशविरति संयम।

'अकरणान्मन्द करणं श्रेयः' अर्थात् कुछ भी न करने की अपेक्षा थोड़ा करना अच्छा है, इस कहावत के अनुसार पापों को सीमित रूप में लाकर जीवन को पवित्र बनाने वाला उससे अच्छा है जो पापों को बिल्कुल नहीं छोड़ता।

मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा, असत्य और चोरी आदि पापों का त्याग करना, इन्हें दूसरों से नहीं करवाना और इन पापों को करने वाले का अनुमोदन न करना पूर्ण सामायिक का आदर्श है। जो सत्त्वशाली महापुरुष इस आदर्श तक पहुँच सकें, वे धन्य हैं। जो नहीं पहुँच सकें उन्हें उसकी ओर बढ़ना चाहिए। इस आदर्श की ओर जितने भी कदम आगे बढ़ सकें, अच्छा ही है। कोई व्यक्ति यदि ऐसा सोचता है कि मन स्थिर नहीं रहता, अतएव माला फेरना छोड़ देना चाहिए, यह सही दिशा नहीं है। ऐसा करने वाला कौन-सा भला काम करता है? मन स्थिर नहीं रहता तो स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए। असफल होने के पश्चात् पुनः सफलता के लिए उत्साहित होना चाहिए न कि माला को खूंटी पर टाँग देना चाहिए। साधना के समय मन इधर-उधर दौड़ता है तो उसे शनैः शनैः रोकने का प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु काया और वचन जो वश में हैं, उन्हें भी क्यों चपलता युक्त बनाते हो? उन्हें तो एकाग्र रक्खो, और मन को काबू में करने का प्रयत्न करो। यदि काया और वाणी सम्बन्धी अँकुश भी छोड़ दिया गया तो घाटे का सौदा होगा। यह सत्य है कि मन अत्यन्त चपल है, हठीला है और शीघ्र काबू में नहीं आता। किन्तु उस पर

काबू पाना असंभव नहीं है। बार-बार प्रयत्न करने से अन्ततः उस पर काबू पाया जा सकता है। किसी उच्च स्थान पर पहुँचने के लिए एक-एक कदम ही आगे बढ़ना पड़ता है। आपका मन जो बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ भाग कर रहा है, उसे काबू में लाने का यही उपाय है। साधक को सजग रह कर उसका मोड़ बदलना चाहिए।

आँख की पुतली जैसे ऊपर-नीचे होती रहती है वैसे ही मन भी दौड़ता रहता है और कहीं मोह की सहायता उसे मिल जाय तब तो कहना ही क्या है? वह बहुत गड़बड़ा जाता है। मगर गड़बड़ाये मन को भी काबू में लाया जा सकता है।

मानव जीवन में मन का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह साधन का प्रधान आधार है, क्योंकि वही उत्थान एवं पतन का कारण है। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण मन ही है। जो मन को जीत लेता है, इन्द्रियां उसकी दासी बन जाती है। अतएव मनोविजय के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। धर्म-शिक्षा या अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा मन को वशीभूत किया जाता है।

कभी-कभी दीर्घकाल तक कठिन साधना करने वालों को भी मन विचलित कर देता है और साधना से डिगा देता है। सिंह गुफावासी मुनि की साधना मामूली नहीं थी। मगर उनका मन मचल गया। स्थूलभद्र के प्रति ईर्षा उसने जगाई और उनके समकक्ष प्रतिष्ठा पाने की लोभ वृत्ति उत्पन्न कर दी। मुनि असावधान होकर उसके चक्कर में आ गए। रूपाकोशा के द्वार पर पहुँचे और उसे सन्तुष्ट करने के लिए रत्न कंबल प्राप्त करने को चल दिए। व्रत-नियमों की साधना को भूल गए। वह साध्य अर्थात् काम विजय को सिद्ध करने के संकल्प से चले थे परन्तु साधन उलटा हो गया। रत्नकंबल को वह साधन मान बैठे।

नेपाल की दुर्गम घाटियों को पार करके वे नेपाल की राजधानी तक पहुंच गए। त्यागी और तपस्वी मुनि के आगमन को देख नेपाल-नरेश ने अपने को सौभाग्यशाली मान कर उनका सन्मान किया। माना कि घर बैठे गंगा आ गई है, आँगण में कल्पवृक्ष उग आया है। मुनि अर्धनग्न स्थिति में वहाँ पहुँचे, अतएव उनके प्रति राजा का आदरभाव अधिक जागा। नेपाल नरेश ने शिष्टाचार का अनुसरण करते हुए कहा—भगवन्! आदेश दीजिए आपकी क्या सेवा की जाए?

मुनिजी 'सोऽहम्' का नहीं प्रत्युत रत्नकंबल का जप करते हुए वहाँ पहुँचे थे, अतएव राजा के कहने पर उन्होंने रत्नकंबल की ही मांग की।

रत्न कंबल इधर-उधर लुटाये जा रहे थे, तो मुनि की मांग की पूर्त्ति करना क्या बड़ी बात थी? एक सुन्दर रत्न-जटित कंबल लाकर राजपुरुष ने मुनि को अर्पित किया। मुनि के सन्तोष और उल्लास का पार न रहा। तपश्चरण से जन्म-जन्मान्तर में सिद्धि प्राप्त होती है परन्तु इन मुनि को अपने तप की सिद्धि तत्काल प्राप्त हो गई। मुनि रत्नकंबल पा कर मानो कृतार्थ हो गए। अत्यन्त प्रसन्नता के साथ वे तुरन्त पाटलीपुत्र लौटने लगे।

भगवान् का प्रीतिभाजन बनने के लिए आत्मबल चाहिए। दैवी और दानवी बाधाओं से न डरने वाले दृढ़ संकल्प भक्त पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। कमजोरों पर वे भी प्रसन्न नहीं होते।

मुनि को रत्न कंबल क्या मिला मानो अपनी समग्र साधना का अभीष्ट फल मिल गया। बड़े जतन से उसे संभाले वे पाटलीपुत्र की ओर तेजी से बढ़ रहे थे। होनहार टाले नहीं टलती। मनुष्य क्या सोचता है और क्या हो जाता है? भवितव्यता के आगे समस्त मनोरथ एक ओर धरे रह जाते हैं। मुनि तेज विहार करते हुए चले जा रहे थे कि मार्ग में लुटेरों से भेंट हो गई। उन्होंने रास्ता रोक कर कड़कते स्वर में पूछा—क्या है तुम्हारे पास?

अपरिग्रही मुनि को चोरों और लुटेरों से कोई भय नहीं होता, किन्तु सिंह गुफावासी मुनि इस समय अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर चुके थे। उनके

पास रत्नकंबल के रूप में परिग्रह था। अतएव लुटेरों को सामने देख कर उनका हृदय धड़कने लगा। पहली वार उन्हें आभास हुआ कि परिग्रह किस प्रकार भय एवं मानसिक क्लेश को उत्पन्न करता है! सिंह के भय को वीरतापूर्वक जीत लेने वाला मुनि रत्नकंबल छिन जाने के भय से कातर हो उठा। क्षण भर के लिए उनके मन में तीव्र ग्लानि उपजी और उन्होंने दबे स्वर में कहा— मैं तो साधु हूं।

मगर चोर और लुटेरे साधु-असाधु में भेद नहीं करते। इस सम्बन्ध में वे समभावी होते हैं। जिसके पास मूल्यवान् वस्तु हो वे सभी उनके लिए समान हैं।

लुटेरों ने रत्न-कंबल छीन लिया। उस समय मुनि के मन में कैसे-कैसे विचार उत्पन्न हुए होंगे, यह तो भुक्त भोगी ही समझ सकता है। मुनि को ऐसा लगा जैसे उनका सर्वस्व छिन गया हो।

संसार चक्र अत्यन्त विषम है। यहां क्या अच्छा और क्या बुरा, यही निर्णय करना कठिन है। एक स्थिति में जो वस्तु सुख का कारण होती है, दूसरी स्थिति में वही दुःख का कारण सिद्ध होती है। जिन पुद्गलमय पदार्थों को आप चोटी से एड़ी तक पसीना वहा कर प्राप्त करते हैं, बड़े जतन से प्राणों के समान जिन की रक्षा करते हैं, वही जब चले जाते हैं तो मनुष्य की क्या दशा होती है? और पौद्गलिक पदार्थ सदा कब ठहरने वाले हैं? वे तो जाने के लिए ही आते हैं। फिर भी खेद का विषय है कि मूढ़ मानव उन्हीं के पीछे अपना जीवन नष्ट कर देता है और उनके मोह में फंस कर धर्म और नीति को विसर जाता है। किसी ने यथार्थ ही कहा है—

न जाने संसारे किममृतमयं किं विषमयम्?

इस संसार में क्या अमृत और क्या विष है, यह निर्णय करना ही कठिन है! जिसे लोग अमृत समझ कर ग्रहण करते हैं, वह अन्त में विष साबित होता है और जिसे विष समझ कर त्यागते हैं वही अमृत प्रमाणित होता है! ज्ञानी पुरुष भोगोपभोग की सामग्री को किंपाक फल के समान कहते हैं तो अज्ञानी उसे सुधा समझते हैं!

रत्न कंबल पाकर लुटेरे अत्यन्त प्रसन्न हुए और मुनि के मन पर विषाद की गहरी रेखा खिंच गई। एक की प्रसन्नता दूसरे की अप्रसन्नता का कारण बनती है और दूसरे की अप्रसन्नता से किसी को प्रसन्नता प्राप्त होती है। धिक्कार है इस संसार को, धिक्कार है मनुष्य की मूढ़ता को, जिसने तत्त्व पा लिया है, मर्म को समझ लिया है, वह ऐसी बालचेष्टा नहीं करता। वह आत्मिक वैभव की वृद्धि में ही अपना कल्याण मानता है और इहलोक-परलोक सम्बन्धी कल्याण का भागी बनता है :

कर्मदान

[४]

संसार में अनन्तानन्त जीव हैं और उन सब की पृथक्-पृथक् सत्ता है। सभी संसारी जीव कर्मोदय के अनुसार शरीर धारण करते हैं, जीवन व्यतीत करते हैं और अन्त में मरण के शरण हो जाते हैं। इन अनन्तानन्त प्राणियों में से बहुत कम को विवेक शक्ति प्राप्त होती है, थोड़े से जीव ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को पहचान पाते हैं। धर्म-अधर्म का ज्ञान अधिकांश को नहीं है। पूर्व जन्म के सुकृत के फलस्वरूप विवेक का लाभ कर सकने वाले बहुत ही कम प्राणी हैं। विरले ही जीवों को ज्ञान प्राप्त होता है और उनमें से भी किसी-किसी को ही ज्ञान के फल–विरति–की प्राप्ति होती है। जीवन को पतन के मार्ग पर ले जाने वाले साधनों से यदि विरति उत्पन्न न हुई तो प्राप्त हुआ विपुल ज्ञान भी निष्फल है क्योंकि कहा है—

> नाणस्स फलं विरई (प्राकृत)
> ज्ञानस्य फलं विरतिः (संस्कृत)

ज्ञान की सफलता त्याग में है। जिन पदार्थों और जिन आन्तरिक विकारों को हम हेय समझते हैं, अकल्याणकर मानते हैं और घोर दुःख का कारण जानते हैं, उनका भी यदि त्याग नहीं कर सकते तो वह ज्ञान किस मर्ज की दवा है? उसका क्या फल मिला? ऐसे ज्ञान को महापुरुष ज्ञान ही नहीं मानते। सर्प को सामने आते देख कौन ज्ञानवान्–समझदार–मनुष्य बचने के लिए दूर नहीं भाग जाता? केवल नासमझ बालक ही सर्प को देख कर भी नहीं हटता है इसी प्रकार विषय रूपी विषधर से जो विमुख नहीं होता, समझना चाहिए कि वह समझदार नहीं, नासमझ है। उसे वास्तविक ज्ञान की

प्राप्ति नहीं हुई है। अतएव सच्चा ज्ञानी वही है जो विरमण करने योग्य पदार्थों एवं भावों से विरत हो जाता और रमण करने योग्य सद्भावों में रमण करता है।

इसके विरुद्ध यदि रमण करने योग्य कार्यों एवं भावों से विरमण कर ले तो यह विरति कैसी ? मान से विरत होने के वदले यदि विनय से, क्रोध के वदले क्षमा से, हिंसा के वदले अहिंसा से और लोभ के वदले सन्तोष से विरत हो तो यह मिथ्या विरति है। साधक को वि-भाव से विरति करनी चाहिए, आत्म स्वरूप में रमण और परपदार्थों से विरमण करना चाहिए। स्व का परित्याग करके पर में रमण करना ही समस्त दुःखों का मूल है। अतएव साधक को निज गुणों में रति करके परगुणों से विरति करनी चाहिए। इससे उलटी प्रवृत्ति रही तो आत्मा सदा जन्म-मरण के विषम चक्र में ही भटकती रहेगी। उसका त्राण नहीं हो सकेगा।

परम ज्ञानी और सच्चा साधक वही है जो हेय और उपादेय को भलीभांति समझ कर हेय का त्याग करता हैं और उपादेय को ग्रहण करता है। ज्ञान और विश्वास अनुकूल या समीचीन हो कर परिपुष्ट हो जाएं, यही विरति है। परिपक्व दशा और अनुकूल मौसिम होने पर वृक्ष में फल लगते हैं। ऐसे ही ज्ञान का परिपाक होने पर विरति की प्राप्ति होती है। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से अलग होना विरति है। स्मरण रखना चाहिए कि साधारणतया पहले बाह्य पाप कर्मों से विरति होती है, तत्पश्चात् अन्तरंग पापों से विरति हो जाती है। महर्षियों ने हिंसा, झूठ, चोरी आदि बाह्य पापों को त्यागने का महत्त्व इसी कारण दर्शाया है। जो मनुष्य इनका त्याग कर देत है, उसके अन्तरंग पाप क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि शनैः शनैः शान्त हो जाते हैं। कारण यह है कि क्रोध आदि आन्तरिक पाप हिंसा आदि बाह्य पापों के कारण ही बढ़ते हैं, अतः जब बाह्य पाप घट जाते हैं तो आन्तरिक पाप भी स्वतः घट जाते हैं।

कोई हमारी जमीन या अन्य वस्तु बलपूर्वक छीन लेता है या शरीर पर आघात करता है तो क्रोध उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में जो जमीन का त्याग

कर देता है उसके क्रोध का एक कारण कम हो जाता है। इस प्रकार जितना क्षेत्र बाह्य पापों का घटा उतना ही कषायों के विस्तार का क्षेत्र घटा।

जो शरीर के प्रति ममतावान् है उसे शरीर के प्रतिकूल आचरण करने पर रोष उत्पन्न होता है, किन्तु जिसने शरीर को पर-पदार्थ समझ लिया है और जिसे उसके प्रति किंचित् भी ममता नहीं रह गई है, वह शरीर पर घोर से घोर आघात लगने पर भी रुष्ट नहीं होता। ऐसे अनेक महर्षियों की पुण्य-गाथाएं हमारे शास्त्रों में विद्यमान हैं जिन्होंने भीषण शारीरिक आघातों के होने पर भी अखण्ड समभाव रक्खा और लेश मात्र भी रोष का उन्मेष नहीं होने दिया। गजसुकुमार के शरीर की वेदना क्या सामान्य थी? स्कंधक मुनि का स्मरण क्या हमारे रोंगटे नहीं खड़े कर देता? मेतार्य मुनि को क्या कम आघात लगा था? फिर भी ये प्रातःस्मरणीय मुनिराज क्षमा के प्रशान्त सागर में ही अवगाहन करते रहे। क्रोध की एक भी चिनगारी उनके हृदय में उत्पन्न नहीं हुई। इसका क्या कारण था? यही कि वे अपने शरीर को भी अपना नहीं मानते थे। वे समझ चुके थे कि इस नाशशील पौद्‌गलिक शरीर का मेरी अविनश्वर चिन्मय आत्मा के साथ कोई साम्य नहीं है। इसी कारण वे शारीरिक यातना के समय भी समभाव में विचरण करते रहे और आत्म कल्याण के भागी बने।

साधारण संसारी प्राणी लोभ का दास है। वह भूमि और धन आदि के संग्रह की वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। उसने सभी द्वार खोल रक्खे हैं। व्यवसाय में मुनाफा होगा तो फूला नहीं समाएगा। नवीन मकान बनवाएगा तो पड़ौसी की दो-चार अंगुल जमीन दबाना चाहेगा। इस प्रकार जिन्होंने अंकुश नहीं लगाया है, वे बाह्य वस्तुओं का विस्तार करेंगे और उसी में आनन्द मानेंगे। उनके प्रत्येक व्यवहार, वचन और विचार से लोभ का निर्झर ही प्रवाहित होगा।

जो व्यापारी या दुकानदार है, उसे खेत या जमीन का लालच नहीं होगा, क्योंकि उस ओर उसका आकर्षण नहीं है। अगर कोई गृहस्थ व्यापार

भी करता है, कृषि भी करता है, मोटर-सर्विस और सिनेमा भी चलाता है तो चारों दिशाओं में उसके लालच का विस्तार होगा। लालच में पड़कर वह असत्य भाषण करेगा, अदत्त का ग्रहण करेगा और न जाने कौन-कौन से पाप करेगा! पाप का बाप लोभ और पाप की मां कुमति है। समस्त पापों को अंकुरित करना, जन्म देना और विस्तार करना लोभ का काम है, किन्तु कुमति का सहयोग न हो तो पापों का विस्तार नहीं हो सकता। पाप का विषैला बीज कुमति रूपी क्षेत्र में ही फलता-फूलता है।

सन्तोष के बिना शान्ति और सुख नहीं मिलता और विरतिभाव के बिना सन्तोष नहीं मिलता। लोभ-लालच को जीतने का उपाय सन्तोष ही है। 'लोहं संतोसओ जिणे' अर्थात् लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए, यह अनुभवी महापुरुषों का वचन है।

ज्ञान अपने आप में अत्यन्त उपयोगी सद्गुण है किन्तु उसकी उपयोगिता विरतिभाव प्राप्त करने में है। जितने भी अध्यात्म-मार्ग के पथिक महापुरुष हुए हैं, उन्होंने हिंसा कुशील आदि से विमुख हो कर कषायों का भी निग्रह किया। ये आन्तरिक पाप शीघ्र पकड़ में नहीं आते। बिजली को पकड़ने के लिए विशिष्ट साधन का उपयोग करना होता है। उससे बचने के लिए रबर, लकड़ी आदि का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार क्रोधादि रूप बिजली से बचने के लिए विरतिभाव का आश्रय लेना चाहिए।

जो विवेकशील साधक विरतिभाव के बाधक कारणों से बचता है, वही साधना में अग्रसर हो सकता है। विरति के बाधक कारण अतिशय लोभ मोह आदि विकार हैं और उन विकारों से उत्पन्न होने वाले महान् आरम्भ-परिग्रह हैं। इस सिलसिले में कर्मादानों की चर्चा चल रही है। तीन कर्मादानों का विवेचन पहले किया जा चुका है।

हिमालय के दुर्गम मार्गों में साधक भले ही न गड़बड़ाए, किन्तु प्रमाद और कषाय यदि उसके जीवन में प्रवेश कर जावें और वह उनका शिकार हो जाए तो गड़बड़ पैदा हुए बिना नहीं रहती। ऐसी स्थिति में उसे कोई नवीन

सफलता नहीं प्राप्त हो सकती, यही नहीं वरन् पूर्व प्राप्त साधना की सम्पत्ति भी वह गंवा बैठता है। किसी धनवान् अथवा अर्थी द्वारा कठिन परिश्रम करके प्राप्त किया हुआ धन यदि चोर चुरा ले या गुम हो जाय तो उसे कितनी मार्मिक वेदना होती है? वह व्यवहार में बहुत संभल कर चलता है, फिर भी कदाचित् असावधान हो जाता है तो भयानक हानि उठाता है। इस प्रकार जब थोड़ी-सी असावधानी भी व्यवहार में घातक है तो जीवन की हानि कितनी बड़ी हानि नहीं कहलाएगी!

एक आदमी प्रवास का घोर कष्ट उठाकर और रात-दिन एक करके, कठिन परिश्रम करके, धन उपार्जित करके ला रहा हो और मार्ग में लुट जाए तो उसके हृदय में तीव्र विषाद होगा। बाल-बच्चों वाला होगा तो उसे गृहस्थी की गाड़ी चलाने में कष्ट होगा। अगर वह कोई भिक्षुक है और उसने दार-परिग्रह नहीं किया है तो भी माल लुट जाने के दुःख से वह बच नहीं सकता।

सिंह गुफावासी मुनि का रत्नकंबल लुट गया तो उनको बहुत दुःख हुआ। उस रत्नकंबल के साथ उनकी कई भावनाएं जुड़ी हुई थीं। अतएव उनके हृदय में कितनी व्याकुलता उत्पन्न हुई होगी, इसका अनुमान कोई भुक्त-भोगी ही कर सकता है। इस मर्मबेधिनी चोट से उन्हें जो आत्मग्लानि हुई उसे भगवान् सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। मुनि के मन ने कहा—रूपाकोशा कंबल की प्रतीक्षा कर रही होगी। उसके समक्ष मैंने बड़े दर्प के साथ अपने पुरुषार्थ की डींग मारी थी। वह मेरी राह देख रही होगी। मैं उसके सामने खाली हाथ कैसे जाऊंगा? रत्नकंबल मांगने पर उसे क्या उत्तर दूंगा? मार्ग में लुट जाने की बात पर क्या उसे विश्वास होगा? क्या यह स्थिति मेरे लिए अपमानजनक नहीं है? तो अब क्या करना चाहिए?

चिन्ता में व्यग्र मुनि कुछ समय तक कोई निर्णय नहीं कर सके। भांति-भांति के विचार चित्त में उत्पन्न हुए और विनष्ट हुए। वह असमंजस में पड़ गए। संयम की विशिष्ट साधना के उद्देश्य से निकले साधक की ऐसी दयनीय

दशा ! मन कितना प्रबल है। वह मनुष्य को कहां से कहां ले जाकर गिरा देता है।

मुनि के मन में विचारों की आंधी आ रही थी। वह अपनी पद-मर्यादा को विस्मृत कर चुके थे। आखिर उन्होंने निश्चय किया—मैं रूपाकोशा के सामने खाली हाथ नहीं जा सकता। प्राण जाएं तो जाएं पर मैं खाली हाथ नहीं जाऊंगा। खाली हाथ जाने में पुरुषत्व नहीं, प्रतिष्ठा नहीं, मानवता भी नहीं है।

सिंह गुफावासी मुनि के सामने अपनी शान और मान-मर्यादा का सवाल था। शान के सामने संयम परास्त हो रहा था। किन्तु जब उन्होंने पुनः रत्नकम्बल लाने का निश्चय किया, तभी मन में एक नया प्रश्न उत्पन्न हुआ। प्रश्न था—नेपाल-नरेश दुबारा कम्बल देंगे या नहीं ?

अर्थ की समस्या उपस्थित होती है तो मनुष्य संकोच और लिहाज को भी तिलांजलि दे देता है। धार्मिक लाभ लेने वाले भी तर्क-वितर्क करके धर्म-मार्ग से विमुख हो जाते हैं। शादी, विवाह या आर्थिक लाभ का काम हुआ तो कोई किसी का साथ नहीं खोजता। दुकान या कारखाने का मूहूर्त्त करते समय साथी नहीं ढूंढा जाता, किन्तु धार्मिक कार्य के लिए एक को कहीं जाना पड़े तो साथी चाहिए।

मुनि आत्मभाव से बाहर निकल कर अनात्मभाव में रमण कर रहे थे। कम्बल क्या लुटा मानों उनके जीवन का सर्वस्व लुट गया। उनकी भविष्य सम्बन्धी अनेक मनोहर कल्पनाओं का भवन ढह गया ! उनके मन में चिर काल तक द्वन्द्व की स्थिति बनी रही। वे किंकर्त्तव्यमूढ़ हो रहे। अन्त में एषणा की विजय हुई। झटके मन ने आदेश दिया—प्रयत्न करो, सफलता मिले चाहे न मिले ! पुरुष का काम पुरुषार्थ करना है। पुरुषार्थ करने वाले को अन्त में सफलता प्राप्त होती ही है। निराश होकर बैठ जाना तो असफलता की विजय स्वीकार करना है। यह पुरुषत्व का अपमान है। अतएव जिस कार्य में हाथ डाला है उसे सिद्ध करके ही दम लेना चाहिए।

मन का आदेश मिलने पर पैरों को लाचार होकर पीछे की ओर बढ़ना

पड़ा। वे वापिस नेपाल-नरेश के पास पहुँचने को मुड़ गए। चलते-चलते राज-दरबार में पहुँचे।

लज्जा और संकोच ने पहले तो मुनि के मुख पर ताला जड़ दिया। उनका मन आत्मग्लानि से भर गया। यद्यपि मुनि जीवन याचनामय होता है उसकी समस्त आवश्यकताएं याचना से ही पूर्ण होती हैं—

'सव्वं' से जाइअं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं।

साधु के पास कोई उपकरण ऐसा नहीं होता जो अयाचित हो। याचना करनेमें उसे दैन्य का अनुभव भी नहीं होता-और नहीं होना चाहिए। किन्तु यहां तो बात ही दूसरी थी। सिंह गुफावासी मुनि को संयम-जीवन के निर्वाह के लिए रत्नकम्बल की आवश्यकता नहीं थी। वह कम्बल उनके संयम में सहायक नहीं था। यही नहीं, वरन् बाधक था। इसी कारण मुनि लज्जा और संकोच से धरती में गड़े जारहे थे। राजा के समक्ष जाकर भी मुनि का मुंह सहसा खुल नहीं सका। वह थोड़ी देर मौन रहे।

मुनि को दूसरी बार रत्न कम्बल के लिए आया देख दरबारियों को भी विस्मय हुआ। किसी ने सोचा- हो न हो मुनि संग्रह के शिकार हैं।

किसी ने कहा—क्या रत्नकम्बल बेच कर पूंजी इकट्ठी करने की सोची है ?

तीसरा बोला-वास्तव में यह साधु भी है या नहीं ! साधु का वेष धारण करके कोई ठग तो नहीं है।

इस प्रकार नाना प्रकार की टीकाएं होने लगीं जितने मुंह उतनी बातें मुनि चुपचाप उन्हें सुनते रहे। अन्त में उन्होंने अपनी करुण कहानी राजा को सुनाई। राजा का हृदय द्रवित हुआ और पुनः उन्हें रत्नकम्बल मिल गया।

रत्नकम्बल पाकर मुनि को ऐसा हर्ष हुआ जैसे सिद्धि प्राप्त हो गई हो। वह तत्काल वापिस लौट पड़े। इस बार मुनि ने अत्यन्त सावधानी और

सतर्कता के साथ यात्रा की और वे निर्विघ्न पाटलीपुर आकर रूपाकोशा के भवन में प्रविष्ट हुए। अनेकानेक कष्ट सहन करने के पश्चात् प्राप्त इस सफलता पर वे अत्यन्त प्रसन्न थे। इतने प्रसन्न जैसे शत्रु का दुर्गम दुर्ग जीत लेने पर कोई सेनापति फूला नहीं समाता हो।

नेपाल नरेश प्रत्येक व्यक्ति को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखते थे। उनका मन्तव्य था कि संसार के सब मनुष्य समान नहीं हैं अतएव सब के साथ एक-सा व्यवहार करना उचित नहीं है। यही कारण था कि मुनि को दूसरी बार कम्बल की याचना करते देख कर दरबारी लोग जब तरह-तरह की बातें कर रहे थे, तब स्वयं नरेश ने मौन ही धारण किया। उन्होंने मुनि के चेहरे को पढ़ने का प्रयत्न किया और उनका कथन यथार्थ पाया। मुनि ने कहा-मैं कन्धे पर रत्नकम्बल लटकाकर जा रहा था कि लुटेरे आ धमके और ले गए? मेरी इष्ट सिद्धि नहीं हुई, अतएव दूसरी बार आया हूँ।

नेपाल-नरेश ने मुनि के कथन पर विश्वास किया और दूसरा रत्न-कम्बल प्रदान करने के साथ इस बार सावधानी बरतने की सूचना भी दी। नरेश की सूचना के अनुसार मुनि ने इस बार बाँस में कम्बल को फिट कर लिया। बाँस को लाठी की तरह लेकर उन्होंने जंगली रास्ते को पार किया।

रुपये और नोट कितने आए और चले गए ! कमरे में तिजोरी के अन्दर रकम बन्द होने पर भी द्वार पर पहरेदार न हो तो धनी मनुष्य को चिन्ता के कारण निद्रा नहीं आती ! अगर तिजोरी में हीरा-मोती हुए तब तो सुरक्षा का जबर्दस्त प्रबन्ध करना पड़ता है, क्योंकि जवाहरात दुर्लभ हैं और इसी कारण विशेष मूल्यवान् है। कौड़ियों की रक्षा के लिए किसी को विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती। परन्तु महावीर स्वामी कहते हैं-मानव ? तनिक विचार तो कर कि ये पौद्गलिक रत्न अधिक मूल्यवान् हैं अथवा सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप आत्मिक रत्न अधिक मूल्यवान हैं ? दोनों प्रकार के रत्नों में कौन अधिक दुर्लभ है ? कौन अधिक हितकारी और सुखकारी है ? किनसे आत्मा को निराकुलता और शान्ति प्राप्त होती है ?

पार्थिव रत्नों से क्या मनुष्य सुखी हो सकता है ? वे तो चिन्ता, व्याकुलता, अतृप्ति और शोक-सन्ताप के ही कारण होते हैं। उनसे लेश मात्र भी आत्मा का हित नहीं होता। इन भौतिक रत्नों की चकाचौंध से अंधा होकर मनुष्य अपने स्वरूप को देखने और पहचानने में भी असमर्थ बन जाता है। शरीर में जब बाधा उत्पन्न होती है तो हीरा और मोती उसका निवारण नहीं कर सकते। उदर में भूख की ज्वाला जलती है तो उन्हें खा कर तृप्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। जब अजेय यम का आक्रमण होता है और शरीर को त्याग कर जाने की तैयारी होती है तब जवाहरात के पहाड़ भी आड़े नहीं आते। मौत को हीरा-मोतियों की घूंस देकर प्राणों की रक्षा नहीं की जा सकती। परभव में उन्हें साथ भी नहीं ले जाया जा सकता।

आखिर ये जवाहरात किस मर्ज की दवा हैं। इनकी प्राप्ति होने पर मान कषाय का पोषण अवश्य होता है जिससे आत्मा अधोगति का अधिकारी बनता है।

सम्यग्दर्शन आदि भाव-रत्न आत्मा की निज सम्पत्ति हैं। इनसे आत्मा को हित और सुख की प्राप्ति होती है। इनकी अनुपम आभा से आत्मा देदीप्यमान हो उठता है और उसका समस्त अज्ञानान्धकार सदा के लिए विलीन हो जाता है। ये वे रत्न हैं जो आत्मा को सदा के लिए अजर, अमर, अव्याबाध और तृप्त बना देते हैं। इनके सामने काल की दाल नहीं गलती। रोग को पास आने का योग नहीं मिलता ! यह अक्षय सम्पत्ति है। अतीव-अतीव पुण्य के योग से इसकी प्राप्ति होती है। इन आत्मिक रत्नों की तुलना में हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम आदि पाषाण के टुकड़ों से अधिक कुछ भी नहीं है।

तथ्य यही है, फिर भी मूढधी मनुष्य पत्थर के टुकड़ों को रत्न मान कर उनकी सुरक्षा के लिए रात-दिन व्यग्र रहता है और असली रत्नों की—सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उपेक्षा करता है ! कितनी करुणास्पद स्थिति है, नादान मानव की !

आत्मदेव ज्ञान, दर्शन और चारित्र का धन लेकर चला है तो सैंकड़ों

बार लूटा है, मगर एक बार ठगा कर जो फिर धोखा नहीं खाता वही समझदार व्यक्ति है। भगवान् कहते हैं—संसार रूप वन में काम क्रोध आदि लुटेरे तेरे मूल्यवान् धन-दर्शन चारित्र को न लूट लें, सचेत रहना। इस रत्न कम्बल को संभाल कर रखना ताकि संसार से पार पहुँच सको। ऐसा करने से ही उभय लोक में कल्याण होगा।

कर्मदान

[५]

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।

जैसे आपको अपना जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है, उसी प्रकार संसार के प्राणियोंको जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है। मरना कौन चाहता है? किन्तु वहिर्दृष्टि लोग स्वार्थ के वशीभूतहोकर इस अनुभव सिद्ध सत्य को भी विस्मृत कर देते हैं और जो अपने लिए चाहते हैं, वह अन्य प्राणियों के लिए नहीं चाहते! वे अपने स्वल्प सुख के लिए दूसरों को दुःख के दावानल में झौंक देने में संकोंच नहीं करते। इस विषम दृष्टि के कारण ही सामाजिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से घोर हानि हो रही है। आज विश्व में जो भीषण संघर्ष चल रहे हैं, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ टकरा रहा है, एक वर्ग दूसरे वर्ग को अपना शत्रु समझ कर व्यवहार कर रहा है, और एक दूसरे को निगल जाने की चेष्टा कर रहा है, वह सब इसी विषम दृष्टि का परिणाम है।

जब तक यह विषमभाव दूर न हो जाय और प्राणि मात्र के प्रति समभाव जागृत न हो जाय तब तक संसार का कोई भी, वाद, चाहे वह समजवाद हो, साम्यवाद हो या सर्वोदय वाद हो जगत् का त्राण नहीं कर सकता, शान्ति की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता।

अब तक संसार में शान्ति स्थापना के अनेकानेक प्रयास हुए हैं, अनेक वाद प्रचलित हुए हैं, मगर उनसे समस्या सुलझी नहीं, उलझी भले हो। समस्या का स्थायी समाधान भारतीय धर्मों में मिलता है और जैनधर्म उनमें

प्रमुख है जो इस समस्या पर सांगोपांग विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। राजनीतिक वाद आजमाए जा चुके हैं और असफल सिद्ध हुए हैं। हम विश्व के सूत्रधारों को आह्वान करना चाहते हैं कि एक बार धार्मिक आधार पर इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया जाय।

न्याय नीति का तकाजा है कि जो सबल है वह निर्बल का सहायक बने, शोषणकर्त्ता नहीं। इसी आधार पर शान्ति टिक सकती हैं, अन्यथा नहीं। जगत् में अनेक प्रकार के प्राणि हैं। उनमें त्रस अर्थात् जंगम भी हैं और स्थावर भी। भगवान् महावीर ने उन सब के प्रति मैत्री और करुणाभाव धारण करने का उपदेश दिया है। जैसे सन्तति प्रेमी पिता छोटे, बड़े, होशियार, मन्दबुद्धि आदि सभी बच्चों को प्यार करता है, उसी प्रकार विवेकशील साधक के लिए सभी जीव-जन्तु संरक्षणीय हैं।

यह सत्य है कि गृहस्थ विविध प्रकार की गार्हस्थिक आवश्यकताओं से बंधा हुआ है, फिर भी वह सम्पूर्ण नहीं तो आंशिक रूप में हिंसा से विरत हो ही सकता है। निरर्थक हिंसा का त्याग कर देने पर भी उसके किसी कार्य में बाधा उपस्थित नहीं होती और बहुत-से पाप से बचाव हो सकता है। धीरे-धीरे वह पूर्ण त्याग के स्थान पर भी पहुँच सकता है। किन्तु जब तक यह स्थिति नहीं आई है, उसे मंजिल तय करना है। चल और अचल सभी जीवों की रक्षा का लक्ष्य उसके सामने रहना चाहिए। अपूर्ण त्याग से पूर्ण त्याग तक पहुंचना उसका ध्येय होता है। वह कौटुम्बिक व्यवहार में भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक करके प्रवृत्ति करता है और अपने व्रतों के पालन का ध्यान रखता हैं।

उसकी आजीविका किस प्रकार की होती है या होनी चाहिए, इसका विवेचन करते हुए तीन कर्मादानों का निरूपण किया जा चुका है। इंगाल कम्मे, वणकम्मे और साडी कम्मे के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। खर कर्म होने के कारण श्रावक के लिए ये निषिद्ध हैं।

(४) **भाड़ी कम्मे** (भाटी कर्म)—यह चौथा कर्मादान है। बैल, हाथी, ऊंट, घोड़ा, गधा, खच्चर, आदि जानवरों के द्वारा भाड़ा कमाना या आजीविका निर्वाह के लिए इन्हें भाड़े पर चलाना भाडीकम्मे कर्मादान कहलाता है। जब इन पशुओं के द्वारा भाड़ा कमाने का लक्ष्य होता है तो इनके संरक्षण और सुख सुविधा की बात गौण हो जाती है। भाड़े का लोभी स्टेशन से बस्ती तक चलने वाले तांगे-घोड़े को दूर-दूर ग्रामों तक ले जाने को तैयार हो जाता है और शीघ्र से शीघ्र मंजिल तय करने के लिए उसे कोड़ों से पीटता और भागने की शक्ति न होने पर भी भागने को बाध्य करता है। जिसके पैर जवाब दे चुके हों, जिसको अपने शरीर का भार वहन करना भी कठिन हो रहा हो, जो चलते-चलते हांफ गया हो, ऐसे जानवर पर भार लाद कर जब मार-मार कर चलाया और दौड़ाया जाता है, तब उसको कितनी व्यथा होती होगी ? ऐसा व्यवहार अत्यन्त क्रूरतापूर्ण है किन्तु भाड़े की आजीविका करने वाला शायद ही इससे बच सकता है। आते हुए पैसे को ठोकर मार कर जानवर की सुख-सुविधा का विचार करने वाले विरले ही मिलेंगें। सामान्यव्यक्ति, जिसने सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं की है, ऐसा कार्य करे तो समझ में आ सकता है; क्योंकि उसमें करुणाभाव का अभाव होता है मगर सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसा नहीं करेगा। अगर करता है तो उसका व्रत सुरक्षित नहीं रह सकता। अतएव व्रती श्रावक को भाड़े की इस प्रकार की आजीविका नहीं करनी चाहिए।

जीवन निर्वाह के लिए बड़े पाप करने की क्या आवश्यकता है ? जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया है, और अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर लिया है, वह अल्पारंभ से ही अपना काम चला सकता है। उसके जीवन-व्यवहार के लिए घोर पाप की आवश्यकता ही नहीं होती।

आज बैलगाड़ी घोड़ागाड़ी आदि की संख्या कम हो गई है। यंत्रों द्वारा चलने वाली गाड़ियों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया है। कुछ लोगों की ऐसी दृष्टि है कि मोटर में चलने से पाप नहीं होता। तांगे की अपेक्षा मोटर की सवारी को लोग अच्छा समझते हैं। उसमें धन की और समय की बचत समझते हैं। शान

भी उसमें मानते हैं। मोटर में बैठ कर बाजार में निकलने वाला व्यक्ति पैदल चलने वालों को अवज्ञा भरी दृष्टि से देखता है और अपने को उनसे ऊंचा समझता है। इससे उसके मानकषाय को पुष्टि मिलती है। वह अहंकार में चूर हो जाता है।

महावीर स्वामी के भक्त प्रत्येक कार्य के औचित्य-अनौचित्य को हिंसा अहिंसा की तुला पर तोलते हैं। उनकी कसौटी सर्वसाधारण की कसौटी से भिन्न प्रकार की होती है। पुराने लोग छह माह की राह के बदले वर्ष भर की राह चलने को कहते थे,क्योंकि उनका लक्ष्य पशुओं की हिंसा से बचने का रहता था। समय और शक्ति भले अधिक लग जाय किन्तु धार्मिक दृष्टि से हिंसा से बचाव हो, यह उनका आधारभूत विचार होता था।

व्रती साधक न स्वयं हिंसा करता है और न ऐसा कोई कार्य करता है जिससे परोक्ष रूप में हिंसा को प्रोत्साहन मिलता हो। बहुत से लोग आज ऐसे मिलेंगे जो स्वयं बड़े-बड़े यंत्रों को भले न चलाते हों किन्तु उन यंत्रों वाले कारखानों में निर्मित वस्तुओं का उपयोग करते हैं। यह उन कारखानों को प्रोत्साहन देना है। आज हिंसा-अहिंसा का विचार नहीं किया जाता सिर्फ सस्तापन और सौन्दर्य देखा जाता है। शीघ्रता और सुविधा का ही विचार किया जाता है। परिणाम यह हुआ है कि बैलों और घोड़ों को कोई नहीं पूछता। उनकी संख्या कम होती जा रही है और मोटरों की संख्या बढ़ रही है। मोटर जल्दी दौड़ती है और दौड़ती-दौड़ती थकती नहीं है। इससे जानवरों की उपयोगिता कम हो गई है और जब किसी वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है तो उसकी रक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। लाभ की आशा कम होने से भैंस के पाड़े पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना पाड़ी पर दिया जाता है। पाड़े को बोझ समझ कर लोग उससे पिण्ड छुड़ा लेते हैं।

रेल और मोटर का उपयोग करने में हिंसा कम दीखती है परन्तु क्या यह बैलों और घोड़ों आदि पर दया है? दिखने में ऐसा लगता है कि हिंसा नहीं है किन्तु इन यांत्रिक सवारियों से कितने मनुष्य, पशु, कुत्ते, पक्षी आदि

मरते हैं, इस बात का विचार करने वाले कितने हैं ? जिस सवारी में जानवर जोता जाता है, उसमें हिंसा की संभावना बहुत कम रहती है। विषम परिस्थिति में अथवा किसी दूसरे जानवर के सामने आ जाने पर जुता हुआ जानवर अपनी गति धीमी कर लेता है और दुर्घटना को या हिंसा को बचा लेता है। यह बात वेग के साथ दौड़ने वाली गाड़ियों में कैसे संभव हो सकती है ? ये वेगवान् गति वाली गाड़ियाँ महारम्भ और महाहिंसा की जननी हैं। व्रती श्रावक सदैव अपने विवेक की तराजू पर तो लेगा कि किस कार्य से महारंभ होता है और कौन-सा कार्य अल्प आरंभ वाला है ? वह महारंभ के कार्य को कदापि नहीं करेगा। भाड़ीकम्मे घोर हिंसा का कारण होने से महारंभ है और इसी कारण श्रावक इसे नहीं अपनाता।

(५) **फोड़ी कम्मे** (स्फोट कर्म)-इसका अर्थ है भूमि को फोड़ना। वैज्ञानिक साधनों द्वारा सुरंग आदि लगा कर भूमि का भारी भाग फोड़ दिया जाता है। कुदाली फावड़ा आदि से जमीन फोड़ने से भी त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है। पड़ती जमीन में जीव-जन्तु निर्भय हो कर आश्रय लेते हैं ? उसी प्रकार जैसे कमरे में सफाई न हो तो कीड़े-मकोड़े दीमक आदि अपना अड्डा जमा लेते हैं। ऐसे स्थानों को सुरक्षित, भय-वर्जित तथा मनुष्यों के संचार से रहित समझ कर वे वहां आवास करने लगते हैं। दरारों में, जमीन के नीचे, पत्थरों की आड़ में हजारों जीव-जन्तु शरण लिए रहते हैं। ऐसी स्थिति में सुरंग लगाने वाले कहां तक जीव-जन्तुओं की रक्षा कर सकेंगे ! जहां भूमि फोड़ी गई और मिट्टी डाली गई, दोनों स्थानों के जीवों की रक्षा संभव नहीं है। अतएव भूमि को फोड़ने का धंधा करना विशेष हिंसा कारक होने से कर्मादान में गिना गया है।

व्यापार-धंधे में सामाजिक दृष्टि कोण को भी प्राचीन काल में महत्त्व दिया जाता था। यहां भी उस दृष्टि कोण से विचार किया जा सकता है। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में अमुक-अमुक वर्गों में अमुक-अमुक धंधों का बंटवारा किया गया था। इस बंटवारे के कई लाभ थे। प्रथम तो जिस वर्ग का जो धंधा हो उसे वही वर्ग करे तो बेकारी की संभावना कम रहती है। एक वर्ग के

लोगों का काम दूसरे वर्ग के लोग हथिया लें तो पहले वर्ग में बेकारी फैलती है। स्मृतियों में इस दृष्टि कोण का प्रतिपादन किया गया है।

इस व्यवस्था का दूसरा लाभ है वर्ग संघर्ष न होना। ब्राह्मण अध्यापन कार्य करे, अन्य आजीविका न करे, व्यापार-वाणिज्य में हाथ न डाले तो पारस्परिक संघर्ष नहीं होगा।

सभी वर्ग अपना-अपना पैत्रिक धंधा करें तो समाज में शान्ति बनी रहती है और उनके पारस्परिक व्यवहार में मधुरता रहती है। श्रीमन्त वैश्य खान खोदने का भी काम अपने हाथ में ले ले तो खान खोदने का धंधा करने वाले वर्ग के साथ उनका सम्बन्ध मधुर नहीं रह सकता।

तीसरा लाभ यह है कि पितृ परम्परा से चले आए धंधे को अपनाने से धँधा सम्बन्धी कौशल की वृद्धि होती है। लुहार का लड़का बचपन से ही अपने घर के धंधे को देखता-देखता और अभ्यास करता-करता उसमें विशेष कुशल बन जाता है। वणिक् पुत्र अगर उस धंधे को अपना ले तो वह उतना निष्णात् नहीं हो सकता।

अल्प लोभी श्रावक बिना कटुकता के महावीर के मार्ग पर चल कर इहलोक-परलोक सम्बन्धी लाभ प्राप्त कर सकता है। किन्तु जो तृष्णा और लोभ की अधिकता से ग्रस्त है और अर्थ को अनर्थ न समझ कर उसी को एक मात्र परमार्थ मानता है वह वीतराग के उपदेश पर किस प्रकार चल सकता है?

प्रजापति लम्बकर्ण (गधा) पर भांड या अन्न लाद कर ले जा रहा हो और लम्ब कर्ण को कहीं रास्ते में श्मशान की राख दिख जाय तो वह प्रजापति की हानि की चिन्ता नहीं करके एक बार उसमें लोट कर खेल कर ही देगा।

अरे उस गधे को क्या हंसते हो, अपने को हंसो जो वीतराग के उपासक और वीतरागवाणी के भक्त कहलाते हुए भी विषय-कषाय की राख में लोट लगा रहे हो!

उत्तम जाति का अश्व कदापि ऐसा नहीं करता। जो मानव मखमल के

गद्दे रूपी स्वरूप-शय्या में रमण न करके विषय-कषाय की राख में लोटता है, वह महिमा का पात्र नहीं होता, प्रशंसनीय नहीं गिना जाता। मोहान्ध मानव मोह की तीव्रता के कारण अश्व का भाव भुला कर लम्बकर्ण (गर्दभ) के भाव में आ जाता है। ऐसा मोहान्ध पुरुष सम्यग्ज्ञान के सर्च लाइट से या सत्संगति से ही सुधर सकता है।

आत्मानन्द के लोकोत्तर सुधारस का पान करने वाले सिंहगुफावासी मुनि ने लोकैषण के चक्कर में पड़ कर अपनी महान् साधना को बर्बाद कर दिया। वे कम्बल ले कर और पाटलीपुत्र पहुंच कर अपनी सफलता पर प्रसन्न हो रहे हैं। जातीय स्वभाव के कारण गधा राख में लोट-पोट होता है। विषय की ओर हीन प्रवृत्ति होने से मानव की भी ऐसी ही स्थिति हो जाती है। वह भी अपने पतन में आनन्द मानता है।

पाटलीपुत्र में मुनि की प्रतीक्षा की जा रही थी। जब वे नगर में पहुंचे तो रूपाकोशा ने प्रश्न किया—रत्न कम्बल कहां है ?

मुनि ने बांस की लाठी में से रत्नकम्बल निकाला जैसे म्यान में से तलवार निकाली जाती है।

रूपाकोशा ने मन ही मन विचार किया—मुनि है शूरवीर, सिर्फ मोड़ की आवश्यकता है। जिस मनुष्य में अपने ध्येय को पूर्ण करने की लगन होती है, साहस होता है, उसका मोड़ बदल देना ही पर्याप्त है। उसके पीछे लकड़ी लेकर हर समय चलने की आवश्यकता नहीं होती। लगन वाले व्यक्ति को अगर अच्छे मार्ग पर लगा दिया जाए तो वह अवश्य ही सराहनीय सफलता प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत जिसमें लगन का सर्वथा अभाव है, जो कर्तृत्वशक्ति से हीन हो वह साधना के मार्ग को पार नहीं कर सकता। उसे किसी भी महान् कार्य में सफलता नहीं मिलती।

धर्ममार्ग, अध्यात्ममार्ग या साधनामार्ग में अकर्मण्य व्यक्ति आ जाय तो क्या करेगा ? पकड़ मजबूत हो और चलन अच्छा हो तो मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य में शक्ति का अक्षय भंडार भरा है और वह शक्ति छलक-छलक कर बाहर आकर प्रकट होती है। किन्तु मनुष्य के जैसे संस्कार होते हैं, जैसे विचार होते हैं, उसी प्रकार के कार्यों में वह शक्ति लगती है। कुसंस्कारी और मलीन विचारों वाले मनुष्य की शक्ति गलत कामों में खर्च होती है। वही व्यक्ति जब सन्मार्ग पर आ जाता है, उसके विचार विशुद्ध हो जाते हैं तो सही काम में उसकी शक्ति का सदुपयोग होने लगता है। भगवान् महावीर ने फर्माया है—

जे कम्मे सूरा,

ते धम्मे सूरा।

जो कर्म करने में शूरवीर होते हैं, वे धर्म करने में भी शूरवीर होते है।

जिसमें साहस नहीं, पुरुषार्थ नहीं, लगन और स्फूर्त्ति नहीं और संकटों से जूझ कर, आग से खेल कर, प्राणों को हथेली में लेकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करने की क्षमता नहीं, जो बुझा हुआ है, वह किसी भी क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। जिस तलवार की धार तीखी है वह अपना काम करेगी ही, चाहे उससे आत्मवध किया जाय अथवा आत्मरक्षा की जाय। इसी प्रकार जो पुरुष वीर हैं वह कर्म के मार्ग में अवतीर्ण होगा तो वहां महान् कर्म करेगा और धर्म के मार्ग में आएगा तो वहां भी उल्लेखनीय कार्य किये विना नहीं रहेगा।

रूपाकोशा ने समझ लिया कि मुनि में लगन है, साहस है, पराक्रमशीलता है, जीवट है। इन्हें सिर्फ सही दिशा में मोड़ने की आवश्यकता है। जिस समय इनकी प्रवृत्ति सही मार्ग पर हो जाएगी, उसी समय ये साधना में भी कमाल कर दिखलाएंगे।

रूपकोशा ने मुनि को ठीक रास्ते पर लाने की योजना गढ़ ली परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा। उसने कम्बल देख कर उसकी अत्यन्त सराहना की। मुनि अपने को कृतार्थ समझने लगे और अपनी सफलता पर गर्व अनुभव करने लगे।

रूपकोषा स्नानागार में जाकर जब स्नान करके लौटी तो रत्न कम्बल को उठा कर उससे अपने पैर पोंछने लगी। यह देख कर मुनि के विस्मय की सीमा नहीं रही। और फिर उसने पैर पोंछ कर उसे एक कोने में फेंक दिया। कम्बल की इस दुर्गति को देख कर तपस्वी के भीतर का नाग (क्रोध) जग उठा! उसे रूपकोषा का यह व्यवहार अत्यन्त ही अयोग्य प्रतीत हुआ। कम्बल के साथ मुनि की आत्मीयता इतनी गहरी हो गई थी कि कम्बल का यह अपमान उन्हें अपना ही घोर अपमान प्रतीत हुआ।

मुनि सोचने लगे—मैं समझता था कि रूपकोषा बुद्धिमती तथा चतुर है। वह व्यवहार कुशल है। किन्तु ऐसा समझ कर मैंने भयानक भूल की है। अरे! यह तो फूहड़ है, विवेक विहीन है, असभ्य है। जब उनसे न रहा गया तो बोले—क्या तुम ने नशा किया है या तुम्हारा सिर फिर गया है! यह टाट का टुकड़ा है या रत्न जटित कम्बल? क्या समझा है इसे तुमने? जिस कम्बल को प्राप्त करने के लिए मैंने लम्बा प्रवास किया, जंगलों की खाक छानी, अनेक संकट सहे और नेपाल नरेश के सामने जाकर दो बार हाथ फैलाये, जिसके लिए मैंने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया, उस कम्बल की तुम्हारे द्वारा ऐसी दुर्गति की गई? यह कम्बल का नहीं मेरा अपमान है, मेरी सद्भावना को ठोकर लगाना है! कृतज्ञता के बदले ऐसी कृतघ्नता!

रूपकोषा ने समझ लिया कि मुनि के कायाकल्प का यही उपयुक्त अवसर है।

आगे का वृत्तान्त यथावसर सुनाया जायगा। परन्तु जिनवाणी के अनुसार हमें भी अपना कायाकल्प करना है। जो भव्यजन जिनवाणी का अनुसरण करके अपना जीवनकल्प करेंगे, अर्थात् जिनवाणी के अनुकूल व्यवहार बनाएंगे वही उभय लोक में कल्याण के भागी होंगे।

———

कर्मादान

[६]

आचारांग सूत्र में अन्यान्य जीवों की रक्षा के समान तेजस्काय के जीवों की भी रक्षा का विधान किया गया है। तेजस्काय के जीवों की मान्यता जैन दर्शन की असाधारण मान्यता है। वनस्पतिकाय की सजीवता का तो औरों को भी आभास मिला था मगर उन्हें तेजस्काय के जीवों का पता नहीं चला। तेजस्काय के जीवों का परिज्ञान दिव्य दृष्टि सम्पन्न जैन महर्षियों को ही हुआ।

तेजस्काय के जीव एकेन्द्रिय होने पर भी वायुकाय के समान संचरण शील हैं। अतएव स्थावर होने पर भी उनकी गणना गति की अपेक्षा से त्रस जीवों में की गई है।

अध्यात्ममार्ग का साधक अहिंसा के पथ पर चलता है तथा भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनों से बचता रहता है। अध्यात्ममार्ग के साधक दो प्रकार के होते हैं- अनगार और गृहस्थ। जहाँ तक त्रस जीवों की हिंसा के त्याग का प्रश्न है, दोनों उसके त्यागी होते हैं, अलवत्ता गृहस्थ उसमें कुछ अपवाद रखता है। वह संकल्पी हिंसा का ही त्याग करता है आरंभी हिंसा का त्याग नहीं कर पाता, जबकि गृहत्यागी मुनि दोनों प्रकार की हिंसा के तीन करण और तीन योग से त्यागी होते हैं। यद्यपि गृहस्थ श्रावक भी सब प्रकार की हिंसा को त्याज्य मानता है और उससे यथासंभव बचने का प्रयत्न भी करता है, मगर लाचारी के कारण ही वह त्याग नहीं सकता। लापरवाही उपेक्षा या अश्रद्धा के कारण वह त्याग न करता हो, ऐसी बात नहीं है। श्रावक का लक्ष्य अपनी समस्त वृत्तियों पर अंकुश रखने का ही होता है।

अपनी वृत्तियों को नियंत्रित करने के लिए श्रावक भोग उपभोग के समस्त साधनों की भी एक सीमा निर्धारित कर लेता है। अभी इसी व्रत का विवेचन चल रहा है। इसी विवेचन के प्रकरण में कर्मादानों का उल्लेख किया गया है और भाडी कम्मे तथा फोडी कम्मे के सम्बन्ध में कल कहा जा चुका है। इन कर्मों से स्थावर जीवों के साथ त्रस जीवों का भी प्रचुरता के साथ घात होता है। कुंआ, खदान आदि खोदने में अनेकानेक जन्तुओं का विघात होजाता है। हल, कुदाल आदि से साधारण जन्तु योंही धक्का लगने से मर जाते हैं। कभी कभी बड़े जीव भी चपेट में आ जाते हैं। अतएव भूमि को फोड़ने का धंधा करना श्रावकोचित कार्य नहीं है। वह व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से अप्रशस्त माना जाता है।

कुछ आचार्यों ने स्फोट कर्म की व्याख्या करते हुए बारीक कदम उठाया है और चना आदि से दाल बनाना भी इसमें शामिल कर दिया है। इस व्यवस्था के अनुसार इसका क्षेत्र व्यापक हो जाता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कर्मादानों के त्याग का संबंध गृहस्थ श्रावकों के साथ है। इसके अतिरिक्त कर्मादान वही होता है जिसमें महान् आरंभ होता हो। अगर दाल बनाना भी कर्मादान में परिगणित कर लिया जाय तो इसी कोटि के अन्यान्य कार्यों को भी कर्मादान गिनना होगा और ऐसी स्थिति में गृहस्थी के अनेक अनिवार्य दैनिक कार्य भी महारंभी-कर्मादान मान्य करने पड़ेंगे। व्रत न पालन करने का एक कारण भय की भावना है। लोग व्रत अंगीकार करने से डरते हैं। सोचते हैं- न जाने इस व्रत का पालन हो सकेगा या नहीं? व्रत धारण न करने की अवस्था में मनुष्य उन्मुक्त रहता है, व्रत ग्रहण करते ही बन्धन में आना पड़ता है। इसी भय से कई लोग व्रत अङ्गीकार करने से बचना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में गृहस्थी के सामान्य कार्यों को भी अगर श्रावक के लिए कर्मादान कह कर त्याज्य ठहरा दिया जाय तो ठीक नहीं होगा। शास्त्र में वर्णन आता है कि सकडाल पुत्र के ५०० वर्तनों की दुकानें थीं वह कुम्हार का काम करते हुए भी श्रावक था। ढंक नामक एक प्रजापति (कुम्हार) भी अच्छा श्रावक हो गया है, जिसने सुदर्शना साध्वी की श्रद्धा शुद्ध की। वह मिट्टी के वर्तनों की दुकान करता था और उन्हें पकाता भी था।

सुदर्शना एक प्रमुख साध्वी थी। जब जमालि सिद्धान्त विरुद्ध प्ररूपणा और श्रद्धा के कारण भगवान् महावीर के साधुसंघ से पृथक होने लगे तो सुदर्शना ने भी जमालि का अनुसरण किया। उनका कथन यह था कि कोई भी कार्य जब तक किया जा रहा है तब तक उसे किया नहीं कहा जा सकता। जब कार्य किया जा चुके तभी उसे किया कहना चाहिए। 'क्रियमाण' को 'कृत' कहना मिथ्या है।

भगवान् महावीर के मतानुसार क्रियमाण कार्य को भी कथंचित् कृत कहा जा सकता है। बात यह है कि हम स्थूल दृष्टि से जिसे एक कार्य कहते हैं, वास्तव में वह अनेकानेक छोटे-छोटे कार्यों का समूह होता है। उदाहरणार्थ जुलाहा वस्त्र बनाता है तो हम वस्त्र बनाने को एक कार्य समझते हैं, परन्तु वह एक ही कार्य नहीं है। ताना-बाना बनाना, फिर उसमें एक-एक तार (डोरा) डालते रहना आदि सब मिल कर अनेक क्रियाओं से एक कार्य की निष्पत्ति होती है। जुलाहे ने जब एक तार डाला तब वस्त्र को यदि नहीं बना कहा जाय तो दूसरा, तीसरा और चौथा तार डालने पर भी नहीं बना ही कहा जाएगा। इसी प्रकार अन्तिम तार डालने पर भी उसे बना हुआ नहीं कह सकते। जैसा पहला तार वैसा ही अन्तिम तार है। पहला तार एक होता है तो अन्तिम तार भी एक ही होता है। अगर एक तार से वस्त्र बना हुआ नहीं कहलाता तो अन्त में भी बना हुआ नहीं कहा जा सकेगा। अतएव यही मानना उचित है कि जब वस्त्र बन रहा है तो डाले हुए तारों की अपेक्षा उसे बना हुआ कहा जा सकता है।

मगर जमालि की समझ में यह बात नहीं आई। सुदर्शना साध्वी भी उसके चक्कर में आ गई। सुदर्शना की साथिनी अन्य कई साध्वियों ने भी उसका साथ दिया।

देखा जाता है कि कभी-कभी बड़ी शक्तियां जिस कार्य में असफल सिद्ध हो जाती हैं छोटी शक्ति उसे सम्पन्न करने में सफल हो जाती है।

मध्यान्ह का समय था। कुंभकार ढंक घड़े पर थप्पियां लगा रहा था। कुछ दूरी पर बैठी साध्वियां स्वाध्याय कर रहीं थीं। ढंक को पता चल

गया कि ये साध्वियाँ भगवान् महावीर के वचनों पर विश्वास नहीं करतीं और जमालि के मत को मानती हैं । उसने सोचा-संघ में अनैक्य होने से शासन को धक्का लगता है । तीर्थंकर का शासन संघ सहारे ही चलता है और शासन चलता है तो अनेक भव्य जीव उसका आश्रय लेकर अपना आत्म-कल्याण करते हैं । अतएव शासन की उन्नति के लिए संघ को समर्थ होना चाहिए । संघ की अनेकता को मिटाने का प्रयास करना प्रत्येक शासनभक्त का प्रथम कर्त्तव्य है । इसके अतिरिक्त यह साध्वियाँ मिथ्यात्व के चक्कर में पड़ी हैं । अतः इनका उद्धार करना भी महान् लाभ है ।

इस प्रकार की प्रशस्त भावना कुंभकार के हृदय में उत्पन्न हुई ! भावना ने प्रेरणा पैदा की और प्रेरणा ने युक्ति सुझाई । हृदय का बल उसके पास था । तर्कबल उसे प्राप्त नहीं था । तर्क के लिए उर्वर मस्तिष्क चाहिए । मगर तर्कबल की अपेक्षा भावना का बल प्रबल होता है ।

कुम्भकार ने चादर के छोर पर आग की एक चिनगारी डाल दी । चिनगारी ने अपना कार्य आरम्भ किया । वह चादर को जलाने लगी । चद्दर का एक कोना जल गया साध्वियों ने चादर जलते देखकर कुम्भकार से कहा-देवानुप्रिय ! तुमने यह चादर जला दिया ?

कुम्भकार को अपनी बात कहने का मौका मिला । उसने कहा-बड़े विस्मय की बात है कि आप क्रियमाण कार्य को कृत कहना मिथ्या समझती हैं और जलते हुए चादर के एक छोर को 'चादर जला दिया' कहती हैं । आपके मन्तव्य के अनुसार तो चादर जली नहीं है । फिर आप मिथ्या भाषण कैसे करती हैं ?

साध्वियां समझ गईं । इस युक्ति से उन्हें अपने भ्रम का पता चल गया ।

सुदर्शना ने कहा-भव्य, हम आपके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हैं । आपने हमारी मिथ्या धारणा में संशोधन कर दिया है । अब तक हमने असत्य की श्रद्धा

और प्ररूपणा की है, उसके लिए प्रायश्चित्त लेना होगा। भगवान् के श्रीचरणों में जाकर क्षमा याचना करनी होगी।

आत्म शुद्धि के लिए सरलता की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस साधक का हृदय सरल है, वह कदाचित् उन्मार्ग पर भी चला जाय तो शीघ्र सन्मार्ग पर आ सकता है! इसके विपरीत वक्र हृदय साधक शीघ्र समझता नहीं और कदाचित् समझ जाय तो भी अपने को न समझा हुआ प्रकट करता है। उसके हृदय में कपट होता है, जिसके कारण उसकी बाह्य क्रियाएँ सफल नहीं हो पातीं। भगवान् कहते हैं—

सोही उज्जु अभूऊस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।

जिसके अन्तःकरण में ऋजुता है, उसीका हृदय पवित्र है और जिसका हृदय पवित्र होता है वही वास्तव में धर्मात्मा है। साध्वी सुदर्शना के हृदय में सरलता थी। हजार साध्वियाँ उसके नेतृत्व में थीं। वह विदुषी और कार्यशीला थी। उसने गुरु के निकट जाकर निवेदन किया-हमारी विचार-सरणी अशुद्ध थी। अब हमें अपनी मिथ्या धारणा का परिज्ञान हुआ है। हम आपके चरणों में नमस्कार करती हैं। समुचित प्रायश्चित्त देकर हमारी आत्मा की शुद्धि कीजिए।

इस प्रकार एक सामान्य व्रती श्रावक, साध्वी समूह के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गया। उसमें तर्कबल नहीं था। तर्क करने से जय-पराजय की भावना का उदय हो सकता है और सत्य तत्व के निर्णय में कई बार वह बाधक बन जाता है। श्रावक ने युक्तिबल से काम लिया और अहंकार को आड़े नहीं आने दिया, अतएव सफलता शीघ्र मिल गई। किसी शायर ने ठीक कहा है—

'फिलसफी की बहस के अन्दर खुदा मिलता नहीं।
डोर को सुलझा रहा हूं, और सिरा मिलता नहीं।'

उच्चकुल जाति या भौतिक वैभव काम नहीं आएगा। पवित्र हृदय से की गई करणी ही काम आएगी और करणी के अनुसार ही सुगति मिलेगी।

धर्म क्रिया करने से व्यावहारिक जीवन में कुछ गंवाना नहीं पड़ता, बल्कि वह भी अत्यन्त सुख-शान्तिदायक बन जाता है। व्रतों की सीमाएं इस प्रकार निर्धारित की गई हैं कि प्रत्येक वर्ग अपने जीवन व्यवहार को भलिभाँति निभाता हुआ भी उनका पालन कर सकता है और अपनी आत्मा को कर्म के बोझ से हल्का बना सकता है। जो समस्त सांसारिक व्यवहारों से मुक्त होकर पूर्ण रूप से व्रतों का पालन करना चाहता है, वह अपनी आत्मा का कल्याण शीघ्र कर सकेगा। किन्तु जो इतना करने में समर्थ नहीं हैं वह भी एक सीमा बाँध कर व्रती बन सकता है।

प्रजापति ढंक यद्यपि कुंभकार की आजीविका करता था तथापि वह सन्तोषी था। उसने अपने भोगोपभोग की मर्यादा कर ली थी और इच्छाओं को सीमित कर लिया था।

त्रिकालवेत्ता मुनि होने के कारण भगवान् महावीर स्वामी के सामने सभी बातें हस्तामलकवत् हों, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। जमीन फोड़ने के साथ दिल फोड़ने का काम भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। बहुत-से काम ऐसे होते हैं जिनमें ऊपरी दृष्टि से महारंभ नहीं दिखाई देता, बल्कि विशेष आरंभ भी मालूम नहीं होता, तथापि उन्हें यदि सजगता एवं निर्लोभ भाव से नहीं किया जाय तो वह महारंभ का रूप ले लेते हैं। उदाहरण के लिए वकालत के धंधे को ही लीजिए। इस धन्धे में विशेष आरम्भ-समारम्भ नहीं मालूम होता। शुद्ध न्याय की प्राप्ति में सहायक होना वकील का कार्य है। किन्तु यदि कोई वकील सत्य-असत्य की परवाह न करके केवल आर्थिक लाभ के लिए असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करता है और जान-बूझ कर निरपराध को दण्डित कराता है तो वह अपने धन्धे का दुरुपयोग करके महान् आरम्भ पाप का कार्य करता है। यह दिल फोड़ने वाला कार्य है।

इसी प्रकार जुआ खेलने में भी प्रत्यक्ष आरम्भ दिखाई न देने पर भी घोर आरम्भ समझना चाहिए। द्यूत सात कुव्यसनों में गिना गया है और श्रावक के योग्य कार्य नहीं है।

इस अपेक्षा से हल और कुदाली चलाने वाला छोटी हिंसा करता है बाह्य हिंसा करता है। किन्तु वचनों द्वारा हृदय फोड़ने वाला दो-चार की नहीं, हजारों की हिंसा भी कर सकता है। अतः हर कार्य में विवेक की आवश्यकता है। सच्चा व्रती साधक वह है जो हाथों-पैरों के साथ अपनी वाणी और इन्द्रियों को भी वश में रखता है। ऐसा साधक ही अहिंसा सत्य आदि का निर्वाह करके आदर्श जीवन व्यतीत कर सकेगा।

साधक के लिए आवश्यक है कि वह जीवन के आन्तरिक रूप (विचार) और बाह्य रूप (आचार-व्यवहार) को एक-सा संयममय बनाए रक्खे। जैसी उत्तमता वह बाहरी व्यवहार में दिखलाता है वैसी ही उसके अन्तःकरण में होनी चाहिए। बड़े से बड़ा प्रलोभन होने पर भी उसे फिसलना नहीं चाहिए।

जो मनुष्य भोगोपभोग में संयम नहीं रखता वह प्रलोभनों का सामना नहीं कर सकता। प्रलोभन उसे डिगा देते हैं और कर्त्तव्य से च्युत कर देते हैं। उसकी साधना विफल हो जाती है। भगवान् महावीर ने ऐसी सुन्दर आचार-नीति का उपदेश दिया है कि जिससे जीवन के लिए आवश्यक कोई कार्य भी न रुके और आत्मा बन्ध से लिप्त भी न हो।

दूसरों का सफाया कर दो, सर्वस्व लूट लो, इत्यादि विचार दूसरों ने लोगों के समक्ष रक्खे और भय एवं हिंसा के आश्रय से पापों को मिटाने का प्रयत्न किया किन्तु महावीर स्वामी ने कहा—यह गलत तरीका है। हिंसा से हिंसा नहीं मिटाई जा सकती,पाप के द्वारा पापका उन्मूलन नहीं हो सकता। रक्त से रंजित वस्त्र को रक्त से धोकर स्वच्छ नहीं किया जा सकता। जिस बुराई को मिटाना चाहते हो उसी का आश्रय लेते हो, यह तो उस बुराई को मिटाना नहीं है बल्कि उसकी परम्परा को चालू रखना है। हिंसा, परिग्रह, भ्रष्टाचार और बेईमानी को मिटाना चाहते हो और उन्हीं का सहारा पकड़ते हो, यह उलटी बात है।

श्रीमन्तों को गोली मार दो और उनका धन लूट लो, क्योंकि ऐसा करने से गरीबों की गरीबी मिट जाएगी और मुनाफाखोरों का अन्त हो

जाएगा। यह साम्यवादियों की धारणा है और यही साम्यवाद का मूल आधार है। वे लोग वर्ग संघर्ष को उत्तेजना देकर अशान्ति उत्पन्न करने में विश्वास करते हैं। मगर क्या यह तरीके सही हैं? अशान्ति के द्वारा शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। चिन्तन करने पर ये तरीके सही नहीं मालूम होंगे। एक से छीन कर दूसरे को देने से क्या मुनाफा कमाने की वृत्ति का अन्त आ जाएगा? ऐसा करने से वैर-विरोध मिट जाएगा? नहीं, इससे तो एक के बदले दूसरी बुराई पैदा होती रहेगी और बुराइयों का तांता लग जाएगा।

समाज में जो आर्थिक विषमता है, उसे मिटाने के लिए ऊपर से थोपा हुआ कोई भी हल कामयाब नहीं हो सकता। न तो लूटपाट के द्वारा उसे दूर किया जा सकता है और न कानून की सहायता से ही। आज शासन की ओर से मुनाफाखोरी के उन्मूलन के लिए अनगिनती कानून बनाये जा रहे हैं और अध्यादेश पर अध्यादेश जारी किये जा रहे हैं। मगर ऐसा करने का परिणाम क्या आ रहा है? कानूनों की वृद्धि के साथ अप्रामाणिकता की वृद्धि हो रही है, भ्रष्टाचार बढ़ता जाता है, लोग कानून से बचने के लिए बेईमानी का नया तरीका खोज लेते हैं। ऊपर से कोई चीज लादने का इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा फल निकल भी नहीं सकता।

भगवान् महावीर ने मानव-मन की गहराई की थाह ली थी। उनकी दूरदर्शिता असाधारण थी। अढाई हजार वर्ष पूर्व सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उत्थान की जो विधि उन्होंने बतलाई थी, वही आज भी उपयोगी हो सकती है और कहना तो यह चाहिए कि उसके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि संभव नहीं हो सकती। उनके द्वारा जिन नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे चिर पुरातन होने पर भी सदा नूतन रहेंगे। वे देश और काल की परिधि में बन्धे हुए नहीं हैं। शाश्वत सत्य के रूप में वे आज भी हमारे लिए प्रेरणा के प्रबल स्रोत हैं।

हिंसा और असत्य आदि के निवारण के लिए भगवान् महावीर ने जहाँ एक-एक व्रत का विधान किया, वहाँ आर्थिक बुराई से बचने के लिए एक नहीं,

तीन व्रतों का प्रतिपादन किया है। परिग्रह परिमाण, भोगोपभोग परिमाण और अनर्थदण्ड त्याग, ये तीन गृहस्थ के व्रत एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं। गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी इच्छाओं के अनन्त प्रसार को रोक दे और उन्हें सीमित कर ले। ऐसा करने के लिए उसे भोग और उपभोग की सामग्री की मर्यादा करनी होगी। इसके विना इच्छाएं सीमा में नहीं रहेंगी। इन दोनों व्रतों के यथावत् पालन के लिए निरर्थक वस्तुओं के संग्रह से और निरर्थक पापों से बचना भी आवश्यक होगा।

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इन व्रतों का आश्रय लिया जाय तो विश्व की अधिकांश समस्याएं बड़े सुन्दर ढंग से और स्थायी रूप से सुलझ सकती हैं। इस विधान में ऊपर से कोई चीज थोपी नहीं जाती वरन् हृदय में परिवर्तन किया जाता है। अतएव यह विधान ठोस और स्थायी है।

भगवान् महावीर के तत्त्वज्ञान का प्रधान साध्य समभाव है। समभाव की साधना पर उन्होंने बहुत बल दिया है। इस साधना की विशेषता यह है कि इससे व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त उच्च, उदार, शान्त और सात्विक बनता है, साथ ही समाज में समता और शान्ति आती है। व्यक्तियों का समूह ही समाज है और व्यक्तियों के जीवन में जब सुधार हो जाता है तो समाज स्वयं सुधर जाता है।

जीवन को बनाने के लिए दुर्वृत्तियों पर अंकुश होना आवश्यक है। साथ ही प्रत्येक को दूसरे का जीवन बनाने में निमित्त भूत बनना चाहिए। जीवन में अनिष्ट और कटु प्रसंग आते हैं और आते रहेंगे, यह पर घर का निमित्त है, इसमें बहना नहीं चाहिए। ऐसे अवसर पर संयम शीलता से काम लेना ही उचित है। असंयमशील बनने से अधःपतन होता है।

सिंह गुफावासी मुनि संयम की परिधि से बाहर निकले तो उनकी साधना दूपित हुई। रूपाकोशा ने जब रत्न कम्बल पैर पोंछ कर एक तरफ

फेंक दिया तो मुनि ने इसे अपना घोर अपमान समझा और रूपाकोषा को फूहड़ समझा। वे सोचने लगे—कितने परिश्रम से कंबल प्राप्त किया गया था और इसकी यह दुर्दशा हुई ! उनके मन का नाग फुफकारने लगा। राह पर पड़ा सर्प यदि जग जाय तो राही को आगे नहीं बढ़ने देता। तपस्वी इसे सहन नहीं कर सके और बोल उठे—रूपाकोशा ? मैंने तेरी चतुराई की अनेक कथाएं सुनी थीं। समझता था कि तू विवेकशीला है, व्यवहार कुशल है। किन्तु मेरा सुनना और समझना सब मिथ्या सिद्ध हुआ। कल्पना नहीं की कि तेरे भीतर अविवेक का इतना अतिरेक है ! क्या तेरी बुद्धि मारी गई है ! तुझे क्या पता, इस कम्बल के लिए मैंने कितना कष्ट सहन किया है ! कितनी मिहनत और कठिनाई से यह बहुमूल्य और दुर्लभ वस्तु प्राप्त की है ! मगर तू ने इसका इस प्रकार दुरुपयोग किया ! मैं समझ गया—तेरे पास रूप है, गुण नहीं है। कहा भी है—

ना चम्पो ना मोगरो, रे भंवरी ! मत भूल।
रूप सदा गुण बाहिरा, रोहीड़ा का फूल ॥

रोहीड़ा की लकड़ी काम में आती है पर उसके फूल में सुगन्ध नहीं होती। पलाश का फूल भी ऐसा ही होता है। देखने में बहुत सुन्दर मगर सौरभहीन !

रूपाकोषा के प्रति मुनि के मन में जो आकर्षण था, वह कम हो गया। अनुराग में फीकापन आ गया। उधर रूपाकोषा ने भी समझ लिया—अब उपयुक्त समय आ गया है मुनि को सन्मार्ग पर लाने का।

जमीन जब खूब तप जाती है और ऊपर से पानी गिरता है तब चतुर किसान बीज वपन करता है। उपयुक्त समय पर किया हुआ कार्य सफल होता है और उसके लिए अधिक आयास नहीं करना पड़ता। अनुपयुक्त समय पर कार्य करने से प्रयास वृथा हो जाता है।

रूपाकोशा की एक मात्र अभिलाषा मुनि को संयम निष्ठ बनाने की थी। उनके मन में जो अभिमान का विष घुल गया था, उसे वह निकाल फेंकना चाहती थी। अब तक की घटनाएं उसी की भूमिका थी।

संयम से च्युत होते हुए साधक को धर्म में स्थिर करना सम्यक्त्व का एक आचार माना गया है। इस आचार का पालन करने वाला अपने और दूसरे के कल्याण का कारण बनता है।

कर्मादान

[७]

वीतराग प्रभु ने संसार के जीवों को कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग बतलाया है। वह मार्ग ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है। वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप में समझना, उस पर पूर्ण आस्था करना और फिर उसके अनुसार आचरण करना यही आत्म शुद्धि का सही मार्ग है।

कई लोग अकेले ज्ञान से ही निश्रेयस् की प्राप्ति होने की कल्पना करते हैं। उनका कथन है कि तत्त्व के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, आचरण की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु यह मान्यता अत्यन्त भ्रमपूर्ण है और हमारा दैनिक अनुभव भी इसका विरोधी है। ज्ञान मात्र से किसी भी कार्य में चाहे वह लौकिक हो या लोकोत्तर सफलता प्राप्त होती नहीं देखी जाती। औषध के ज्ञान मात्र से रोग का अन्त नहीं आता भोजन देख लेने से भूख नहीं मिटती और किसी यंत्र को बनाने के ज्ञान मात्र से यंत्र नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्म स्वरूप के ज्ञान मात्र से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

हेय और उपादेय का ज्ञान आवश्यक है किन्तु उस ज्ञान को क्रियान्वित करने की भी अनिर्वार्य आवश्यकता है। हेय जिसे समझा, उसका त्याग करना चाहिए और उपादेय का उपादान अर्थात् ग्रहण करना चाहीए। यही ज्ञान की सार्थकता है। जान लिया किन्तु तदनुसार आचरण नहीं किया तो ज्ञान निरर्थक है। कहा भी है–

ज्ञानं भारः क्रियां बिना।

आचारविहीन ज्ञान भारभूत हैं। उससे कोई लाभ नहीं होता। सर्प को सामने आता जान कर भी जो उससे बचने का प्रयत्न नहीं करता है, उसका

जानना किस काम का ? ज्ञानी पुरुषों का कथन तो यह है कि जिस ज्ञान के फलस्वरूप ग्राचरण न वन सके, वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान ही नहीं है। सच्चा ज्ञान वही है जो ग्राचरण को उत्पन्न कर सके। निष्फल ज्ञान वस्तुतः अज्ञान की कोटि में ही गिनने योग्य है।

इसी दृष्टि कोण को सामने रख कर भगवान् महावीर ने ज्ञान और चारित्र दोनों को मोक्ष का अनिवार्य कारण कहा है। जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है, मुनि और गृहस्थ दोनों समान रूप से उसकी साधना कर सकते हैं, मगर चारित्र के संबंध में यह संभव नहीं है। इस कारण चारित्र दो रूपों में विभक्त कर दिया गया है—मुनि धर्म और श्रावक धर्म। दोनों को अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार और शक्ति के अनुसार अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए। इस विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

गृहस्थों के सामने आनन्द श्रावक का जीवन आदर्श रूप है। उसका विवेचन एक प्रकार से गृहस्थ चारित्र का विवेचन है। भगवान् ने उसे धर्म देशना दी। उसे वोध प्राप्त हुआ और फिर उसने श्रावक धर्म को अंगीकार किया। इसी प्रकरण को लेकर कर्मादानों का विवेचन चल रहा है। पांच कर्मादानों के विषय में प्रकाश डाला जा चुका है, अब छठे कर्मादान पर विचार करें।

(६) **दंतवाणिज्जे** (दन्त वाणिज्य)—दांतों का व्यापार करना दन्त वाणिज्य कहलाता है। पहले वतलाया जा चुका है कि वस्तु का उत्पादन न करके उसे खरीदना और खरीद कर बेचना वाणिज्य कहलाता है। दांतों के व्यापार का हिंसा से गाढ़ा संवंध है। कोई व्यापारी हाथी आदि के दांतों को खरीदने के लिए लोगों को पेशगी रकम देता है। पेशगी रकम लेने वाले दांत प्राप्त करने के लिए हाथी आदि का वध करते हैं और दांत लाकर व्यापारी को देते हैं। ऐसी स्थिति में वह व्यापारी दंत वाणिज्य नामक कर्मादान के पाप का भागी होता है।

दांत साधारणतः—अचित्त वस्तु दीख पड़ती है किन्तु दीर्घ-दृष्टि महर्षियों ने विचार किया और कहा—दांत अचित्त हैं, इस विचार से हे मानव ! तू

भ्रम में न पड़। थोड़ा आगे का भी विचार कर। जब दांतों का संग्रह और उपयोग अधिक परिमाण में होगा तो वे आएँगे कहाँ से ? आखिर उनके लिए हाथियों की हत्या करनी पड़ेगी या जीवित हाथियों के दांत उखाड़े जाएंगे। दांत उखाड़ने में हाथी को कितनी पीड़ा होती है, यह तो भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। खुराक के लालच में पड़ कर और स्पर्शनेन्द्रिय सम्बन्धी भोग के आकर्षण में पड़ कर हाथी पकड़ में आजाते हैं। सांभर आदि पशुओं के सींगों के लिए उनकी हत्या की जाती है।

हाथी को पकड़ने के लिए अनेक तरीके काम में लाए जाते हैं। कहते हैं—एक बड़ा-सा गड्ढा खोद कर उस पर बांसों की एक जाली सी बिछा दी जाती है। उस पर हाथी को लुभाने के लिए कृत्रिम हथिनी बना कर खड़ी कर दी जाती है अथवा कोई खाद्य पदार्थ रख दिया जाता है। हथिनी अथवा खाद्य वस्तु को देख कर हाथी प्रलोभन में पड़ कर उस पर चला जाता है और गड्ढे में गिर जाता है। गड्ढे में गिरने के बाद उसे कई दिनों तक भूखा-प्यासा रक्खा जाता है। तत्पश्चात् थोड़ी-थोड़ी खुराक दे कर उसे वशीभूत किया जाता है।

बीहड़ वनों में प्रकृति की असीम सम्पदा बिखरी पड़ी है। अपनी बढ़ी-चढ़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव वनों पर भी आक्रमण करता है और उस सम्पदा को लूटता है। जब वन्य सम्पदा लुट जाती है और पशुओं को पर्याप्त खुराक नहीं मिलती तब वे खेतों की ओर बढ़ते हैं। अगर मनुष्य वनों को पशुओं के लिए छोड़ दे तो उन्हें खेतों को उजाड़ने की आवश्यकता ही न हो!

किन्तु मानव तो यही समझता है कि सारी धरती का पट्टा ईश्वर ने उसी को लिख कर दे दिया है। मनुष्य के अतिरिक्त मानो अन्य किसी प्राणी को जीवित रहने का अधिकार ही नहीं है, कैसी संकीर्ण भावना है। कितनी अधम स्वार्थान्धता है।

जो मनुष्य हाथी के दांतों का उपयोग करने के लिए बड़े-बड़े हाथियों का वध करता है और उस वध के परिणाम स्वरूप तैयार होने वाले चूड़ों को

सुहाग का चिह्न समझता है, उस मनुष्य से यह आशा कैसे की जाय कि वह जानवरों के प्रति न्याय करेगा। उनके अधिकारों का अपहरण नहीं करेगा ?

हाथी दांत की अनेक वस्तुएं बनती हैं। पहले उसकी चूडियाँ पहनी जाती थीं। आज कल भी राजस्थान में बाहुओं पर आभूषण के रूप में हाथी दांत पहनने का रिवाज है। वह मंगल सूचक माना जाता है। मगर आम तौर पर अब प्लास्टिक की चूड़ियों ने हाथीदांत का स्थान ले लिया है। हाथीदांत के चूड़ों का प्रचलन बन्द करने के लिए साधकों को वड़ी प्रेरणा देनी पड़ी थी।

आनन्द के समय में दन्त वाणिज्य बहुत होता था, अतएव इसको रोकने के लिए भगवान् महावीर स्वामी को इसके त्याग का खास तौर से उपदेश देने की आवश्यकता हुई। दांतों को प्राप्त करने के लिए हिंसा तो होती ही है, अगर संभाल कर न रक्खा जाय तो उनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति भी हो जाती है और फिर उनकी हिंसा का भी प्रसंग उपस्थित होता है। इस प्रकार हिंसा जनक होने के कारण दन्तवाणिज्य कर्मादानों में परिगणित किया गया है। यह वाणिज्य व्रतधारी श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

(७) **लक्ख वाणिज्जे** (लाक्षा वाणिज्य)—लाख का व्यापार करना लाक्षावाणिज्य कहलाता है, इस व्यापार में लाखों जीवों की हिंसा होती है। गोंद वृक्ष का रस है, चपड़ी श्लेषक (चिपकाने वाली या जोड़ने वाली) वस्तु है। रबड़ भी ऐसी वस्तु है। इन चीजों में चिपक कर जीव-जन्तु प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। अतएव लाख का व्यापार श्रावक के लिए त्याज्य है।

इन कर्मादनों में हिंसा की बहुलता की दृष्टि रक्खी गई है। अतएव दांत या लाख के वाणिज्य के समान जिन अन्य वस्तुओं के व्यापार से प्रचुर हिंसा होती है, उन्हें भी यथायोग्य इन्हीं वाणिज्यों में अन्तर्गत कर लेना चाहिए और उनके व्यापार से भी बचना चाहिए।

बारूद भी इसी प्रकार की हिंसाकारक वस्तु है। उसकी बनी अनेक वस्तुओं से बहुत हिंसा होती है। बारूद से दुकानों और घरों के जल जाने की घटनाएँ प्रायः पढ़ने-सुनने में आती ही रहती हैं। जिन दुकानों में बारूद की

बनी वस्तुओं का विक्रय होता है, उनमें जब कभी विस्फोट हो जाता है तो आस-पास की दुकानें, मकान और मनुष्य तक जल कर भस्म हो जाते हैं। अतएव हिंसाकारी पदार्थों के व्यापार से श्रावक को सदैव बचते रहना चाहिए। ऐसे धंधे करके मनुष्य जो धन एकत्र करता है, वह धन नहीं, विष है जो घोर अनर्थ का कारण है।

कई दुकानदार सार्वजनिक उपयोग की अनेक वस्तुएँ अपनी दुकान में रखते हैं और फटाके भी बेचने के लिए रख लेते हैं। सोचने की बात है कि भला फटाकों से वे कितना धन संचित कर लेंगे? वास्तव में इस प्रकार के व्यापार से लाभ कम और हानि अधिक होती है। सामाजिक और राष्ट्रीय हानि भी इससे कम नहीं है। प्रतिवर्ष दीपावली आदि के अवसरों पर न जाने कितने रुपयों की बारूद फटाके आदि के रूप में भस्म कर दी जाती है। करोड़ों का स्वाहा हो जाता है। लाभ तो कुछ होना नहीं, हानि ही हानि होती है। करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट होती है और सैकड़ों बालक जल जाते और जल कर मर जाते हैं। एक ओर शिकायत की जाती है कि देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है और दूसरी ओर इतनी बड़ी धनराशि एक खतरनाक और हत्याकारी मनोरंजन के लिए नष्ट कर दी जाती है। फटाके बनाने में जो सम्पदा स्वाहा होती है, उसे अच्छे कार्य में लगाया जाय तो देश का भला हो सकता है।

किन्तु खेद की बात है कि धनी लोग त्योहारों में दामाद को सौगात में मिष्ठान्न के साथ फटाके भी भेज दिये जाते हैं। क्या जमाई को सम्मान करने का यह अच्छा तरीका है? किन्तु कौन इस पर विचार करे! आज लोगों का विवेक-दीपक बुझ रहा है। बुद्धि पर पर्दा पड़ रहा है।

धर्म एकान्त मंगलमय है। आत्मा, समाज, देश तथा अखिल विश्व का कल्याणकर्त्ता और त्राता है। मगर आज धर्म की ज्योति मंद हो रही है। लोग धर्म के वास्तविक मर्म को समझने का प्रयत्न नहीं करते और जो थोड़ा-बहुत समझते हैं, उसे आचरण में नहीं लाते। उनका खयाल है कि धर्म के आचरण से उनके लौकिक कार्यों में बाधा उत्पन्न होगी; मगर यह धारणा

नितान्त भ्रमपूर्ण है। धर्म लोक व्यवहार का विरोधी नहीं है प्रत्युत उसे सही दिशा देने का प्रयत्न करता है। उसे हितकर और सुखकर बनाता है।

विवेक से काम लिया जाय तो कुतूहल, शृंगार, सजावट और दिलवहलाव के लिए की जाने वाली निरर्थक हिंसा से मनुष्य सहज ही बच सकता है। ऐसा करके वह अनेक अनर्थों से बचेगा और राष्ट्र का हित करने में भी अपना योगदान कर सकेगा। फटाकों के बदले बच्चों को यदि दूसरे खिलौने दे दिये जाएं तो क्या उनका मनोरंजन नहीं होगा ? फटाकों से बच्चों को कोई शिक्षा नहीं मिलती। जीवन निर्माण में भी कोई सहायता नहीं मिलती। उनकी बुद्धि का विकास नहीं होता। उलटे उनके झुलस जाने या जल जाने का खतरा रहता है। समझदार माता-पिता अपने बालकों को संकट में डालने का कार्य नहीं करते। किस उम्र के बालक को कौनसा खिलौना देना चाहिए जिससे उसका बौद्धिक विकास हो सके, इस बात को भली भाँति समझ कर जो माता-पिता विवेक से काम लेते हैं, वे ही अपनी सन्तान के सच्चे हितैषी हैं। मगर यहाँ तो बच्चे और नौजवान सभी एक घाट पानी पीते हैं। छोटे बच्चे तो साधारण और छोटे फटाके ही छोड़ते हैं मगर समझदार नौजवान बड़े-बड़े फटाके फोड़ कर आनन्द का अनुभव करते हैं। अगर बड़े-बूढ़े लोग सभी दृष्टियों से हानिकारक ऐसी वस्तुओं का इस्तेमाल करना छोड़ दें तो समाज के गलत रिवाज बड़ी सरलता से खत्म हो सकते हैं।

आज शासन का रवैया भी अजीब-सा है ! एक ओर शासन के सूत्रधार बचत-योजना का निर्माण और प्रचार करते हैं और लोगों को चीजों के व्यर्थ उपयोग से बचने का उपदेश देते हैं, और दूसरी ओर फटाके जैसी चीजों के निर्माण की अनुमति देते हैं और उनके लिए बारूद सुलभ करते हैं ! करोड़ों की सम्पत्ति इन फटाकों के रूप में राख बन जाती है और उसके विषैले धुंए से सारा वातावरण विषाक्त बन जाता है। सरकार क्यों इस ओर ध्यान नहीं देती यह आश्चर्य की बात है।

दिवाली और होली जैसे त्यौहारों पर लोग विशेष रूप से मदिरापान करते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले गांधीजी ने मदिरापान बन्द करने के लिए

प्रचार और आन्दोलन किया था, किन्तु अब देश स्वतन्त्र हो गया है और गाँधीजी के अनुयायियों के ही हाथ में सत्ता है फिर भी वह बन्द नहीं हो रहा। क्योंकि मद्यनिषेध से सरकार की आय में कमी होगी और मद्यपान करने वाले लोग रुष्ट हो जाएंगे तो 'वोट' नहीं देंगे, इस भय से सरकार अब इस ओर ध्यान नहीं देती। कहावत है—'चोरा कुतियां मिल गये, पहरा किसका देय !'

देश राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन हुआ तो भारतीय नेताओं ने प्रजातंत्र कीं पद्धति पसंद की। इस पद्धति में प्रजा के नुमाइंदों के हाथ में शासन रहता है। यह पद्धति अन्यान्य शासन पद्धतियों से उत्तम मानी गई है मगर इसकी सफलता के लिए प्रजा का सुशिक्षितन और योग्य होना भी आवश्यक है। जब तक जनसाधारण में नैतिक भावना उच्चकोटि की न हो, आदर्शों और सिद्धान्तों की समझ न हो और व्यापक राष्ट्रहित को व्यक्तिगत हित से ऊपर समझने की वृत्ति न हो तब तक इस शासन पद्धति की सफलता संदिग्ध ही रहती है। आज देश में प्रजातंत्र के प्रति जो अनास्था उत्पन्न हो रही है, उसका कारण यही है कि अशिक्षित जनता से वोट प्राप्त करने के लिए उसको नाराज नहीं किया जा सकता और उसमें घुसी हुई मदिरापान जैसी बुराइयों के विरुद्ध कदम उठाने का भी साहस नहीं किया जा सकता। इससे देश को हानि पहुँती है। बालक कितना ही रुष्ट क्यों न हो, माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वह उसे कुमार्ग पर जाने से रोके।

राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए लम्बे काल तक संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष में भाग लेने वालों ने लाठियों की मार झेलीं, गोलियां खाईं, करावास के कष्ट सहन किए, कइयों ने अपना सर्वस्व होम दिया। ये सब प्रतिकूल उपसर्ग थे, जिन्हें उन्होने शान्ति के साथ सहन किया। किन्तु जब संघर्ष के फलस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्त हुई और इन योद्धाओं को शासनसत्ता मिली तो उनमें से कइयों का अधःपतन हो गया, कई भ्रष्टाचार में लिप्त हो गए और स्वार्थ साधने लगे। इस प्रकार अनुकूल उपसार्ग को वे नहीं सहन कर सके।

सिंह की गुफा में तपस्या करने वाले मुनिराज की भी यही स्थिति हुई। प्रतिकूल परीषह को जीतने में तो वे समर्थ सिद्ध हुए मगर अनुकूल परीषह

आते ही विचलित हो गए। अपनी मर्यादा से बाहर होकर रत्नकम्बल लेने के लिए वे नेपाल पहुँचे। रास्ते में कम्बल लुट गया तो दूसरी बार याचना करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया। कठिन यात्रा करके वे पाटली पुत्र पहुँचे और मन ही मन अपने पुरुषार्थ को स्वयं सराहने लगे। मगर रूपाकोशा ने क्षण भर में सारा गुड़ गोबर कर दिया। उसने रत्नकंबल से पैर पौंछ कर उसे यों फैंक दिया मानो वह कोई फटा हुआ चिथड़ा या पुराना टाट का टुकड़ा हो। यह देख कर मुनि को आवेश आ जाना स्वाभाविक ही था। उन्होंने कहा रूपाकोशा तू अत्यन्त ही नादान है।

रूपाकोशा बोली—महाराज; मैंने क्या नादानी की है ?

मुनि—मूल्यवान् रत्नकंबल का क्या यही उपयोग है ?

रूपाकोशा—तो आपका अभिप्राय यह है कि जो वस्तु मूल्यवान् हो उस का उपयोग साधरण काम में नहीं करना चाहिए ?

मुनि—इस बात को तो बच्चा बच्चा समझता है। क्या तुम नहीं समझती ?

रूपाकोशा— मैं तो बखूबी समझती हूँ पर आप ही इस बात को नहीं समझते। आश्चर्य है कि जो बात मुझे समझाना चाहते हैं उसे आप स्वयं नहीं समझते। आप "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" की कहावत चरितार्थ कर रहे हैं।

मुनि—सो कैसे ? मैंने किस वस्तुका क्या दुरुपयोग किया हैं।

रूपाकोशामोह के उदय से आपकी विवेकशक्ति सो गई हैं, इसी कारण आप समझ नहीं पा रहे हैं।

मुनि—क्यों पहेली बुझा रही है।

रूपाकोशा-पहेली नहीं बुझा रही महाराज, आपके हृदय की आग बुझा रही हूँ। मूल्यवान् रत्नकंबल से पैर पौंछना आप नादानी समझते हैं परन्तु

रत्नकंबल अधिक मूल्यवान् है अथवा संयम-रत्न अधिक मूल्यवान् है ? रत्न-कंबल तो सोने चांदी के टुकड़ों से खरीदा जा सकता है मगर संयमरत्न तो अनमोल है। तीन लोक का ऐश्वर्य दे कर भी संयम नहीं खरीदा जा सकता तथा उसका उपयोग आपने अधम काम के लिए नहीं किया है ?

रूपाकोशा के वचनों का बाण लक्ष्य पर लगा। मुनि के अज्ञान का पर्दा हट गया। मोह का अंधकार सहसा विलीन हो गया। भ्रम भाग गया। वे रूपा-कोशा की ओर विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे। पहले की और अब की दृष्टि में आकाश-पाताल जितना अन्तर था, अब तक उन्होंने रूपाकोशा के जिस रूप को देखा था, यह रूप उससे एकदम निराला था। उसमें घोर मादकता थी, इसमें पावनी शक्ति थी। वह रूप मार्ग भुलाने वाला था, यह मार्ग बतलाने वाला था, उस रूप ने उनमें आत्मविस्मृति उत्पन्न कर दी थी, पर इसने स्वरूप की स्मृति जागृत कर दी।

वास्तव में पदार्थ तो अपने स्वरूप में जैसे हैं वैसे ही हैं, परन्तु उन्हें देखने वालों की वृत्ति विभिन्न प्रकार की होती है। दो मनुष्य एक ही वस्तु को देखते हैं मगर एक अपनी दृष्टि का विष उसमें मिला देता है और दूसरा उसे दृष्टि के अमृत से पूत बना देता है। "यथा दृष्टिस्तथासृष्टि." की उक्ति वास्तव में सत्य है।

मुनि ने पहले भी रूपाकोशा के मुखमण्डल को देखा था और अब भी देख रहे थे। मगर इस समय की उनकी दृष्टि में अनेक सात्विक भाव भरे हुए थे। वह सोचने लगे रूपाकोशा वेश्या नहीं महान् शिक्षिका है, संयम और आत्मा की संरक्षिका है। वास्तव में मैं मान भूल गया था, पथभ्रष्ट हो गया था। रूपाकोशा ने मुझे अधःपतन के गर्त से उबारलिया है। मैं अपने संयम रूप चिन्तामणि को गँवाने पर उतारू हो रहा था। कृतज्ञ हूं इस देवी का जिसने स्थिरीकरण आचार का अवलम्बन लेकर मुझे बचा लिया।

इस प्रसंग से रूपाकोशा ने मुनि का मन बदल दिया। उन्होंने कहा-मैं रूपाकोशा पर रोष कर रहा था मगर असली रोष का भाजन तो मैं स्वयं हूं, जो संयम को मलीन कर रहा हूं।

बन्धुओ, जो बड़े से बड़े प्रलोभन के सामने भी अपने संयम को स्थिर रखते हैं वे महापुरुष धन्य हैं और उन्हीं का इस लोक और परलोक में कल्याण होता है।

———

धर्म और कानून का राज्य

'सव्व जगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहिअं।'

——प्रश्न व्याकरण सूत्र

भगवान् महावीर ने उस समय धर्मदेशना प्रारम्भ की जब वे चार घनघातिया कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और कृतकृत्य हो चुके थे। अतएव सहज ही यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि उनके लिये धर्मदेशना देने का प्रयोजन क्या था ? जब वे पूर्ण वीतराग थे, जो कुछ प्राप्त करना था उसे प्राप्त कर चुके थे, तब देशना देने में उनकी प्रवृत्ति क्यों हुई ?

कर्म शास्त्र की दृष्टि से तो कहा जा सकता है कि भगवान् कृतार्थ होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म के उदय को वेदन करने के लिए धर्मदेशना देते हैं। धर्म-देशना देने से ही तीर्थंकर प्रकृति की निर्जरा होती है। यह धर्मदेशना का कारण है। किन्तु दूसरी दृष्टि से भगवान् की धर्मदेशना का लक्ष्य है जीव मात्र की रक्षा। सम्पूर्ण जगत् के जीवों का रक्षण ही तीर्थंकर के प्रवचन का परम लक्ष्य है। यहाँ जीवों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रक्खा गया है। भगवान् की देशना में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है, संकीर्ण भाव नहीं है। ऐसा नहीं है कि वे मनुष्य जाति की रक्षा का उपदेश दें और मनुष्येतर प्राणियों की उपेक्षा करें। शास्त्र में रक्षण और दया इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। वास्तव में रक्षा या दया की भावना समग्रता को लेकर ही चल सकती है। लंगड़ी दया सच्ची दया नहीं कहला सकती।

किसी मनुष्य के चार लड़के हैं। यदि वह सन्ततिप्रेमी है तो चारों पर उसका समान स्नेह होता है। जो पिता पक्षपात से काम लेता है, किसी सन्तान पर स्नेह रखता है और किसी पर नहीं, उसे आदर्श पिता नहीं कहा जा

सकता। इसी प्रकार जो मनुष्यों और कतिपय अन्य प्राणियों की रक्षा एवं दया का ही लक्ष्य रखता है वह पूर्ण दयालु नहीं कहा जा सकता। भगवान् का त्रस और स्थावर सभी जीवों पर एक-सा समभाव था।

प्राणीमात्र की रक्षा वही साधक कर सकता है जो अपने मूल और उत्तर गुणों की सावधानी के साथ रक्षा करता है। आत्मा अपने स्वभाव से गिर न जाय, स्वरूप रमण को छोड़ कर परभावों में रमण न करने लगे, इसके लिये जागृत रहना, यह स्वदया है। जो "पर दया" के साथ स्वदया का भी पालन करता है, वह अपनी आत्मा को वन्धदशा से मुक्त करके निर्बन्ध दशा की ओर ले जाता है। यही प्रवचन का उद्देश्य है।

महारंभ की वात वतला कर प्राणियों की रक्षा की गई, इसके लिए प्रभु की वाणी निमित्तभूत हुई। द्रव्य प्राणियों की रक्षा की, यह द्रव्यदया है। आत्मा में तृष्णा कम हो गई, परिग्रह को बढ़ाने के लिए हृदय में होने वाली उथल-पुथल मिट गई, यह भावदया है।

दारू बनाने वाले को अगर दारू बनाने का त्याग करा दिया जाय तो उसे आर्थिक हानि होगी, मगर दारू के उपयोग करने वाले को और बेचने वाले को लाभ भी होगा। मानव जीवन इतना तुच्छ नहीं है कि दो पैसे पैदा करने के लिए दुर्व्यसन और हिंसा की वस्तु बेची जाय! थोड़े-से पैसों के लिए आत्मा को पाप से मलीन एवं कर्मों से भारी बनाना कदापि विवेक शीलता नहीं है। मनुष्य को कम से कम अपनी आत्मा पर तो दया करनी ही चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि उसे पापों से बचाया जाय। पापों से बचने के लिए ही भोगोपभोग की मर्यादा की जाती है। भोगोपभोग परिमाण व्रत के विवेचन में कर्मादानों का कथन चल रहा है। दन्तवाणिज्य और लाक्षावाणिज्य के विषय में कहा जा चुका है अब आगे रसवाणिज्य पर विचार करना है।

(८) **रसवाणिज्जे** (रसवाणिज्य)—रस शब्द के अनेक आशय ग्रहण किये जा सकते हैं परन्तु कर्मादान के प्रकरण में मदिरा, मधु और चर्बी आदि को ही प्रमुख समझना चाहिए। इन पदार्थों के सेवन से द्रव्य और भावहिंसा होती है, अतएव इनका व्यापार भी घोर हिंसा का कारण है।

'रसवाणिज्य' में जो 'रस' शब्द है उससे षट् रस अर्थ नहीं लेना चाहिए। यह अर्थ लिया जाय तो समस्त खाद्य पदार्थों का व्यापार करना कर्मादान में गर्भित हो जाएगा, जो सर्वथा व्यवहार विरुद्ध होगा।

कई आचार्य घी दूध के विक्रय को भी रसवाणिज्य कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत वर्ष में प्राचीन काल में दूध घृत का बेचना निन्दनीय समझा जाता था। मनुस्मृतिकार ने तो यहां तक कह दिया है ?

त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्। अर्थात् कोई ब्राह्मण यदि दूध बेचता है तो वह तीन दिनों में ब्राह्मण नहीं रहता शूद्र होजाता है।

यद्यपि मनुस्मृति में सिर्फ ब्राह्मण के लिए ऐसा कहा गया है फिर भी इससे दुग्ध विक्रय गर्हित है, यह आभास तो मिलता ही है। तब श्रवक दूध कैसे बेच सकता है यह विचारणीय है। क्योंकि श्रावक का दर्जा ब्राह्मण से निम्न नहीं हो सकता। भारत की साधारण जनता भी दूध बेचना नफरत की निगाह से देखती आ रही है। लोग दूध बेचना पूत बेचना समझते थे छाछ बेचना तो भारत में कलंक की बात गिनी जाती थी।

जैसे जैनाचार्यों ने श्रावक के कर्मों का विवेचन किया है, और पर्याप्त ऊहापोह किया हैं, उसी प्रकार वैदिक स्मृतियों में ब्राह्मणों के कर्मों का भी विवेचन किया गया है!

किन्तु पूर्वकालीन जीवन व्यवस्था में और वर्तमान कालीन व्यवस्था में बहुत अन्तर पड़ गया हैं। परिस्थितियां एकदम भिन्न प्रकार की होगई हैं।

आज पैसा देने पर भी शुद्ध वस्तु का मिलना कठिन हो गया है। दूध, घी तथा अन्य खाद्य पदार्थों में मिलवाट की जाती है, सरकार की ओर से मिलावट को रोकने के लिए तथा मिलावट करने वालों को दंडित करने के लिए अलग से पदाधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। उन पर प्रचुर धन व्यय किया जाता हैं मगर आज के जीवन में इतनी अधिक अप्रांमाणिकता प्रवेश कर गई है कि सरकार का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो। पा रहा अप्रांमाणिकता पर

नियंत्रण करने के लिए नियुक्त बहुत से पदाधिकारी स्वयं अप्रामाणिकता में सम्मिलित हो जाते हैं। वे रिश्वत लेकर अप्रामाणिकता में सहायक बन जाते हैं और धड़ल्ले के साथ सब प्रकार की बेईमानी होती रहती है। जैसे २ इलाज किया जाता है वैसे २ बीमारी भी बढ़ती जाती है। कहा भी है मर्ज बढता गया जैसे दवा की। यह कुचक्र कहाँ जाकर समाप्त होगा, नहीं कहा जा सकता। शासन की ओर से नवीन—नवीन नियम और कानून बनते जाएँ और लोग नये-नये रास्ते खोजते जाएँ तो देश किस अधःपतन के गड्हे में गिरेगा, भगवान ही जाने।

सचमुच में समाज का सुधार कानून के बल पर नहीं हो सकता। दण्ड का भय अनैतिकता का उन्मूलन नहीं कर सकता। यह बात अब तक की स्थिति से स्पष्ट समझ में आजानी चाहिए। अब तक के कानूनों ने अनैतिकता और अप्रामाणिकता को रोकने के बदले बढावा ही दिया है और भविष्य में भी ऐसा ही होने की संभावना है।

तो फिर अनैतिकता का अन्त किस प्रकार किया जाय? क्या यह उचित होगा कि इस संबंध के सब कानून समाप्त कर दिये जाएँ और लोगों को पूरी स्वतंत्रता दे दी जाय कि वे जो चाहें, करें, सरकार उन्हे नहीं रोकेगी? मगर ऐसा करने की भी आवश्यकता नहीं और यह अभीष्ट भी नहीं हो सकता आवश्यकता इस बात की है कि जनता के मानस में धर्म और नीति के प्रति आस्था उत्पन्न की जाय। धर्म और नीति के प्रति जब आस्था उत्पन्न हो जाएगी तब निश्चय ही लोगों के हृदय में परिवर्तन होगा और हृदय में परिवर्तन होने से अनैतिकता और अप्राणिकता का अधिकांश में अन्त आ सकेगा। जो शासन धर्मनिरपेक्ष नहीं, धर्मसापेक्ष होगा वही प्रजा के जीवन में निर्मल उदात्त और पवित्र भावनाएँ जागृत कर सकेगा।

सूखते हुए वृक्ष को हरा भरा रखने के लिए जैसे पत्तों पर पानी छिड़कना असफल प्रयास है, उसी प्रकार प्रजा में बढती हुई अप्राणिकता को रोकने के लिए कानूनों का निर्माण करना भी निरर्थक है। वृक्ष को हरा भरा रखने के लिए उसकी जड़ों में पानी सींचने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार

जनसाधारण के जीवन को शुद्ध और नीतिमय बनाये रखने के लिए उसमें धर्मभाव जागृत करना उपयोगी है। धर्मभाव से जीवन में जो परिवर्तन होता है वह स्थायी और ठोस होता है। दण्ड के भय में यह सामर्थ्य नहीं है।

इसी कारण भगवान् महावीर ने दण्डविधान का नहीं, प्रेम का, धर्म का मार्ग बतलाया है। उन्होंने मनुष्य के हृदय को परिवर्त्तित कर देने पर जोर दिया है। विचार को सम्यक् बना देने अर्थात् सही दिशा देने की आवश्यकता दर्शायी है। विचार की शुद्धि होने पर आचार आप ही आप शुद्ध हो जाता है।

धर्मशास्त्र का राज्य मन पर और कानून का राज्य तन पर होता है।

गांधीजी ने अपने जीवनकाल में शराबबंदी पर बहुत जोर दिया था। मगर वर्तमान शासन व्यापक रूप में मद्यनिषेध करने में हिचक रहा है। किसी किसी प्रान्त में मद्यनिषेध का कानून बना भी तो पूरी तरह सफल नहीं हो सका। कानून के साथ जनता में धर्मभावना उत्पन्न किये बिना सफलता प्राप्त होना शायद ही संभव हो सके।

महुआ, खजूर, चावल, ताडी, गुड़ आदि चीजों को मद्य बनाने के लिए सड़ाया जाता है। जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति होने पर ही सड़ांद है वहां जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति अनिवार्य है। हर तरह की शराब में चीजों को सड़ाना आवश्यक होता है। अतएव मदिरा बनाना, बेचना और पीना, सभी घोर पाप का कारण है।

मदिरा पीने से क्या-क्या हानियां होती हैं, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। वे हानियाँ इतनी प्रकट हैं कि प्रत्येक मनुष्य उनसे परिचित है। मदिरा बुद्धि को बल को एवं कीर्ति को नष्ट कर देती है—

बुद्धि लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारितदुच्यते।

बुद्धि का विनाश या लोप करने वाली जितनी चीजें हैं, वे सब मदिरा श्रेणी में गिनी जाती हैं। क्यों कि उनका परिणाम लगभग एक-सा होता है।

जिसका उपयोग न किया जाय अथवा जिसका उपयोग अत्यन्त हानि-कारक हो, जीवन को बर्बाद करने वाला हो और जिसको लोग घृणा की दृष्टि

से देखते हों, उसका वाणिज्य क्यों किया जाय ? अपने और अपने परिवार की उदर पूर्ति केलिए दूसरे लोगों के जीवन को नष्ट करने में सहायक होना समझदार मनुष्य का काम नहीं है। जिस मदिरापान से हजारों का जीवन भयानक अभिशाप बन जाता है, हजारों परिवार नष्ट हो जाते हैं और दुर्गति को प्राप्त होते हैं, उसका व्यापार भले आदमी के लिये कैसे उचित है। श्रावक ऐसा व्यापार कदापि नहीं करेगा। उदरपूर्त्ति के साधनों की कमी नहीं है। वह कोई भी अन्य धंधा करके अपना निर्वाह कर लेगा, गरीबी में जीवन व्यतीत कर लेगा, परन्तु ऐसे विनाशकारी पदार्थों के व्यापार में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सम्मिलित नहीं होगा।

इस प्रकार के खरकर्म करने से बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की हानियाँ होती हैं, अतएव वीतराग भगवान् की वाणी के अमृत का आस्वादन करने वाला श्रावक इस रस-वाणिज्य से अवश्य दूर रहेगा। उसे तो परम श्रेयोमय प्रशम का लोकोत्तर रस प्रवाहित करना है, अनन्त जन्मों का लाभ-कारी वाणिज्य करना है। वह अपने परिवार, ग्राम, नगर और देश में उपशम को वितरण करेगा और अपने तथा दूसरों के कल्याण में सहायक बनेगा।

आनन्द जब भगवान् महावीर के निकट व्रत ग्रहण करके घर पहुँचा तो उसने तुरन्त ही अपनी धर्मपत्नी शिवानन्दा को भी व्रत ग्रहण करने को भेजा। ऐसे अनेक श्रावकों ने ज्ञान और उपशम का वितरण किया है। उन्होंने गृहस्थी में रहकर मदिरा-रस न पिला कर ज्ञान का रस पिलाया। और अपना कल्याण किया।

भङ्ग भी मदिरा की छोटी बहिन है। नासमझ लोग ज्ञान और उपशम का रस नहीं पिला कर उत्सवों के अवसर पर उन्मत्त बनाने वाला रस पिलाते हैं। मदिरा जैसी नशैली वस्तुएं थोड़ी-सी तरी पहुँचा कर भीतर का रस चूस लेती हैं। मजदूरों और पिछड़े वर्ग के लोगों की स्थिति इसी कारण खराब होती है कि वे शराब जैसी चीजों का उपयोग करते हैं। इन मादक पदार्थों के चंगुल में पड़ कर वे अपने सारे परिवार को विनाश की ओर ले जाते हैं। पहले तो लोग कुतूहल से प्रेरित होकर नशैली चीज़ का सेवन करते हैं, मगर धीरे-धीरे वह

अपने अधीन बना लेती है। अतएव समझदार मनुष्य किसी के आग्रह से अथवा कुतूहल से भी मादक द्रव्य के सेवन की शुरूआत नहीं करे।

भगवान् महावीर ने कहा—हे मानव ! तुझे जो बुद्धि मिली है वह नष्ट करने के लिए नहीं। अतएव तू ऐसा रस ले और दे कि जिससे तेरा तथा समाज कल्याण हो।

मुनि स्थूलभद्र ने स्वयं ज्ञान का अमीरस प्राप्त करके वेश्या को दिया। उस रस के आस्वादन से वेश्या का वेश्यापन जाता रहा। उसमें श्राविका के रूप का प्रादुर्भाव हुआ। अब वही वेश्या अपने काम-रस को त्याग कर भूले-भटके तपस्वी को सन्मार्ग पर ला रही है। उसने ऐसे अद्भुत कौशल के साथ तपस्वी के जीवन में परिवर्त्तन किया कि तपस्वी भी दंग रह गया। तपस्वी जब होश में आए तो बोले—रूपकोशे ! तू ने मुझे तार दिया। मोह और अज्ञान का अन्धकार मेरी दृष्टि के सामने छा गया था और उसमें मेरा चित्त भटक गया था ! तू ने आलोक-पुंज बन कर सच्ची राह दिखला दी। तू ने चिकित्सक की तरह मेरे मन की व्याधि को दूर कर दिया। अब मेरे मन का मल धुल गया है। तेरे उपकार से मैं धन्य हो गया। मेंरे गिरते जीवन को तू ने बचा लिया ! मैं नहीं समझ पाया कि महामुनि स्थूलभद्र ने यहां क्या साधना की थी ? चतुर चिकित्सक पहले विरेचन की दवा देकर फिर रोग-नाशक दवा देता है, इसी प्रकार तू ने पहले मुझे भटका कर बाद में औषध दी है।

इस प्रकार तपस्वी ने रूपाकोशा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की, रूपाकोशा ने उत्तर में कहा—मुनिवर ! मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है, इससे अधिक कुछ भी नहीं किया। महामुनि स्थूलभद्र ने ही मुझे यह सीख दी थी। उसी का यह परिणाम है। इसमें मेरी किंचित् भी बड़ाई नहीं है। स्थूलभद्र ने मेरे जीवन को मोड़ दिया और उन्होंने ही मुझे सेवा करने का यह तरीका सिखलाया है। उन्हीं के शुभ समागम से मैंने धर्म का मंगलमय पथ पाया है और मैं श्राविका धर्म का पालन कर रही हूँ। व्यवहार में महाजन का बच्चा यदि जान बूझ कर ऐसा लेन-देन करे जिससे आर्थिक हानि हो तो उसका पिता

नाराज होता है, उसी प्रकार मेरी माता मुझसे अप्रसन्न है। किसी ने कहा है—'सलज्जा गणिका नष्टा' अर्थात् वेश्या यदि लज्जा करे तो वर्बाद हो जाती है। परन्तु मेरा जीवन अब बदल चुका है। माता असन्तुष्ट है। मैं उसे भी राह पर लाने का प्रयत्न कर रही हूं। मुझे सन्तोष और प्रसन्नता है कि आपको अपनी पदमर्यादा का भान हो गया।

जिन्होंने ज्ञान का रस पिया हो वही दूसरों को सुधारने के लिए प्रयत्नशील होता है। देवेन्द्र के प्रयत्न से भी वह धर्म से विचलित नहीं होता, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या ?

इसके लिए प्रत्येक साधनापरायण व्यक्ति को चार बातें ध्यान में रखनी चाहिये—(१) स्थिर आसन (२) स्थिर दृष्टि (३) मित भाषण और (४) सद् विचार में रमणता। इन चार बातों पर ध्यान रखने वाला लोक—परलोक में लाभ का भागी होता है।

रूपाकोशा धर्म के मार्ग पर चलने लगी। वह श्राविका के योग्य सभी व्यवहार कर रही थी। सामायिक आदि आवश्यकों का अनुष्ठान करती थी। जब वेश्या के समान गन्दा जीवन व्यतीत करने वाली अपना जीवन सुधार सकती है तो साधारण मनुष्य के लिए धर्म मार्ग पर चलना कौन कठिन बात है। काली मैली दीवाल चूना का हाथ फेरने से चमक उठती है तो क्या मलीन मन निर्मल नहीं हो सकता ? दीपावली के अवसर पर मकान की सफाई की जाती है तो मन की भी सफाई करनी चाहिये। मन की सफाई से आत्मिक गुण उज्ज्वल होते और जीवन पावन बन जाता है। यही कल्याण का मार्ग है।

———

मादक वस्तु व्यापार

श्रुति मुक्ति के प्रमुख अंगों में से एक है। मनुष्य का जीवन प्राप्त हो जाने पर भी यदि ज्ञानी महापुरुषों की अनुभवपूत वाणी को श्रवण करने का अवसर न मिले तो वह निरर्थक हो जाता है। जिन महापुरुषों ने दीर्घ काल पर्यन्त एकान्त शान्त जीवन यापन करते हुए तत्त्व का चिन्तन-मनन किया है, उनकी वाणी के श्रवण का लाभ जीवन के महान् लाभों में से एक है।

प्रश्न हो सकता है कि वह श्रुति कौन-सी है जो मुक्ति का अंग है? धर्म और साधना के नाम पर प्रतिदिन हजारों बातें सुनते आ रहे हैं। मुक्ति एक है और उसके उपदेशक अनेक हैं। उनके उपदेशों में भी समानता नहीं है। ऐसी स्थिति में किस का उपदेश सुना जाय? किसे मान्य किया जाय? क्या साधना के नाम पर सुनी जाने वाली सभी बातें श्रुति हैं?

कर्णगोचर होने वाले सभी शब्द श्रुति नहीं हैं। कानों वाले सभी प्राणी सुनते हैं। सुनने के अनन्तर श्रुत शब्द लम्बे समय तक दिमाग में चक्कर खाता रहता है। श्रोता उसके अभिप्राय को अवधारण करता है। किन्तु यदि श्रोता संज्ञावान् न हो तो उसका श्रवण व्यर्थ जाता है। कई प्राणी ऐसे भी हैं जो श्रोत्र इन्द्रिय से युक्त होते हैं किन्तु अमनस्क होते हैं। उनमें मन नामक-करण नहीं होता जिसके आश्रय से विशिष्ट चिन्तन-मनन किया जाता है। वे शब्दों को सुनकर भी लाभ नहीं उठा सकते। कुछ प्राणी ऐसे हैं जो श्रोत्रेन्द्रिय और मन दोनों से सम्पन्न होते हैं किन्तु उनका मन विशेष रूप से पुष्ट नहीं होता। उन्हें भी श्रवण का पूरा लाभ नहीं होता। पुष्ट मन वालों में भी कोई-कोई मलीन या मिथ्यात्वग्रस्त मन वाले होते हैं। वे शब्दों को सुनते हैं, समझते हैं और उन पर मनन भी करते हैं। परन्तु उनकी मनन धारा का प्रवाह विप-

रीत दिशा में बहता है, अतएव वे कल्याणकर विचार न करके अकल्याण-कारी विचारों को ही स्थान देते हैं। उनको भी श्रुति का यथार्थ लाभ नहीं मिलता।

श्रुति दो प्रकार की है—अपरा और परा। ऊपर जिस श्रुति के विषय में कहा गया है वह सब अपरा श्रुति कहलाती है। यह सामान्य श्रुति है जो व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्त्ति करती है। परा श्रुति पारमर्थिक श्रुति है जिसके द्वारा मानव अपनी आत्मा को ऊपर उठाता है। उससे आत्मा को अपने स्वरूप का बोध होता है, तप, क्षमा, अहिंसा आदि सद् गुणों की भावना जागृत होती है और क्रोध, मान, माया, लोभ. हिंसा आदि की भावना दूर भागती है। इसी परा श्रुति को ज्ञानी पुरुष मुक्ति का अंग मानते हैं। यह श्रुति सर्वसाधारण को दुर्लभ है।

संसार के अनन्त-अनन्त जीवों में से बिरले ही कोई परा श्रुति का संयोग पाते हैं और उनमें से भी कोई-कोई ही ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। ग्रहण करने वालों में से भी कोई विरल मानव ही उसे परिणत करने में समर्थ होते हैं।

भूमि में डाले गये सभी बीज अंकुरित नहीं होते। इसमें किसान का क्या दोष है? कदाचित् समस्त बीज भी नष्ट हो जाएं तो भी किसान क्या करे? बीजों के अंकुरित होने में कई कारणों की आवश्यकता होती हैं। उनमें से कोई एक न हुआ तो बीज अंकुरित नहीं होता। इसी प्रकार व्याख्याता ज्ञानी जनों के वचनों को श्रवण कराता है। मगर श्रवण करने वालों की मनोदशा अनुकूल न होगी तो श्रवण सार्थक नहीं हो सकेगा। जिनका भाग्य ऊंचा है या जो उच्चकोटि के पुण्यानुबन्धी पुण्य से युक्त हैं और जिनकी आत्मा सम्यक्त्व से उज्ज्वल है या जिनका मिथ्यात्वभाव शिथिल पड़ गया है, वही मनुष्य श्रुति से वास्तविक लाभ उठा सकते हैं।

गृहस्थ आनन्द ने वीतराग की वाणी श्रवण की, ग्रहण की और उसका परिणमन किया। उसी का प्रसंग यहां चल रहा है। भोगोपभोग आ

के कर्म विषयक अतिचारों का जिन्हें कर्मादान कहते हैं, विवेचन चल रहा है। कल रसवाणिज्य के विषय में कहा गया था।

मद्य का व्यवसाय करना खर कर्म है। पूर्वकाल में मद्य का उपयोग कम होता था। उस समय की प्रजा में भोग की लालसा कम थी, अतएव भोग्य पदार्थों का भी आज की तरह प्रचुर मात्रा में आविष्कार नहीं हुआ था। उस समय के लोग बहुत सादगी के साथ जीवन व्यतीत करते थे और स्वल्प सन्तोषी होने के कारण सुखी और शान्त थे। आज वह बात नहीं है। भांति-भांति की मदिराएं तो आजकल बनती और बिकती ही हैं, अन्य पदार्थों में, विशेषतः दवाइयों में भी उनका सम्मिश्रण होता है। एलोपैथिक दवाएं, जो द्रव के रूप में होती हैं, उनमें प्रायः मदिरा का संयोग पाया जाता है। जो लोग मदिरा पान के त्यागी हैं उन्हें विचार करना चाहिये कि ऐसी दवाओं का सेवन कैसे कर सकते हैं ?

बहुत से लोग लोभ-लालच में पड़ कर मदिरा बनाते या बेचते हैं। वे समझते हैं कि इस व्यापार से हमें बहुत अच्छा मुनाफा मिलता है! किन्तु ज्ञानी जन कहते हैं—तू ने पैसा इकट्ठा कर लिया है और ऐसा करके फूला नहीं समा रहा, यह सब तो ठीक है, मगर थोड़ा इस बात पर भी विचार कर कि तू ने कर्म का भार अपनी आत्मा पर कितना बढ़ा लिया है ? जब इन कर्मों का उदय आएगा और प्रगाढ़ दुःख-वेदना का अनुभव करना पड़ेगा, उस समय क्या वह पैसे काम आएंगे ? उस धन से दुःख को दूर किया जा सकेगा ? पैसा परभव में साथ जा सकेगा ?

डालडा तेल का निर्माता छुरी चलाता नहीं दीख पड़ता, मगर वह प्रचार करता है—हम देश की महान् सेवा कर रहे हैं। यह वनस्पति का घी है, पौष्टिक वस्तु है। लोग इसका अधिक सेवन करेंगे तो दूध की बचत होगी और बच्चों को दूध अधिक सुलभ किया जा सकेगा!

इस प्रकार जनता के जीवन के साथ खिलवाड़ की जाती है और उसे देश सेवा का जामा पहनाया जाता है। डालडा का तो उदाहरण के तौर पर ही

उल्लेख किया गया है। आज ऐसी अनगिनती चीजें चल पड़ी हैं जो मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं मगर उनके निर्माता लुभावने विज्ञापन करते हैं और जनता उनके चक्कर में आ जाती है। इनके बनाने में अपरिमित जीवों की हिंसा होती है, परन्तु इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता।

मद्यपान पर आज कोई अंकुश नहीं है। बहुत-से अच्छे और धार्मिक संस्कार वाले घरों के नवयुवक भी बुरी संगति में पड़ कर भूले भटके इस महा अनर्थकारी एवं जिन्दगी को बर्बाद कर देने वाली मदिरा के शिकार हो जाते हैं। इस ओर विवेकशील जनों का ध्यान आकर्षित होना चाहिये और अपनी संतान को मदिरा पीने की लत वालों दुर्व्यसनिओं की संगति से दूर रखना चाहिए। जिस घर में मदिरा का प्रवेश एक बार हो जाता है, समझ लीजिये वह घर बर्बाद हो गया। उसके सुधरने और सम्भलने की आशा बहुत ही कम रह जाती है। अतएव महाहिंसा से निर्मित तथा शरीर और दिमाग को अत्यन्त हानि पहुँचाने वाली मदिरा जैसी मादक वस्तुओं का व्यापार और सेवन श्रावक के लिए वर्जनीय कहा गया है।

(७) विस वाणिज्जे (विष वाणिज्य)—विष का और विषैले पदार्थों का व्यापार करना विष वाणिज्य कहलाता है।

सोमिल, संखिया, गाँजा, अफीम आदि अनेक प्रकार के विष होते हैं। ये सभी ऐसे पदार्थ हैं जो जीवन की पोषण शक्ति का घात करते हैं और प्राण हानि भी करते हैं। ऐसी वस्तुओं का व्यापार करना अनेक दृष्टियों से वर्जनीय है। प्रथम तो यह व्यापार लोकनिन्दित होने से किसी सद्गृहस्थ के योग्य नहीं है। दूसरे हिंसा आदि अनेक घोर अनर्थों का भी कारण है। इनके सेवन से सिवाय अनर्थ के कोई लाभ नहीं होता।

तमाखू भी विषैले पदार्थों में से एक है और आजकल अनेक रूपों में इसका उपयोग किया जा रहा है। तमाखू को लोग साधारण चीज या साधारण विष समझने लगे हैं किन्तु यह उनका भ्रम है। तमाखू का पानी अगर

मच्छर या मक्खी पर छिड़क दिया जाय तो वे तड़फड़ा कर मर जाते हैं। यदि तमाखू न खाने वाला अकस्मात् तमाखू खा ले तो उसे चक्कर आने लगते हैं, उसका दिमाग घूमने लगता है और जब तक वमन न हो जाय तब तक उसे चैन नहीं पड़ती। क्या आपने कभी विचार किया है कि ऐसा क्यों होता है ?

वास्तव में मनुष्य का शरीर तमाखू को सहन नहीं करता। शरीर की प्रकृति से वह प्रतिकूल है। शारीरिक प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य जब तमाखू का सेवन करता है तो शरीर की ओर से यह चेष्टा होती है कि वह उसे बाहर निकाल फेंके। इसी कारण वमन होता है। बीड़ी, सिगरेट या हुक्का आदि के द्वारा जब तमाखू का सेवन किया जाता है तब शरीर पर दोहरा अत्याचार होता है। तमाखू और धुंआ दोनों शरीर के लिए हानिकारक हैं। जब कोई मनुष्य देखादेखी पहलेपहल बीड़ी सिगरेट पीता है तब भी उसका मस्तक चकराता है और सिर में जोरदार पीड़ा होती है। किन्तु मनुष्य इतना विवेक हीन बन जाता है कि प्रकृति की ओर से मिलने वाली चेतावनी की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता और कष्ट सहन करके भी अपने शरीर में विष घुसेड़ता जाता है। धीरे-धीरे शरीर की वह प्रतिरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है और मनुष्य उसे समझ नहीं पाता।

कई लोग तमाखू सूंघते हैं। ऐसा करने से उनके आसपास बैठने वालों को कितनी परेशानी होती है। इस प्रकार तमाखू का चूसना, पीना और सूंघना सभी शरीर के लिए भयानक हानिकारक हैं। आखिर जो जहर है वह लाभदायक कैसे हो सकता है ?

शरीर विज्ञान के वेत्ताओं का कथन है कि जो बीमारियां अत्यन्त खतरनाक समझी जाती हैं, उनके अन्य कारणों में तमाखू का सेवन भी एक मुख्य कारण है। क्षय और कैंसर जैसी प्राण लेवा बीमारियां तमाखू के सेवन से उत्पन्न होती हैं। कैंसर कितनी भयंकर बीमारी है, यह कौन नहीं जानता ? चिकित्सा विज्ञान और शरीर विज्ञान के विकास के इस युग में भी कैंसर अब तक असाध्य बीमारी समझी जाती है। हजारों में से कोई भाग्यवान् बचे तो भले ही

बच जाय' अन्यथा कैंसर तो प्राण लेकर ही पिण्ड छोड़ता है। अनुभवी लोगों का कथन है कि पचहत्तर प्रतिशत लोगों को तमाखू के सेवन से यह बीमारी उत्पन्न होती है ।

आखिर मनुष्य का विवेक इतना क्षीण कैसे हो गया है कि वह अपने जीवन और प्राणों की भी परवाह न करके जहरिले पदार्थों का सेवन करने पर उतारू हो गया है ! अपने हाथों अपने पांव पर कुल्हाड़ा मारने वाला क्या बुद्धिमान् कहा जा सकता है ! यह एक प्रकार का आत्मघात है।

पाश्चात्य डाक्टरों ने तमाखू के सेवन से होने वाली हानियों का अनुभव किया है और लोगों को सावधान किया है। पर इस देश के लोग कब इस विनाश कारी वस्तु के चंगुल मे छुटकारा पाएंगे !

आपको शायद विदित हो कि तमाखू भारतीय वस्तु नहीं है। प्राचीन काल में इसे भारतवासी जानते तक नहीं थे। यह विदेशों की जहरीली सौगात है और जब विदेशी लोग इसका परित्याग करने के लिए आवाज बुलन्द कर रहे हैं तब भारत में इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। आज सैंकड़ों प्रकार की नयी-नयी छाप की बीड़ियां प्रचलित हो रही हैं।

भारत के व्यापारी जनता के स्वास्थ्य की उपेक्षा करके प्रायः पैसा कमाने की वृत्ति रखते हैं। अन्य देशों में तो देश से लिए हानिकारक पदार्थों का विज्ञापन भी समाचार पत्रों में नहीं छापा जाता, मगर यहां ऐसे आकर्षक विज्ञापन छापे जाते हैं कि पढ़ने वाले का मन उसके सेवन के लिए ललचा जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जो व्यापारी बीड़ी, जर्दा, सिगरेट, सूंघनी आदि का व्यापार करते हैं वे जहर फैलाने का धन्धा करते हैं। समझदार व्यापारी को इस धन्धे से बचना चाहिये।

जनता का दुर्भाग्य हैं कि आज बीड़ी सिगरेट आदि की बिक्री एक साधारण बात समझी जाती हैं। कोई वस्तु जब समाज में निन्दनीय नहीं गिनी जाती तो उसके विक्रय और ले जाने लाने आदि की खुली छूट मिल जाती

है। किन्तु ऐसे उदार हृदय लोग कम ही मिलेंगे जो इन विषैली वस्तुओं के विक्रय का त्याग करदें। जो ऐसा करेंगे वे कर्त्तव्य निष्ठ समझे जाएंगे।

दुर्बल हृदय मनुष्य प्रायः अनुकरणशील होता है। वह कमजोरी को जल्दी पकड़ लेता है। जिसकी विचार शक्ति प्रौढ़ है वह अन्धानुकरण नहीं करता, अपने विवेक की तराजू पर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को तोलकर निर्णय करता है। वह जनता के लिए हानिकारक वस्तु बेच कर उसके साथ अन्याय और धोखा नहीं करता। देश और समाज के अहित में वह निमित्त नहीं बनता।

जो चीज विष के नाम से अधिक प्रसिद्ध है या जो विष एकदम प्राण-नाश करता है, उससे लोग भय खाते हैं, चौंकते हैं, किन्तु तमाखू का विष ऐसा विष है जो धीरे-धीरे जीवन को नष्ट करता है और जिनका जीवन नष्ट होता है उन्हें ठीक तरह पता नहीं चलता। इस कारण लोग उसके सेवन को बुरा नहीं समझते।

अधिक से अधिक १०-१२ रोटियों में मनुष्य का पेट भर जाता है, मगर बीड़ी और सिगरेट पीते-पीते सन्तोष नहीं होता। कई लोग अनेक बंडल या पैकेट बीड़ी-सिगरेट के पीकर समाप्त कर देते हैं। मगर इस प्रकार तमाखू के सेवन से शरीर विषैला हो जाता है। वह बिच्छू का भी बाप बन जाता है।

जिस मनुष्य का शरीर तमाखू के विष से विषैला हो जाता है उसका प्रभाव उसकी सन्तति के शरीर पर भी अवश्य पड़ता है। अतएव तमाखू का सेवन करना अपने ही शरीर को नष्ट करना नहीं है, बल्कि अपनी सन्तान के शरीर में भी विष घोलना है। अतएव सन्तान का मंगल चाहने वालों का कर्त्तव्य है कि वे इस बुराई से बचें और अपने तथा अपनी सन्तान के जीवन के लिए अभिशाप रूप न बनें।

कहते हैं संखिया का सेवन करने वाले पर बिच्छू का असर नहीं पड़ता, यहां तक कि सर्दी-जुकाम उसे नहीं होता। उसके लिए कोई दवा कारगर

नहीं होती। उसका बीमार होना ही मानों अन्तिम समय का आगमन है। उसे कोई औषध बचा नही सकती।

यहां तक द्रव्य-विष के विषय में कहा गया है, जिसमे प्रत्येक विवेकवान् गृहस्थ को बचना चाहिये। किन्तु पूर्ण त्यागी को तो भाव विष से भी पूरी तरह बचने का निरन्तर प्रयास करना है। उनका जीवन त्याग एवं तपश्चरण से विशुद्ध होता है, अतएव वे द्रव्य-विष का ही सेवन नहीं करते, पर भाव विष से भी मुक्त रहते हैं।

काम क्रोध आदि विकार भाव-विष कहलाते हैं। द्रव्य-विष जैसे शरीर को हानि पहुँचाता है, उसी प्रकार भाव-विष आत्मा को हानि पहुँचाते हैं। द्रव्य विष से मृत्यु भी हो जाय तो एक बार होती है किन्तु भाव-विष पुनः पुनः जन्म-मरण का कारण बनता है। द्रव्य-विष द्रव्य प्राणों का घात करता है जब कि भाव-विष आत्मा के ज्ञानादि भावप्राणों का विघातक होता है। आत्मा अनादि काल से अब तक जन्म-जरा-मरण की महावेदना से मुक्त नहीं हो सका, इसका एकमात्र कारण भाव विष है। यह भाव विष घोर दुःख रूप है और सभी अनर्थों का कारण है। अतएव द्रव्य-विष से भाव विष कम गर्हित और अनर्थकारी नहीं है।

जो साधक प्रमाद और मोह से ग्रस्त हो जाता है, वह भाव विष का सेवन करता है। इस भाव विष के प्रभाव से उसकी चेतना मूर्छित, सुप्त और और जड़ीभूत हो जाती है।

विष का प्रभाव यदि फैलने लगे और उसका अवरोध न किया जाय तो वह सारे शरीर को सड़ा कर विनष्ट कर देता है। भाव विष इससे भी अधिक हानिकर होता है। यह अनेकानेक जीवनों को बर्वाद करके छोड़ता है। अतएव जिनको वीतराग देव की सुधामयी वाणी को श्रवण करने का अवसर प्राप्त हुआ है उन्हें विषय-कषाय के विष का संचार नहीं होने देना चाहिये। जब विष का संचार होने लगे तो विवेक रूपी अमृत से उसे शान्त कर देना

चाहिये। ऐसा न किया गया तो निस्सन्देह आत्मा का विनाश हुए बिना नहीं रहेगा।

सिंह गुफावासी मुनि के मन में भाव विष का संचार हुआ, पर वह विष फैलने से पहले ही शान्त कर दिया गया। रूपाकोशा रूपी विषभिषक् का सुयोग उन्हें मिल गया। उसकी चिकित्सा से वह नष्ट हो गया।

रूपाकोशा अपने पूर्वकालिक जीवन में वेश्यावृत्ति करती थी, फिर भी उसने मार्ग से च्युत होते हुए मुनि को स्थिर किया और संयम के पथ पर आरूढ़ किया। यह नारी जाति की शासन के प्रति सराहनीय सेवा है। शास्त्रों में इस प्रकार के अनेक आख्यान उपलब्ध हैं जिनसे नारी जाति की सेवा का पता लगता है। राजीमती की कथा से आप सब परिचित ही होंगे। उसने मुनि रथनेमि के भाव विष का निवारण किया था। वास्तव में श्रमण-संघ का यह रथ चारों चक्रों के उद्योग और सहयोग से ही चल रहा है। अतएव आज के श्रावकों और श्राविकाओं को भी अपना उत्तरदायित्व अनुभव करना चाहिये। संघ के प्रत्येक अंग को दूसरे अंगों के संयम में सहायक बनना चाहिये।

रूपाकोशा ने समझाया—महात्मन्! यह संयम रूपी रत्न कम्बल बहुत कीमती है, यह अनमोल है और तीनों लोकों में इसकी बराबरी करने वाली अन्य कोई वस्तु नहीं हैं। महान्—महान् पुण्य का जब उदय होता है तब यह प्राप्त होता है। ऐसे महामूल्यवान् रत्न को आप भुला रहे है!

रूपाकोशा के संबोधन का परिणाम यह हुआ कि विष का विस्तार नहीं हुआ और वह अमृत के रूप में बदल गया। विकार उत्पन्न होने पर यदि सुसंस्कार जागृत हो जाय तो यह विष की परिणति अमृत में होना है।

रूपाकोशा से विदा लेकर मुनि अपने गुरुजी के पास जाने लगे। उनके मन में तीव्र इच्छा जागृत हुई कि अतिक्रम, व्यतिक्रम एवं अतिचार का संशोधन शीघ्र से शीघ्र कर लिया जाय। ठोकर खाकर मुनि का भान जागृत हो गया

था, अतएव गुरु सम्भूति विजय के चरणों में जाकर वे अतिचार की शुद्धि कर लेना चाहते थे। जैसे पैर में कांटा चुभ जाने पर मनुष्य को चैन नहीं पड़ती वह वेदना का अनुभव करता है और शीघ्र से शीघ्र उसे निकाल डालना चाहता है, इसी प्रकार व्रत में अतिचार लग जाने पर सच्चा साधक तब तक चैन नहीं लेता जब तक अपने गुरु के समक्ष निवेदन करके प्रायश्चित न कर ले। वह अतिचार रूपी शल्य को प्रायश्चित्त द्वारा निकाल करके ही शान्ति पाता है। ऐसा करने वाला साधक ही निर्मल चरित्र का परिपालन कर सकता है।

गुणवान् और संस्कार सम्पन्न व्यक्ति ही निष्कपट भाव से अपनी आलोचना कर सकता है। जिसके मन में संयमी होने का प्रदर्शन करने की भावना नहीं हैं वरन् जो आत्मा के उत्थान के लिए संयम का पालन करता है, वह संयम में आई हुई मलीनता को क्षण भर भी सहन नहीं करेगा।

मुनि ने गुरु के चरणों में पहुँच कर निवेदन किया—भगवन्! आपकी इच्छा की अवहेलना करके मैंने अपना ही अनिष्ट किया। अनेक यातनाएं सहीं और अपनी आत्मा को मलीन किया है। इस प्रकार कह कर मुनिने पूर्वोक्त घटना उन्हें सुनाई। उसमें से कुछ भी छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। चिकित्सक के पास जाकर कोई रोगी यदि उससे बात छिपाता है, अपने दोष को साफ-साफ प्रकट नहीं करता तो अपना ही अनिष्ट करता है, इसी प्रकार जो साधक गुरु के निकट अपने दोष को ज्यों का त्यों नहीं प्रकाशित करता तो वह भी अपनी आत्मा का अनिष्ट करता है। उसकी आत्मा निर्मल नहीं हो पाती। उसे सच्चा साधक नहीं कहा जा सकता।

सब वृत्तान्त सुनकर गुरुजी ने कहा—वत्स! तू शुद्ध है क्योंकि तू ने अपना हृदय खोलकर सब बात स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी है।

गुरु के इस कथन से शिष्य को आश्वासन मिला। उसने पुनः कहा—आपने मुनिवर स्थूलभद्र को धन्य, धन्य, धन्य कहा था। मैंने इस कथन पर

भ्रम वश शंका की थी। आपके कथन के मर्म को समझ नहीं सका था। अपने इस अनुचित कृत्य के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

मुनि के अन्तर से ध्वनि निकली—वह महापुरुष वास्तव में धन्य है जो काम—राग को जीत लेता है।

राग को जीत कर जीवन को सफल बनाने से ही मनुष्य का यह लोक और परलोक कल्याणमय बनता है।

———

कुत्सित कर्म

अन्तर्दृष्टि से देखने पर साधक को अपना सत्य स्वरूप समझ में आता है। यों तो संसार के सभी नेत्रों वाले प्राणी देखते हैं और मन वाले प्राणी सोच-विचार करते हैं, मगर यह सब देखना और सोचना तभी सार्थक होता है जब अपने सच्चे स्वरूप को समझ लिया जाय। अपने स्वरूप को समझ लेना सरल नहीं है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों के विषय में गहरी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं किन्तु अपने आपको नहीं जान पाते। और जब तक स्व-स्वरूप को नहीं जान पाया तब तक पर-पदार्थों का गहरे से गहरा ज्ञान भी निरर्थक है। इसी कारण भारत के ऋषि-मुनियों ने आत्मा को पहचानने की प्रबल प्रेरणा की है। भगवान् महावीर ने तो यहां तक कह दिया है—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।

जो एक—आत्मा को जान लेता है, वह सभी को जान लेता है। आत्मज्ञान हो जाने पर आत्मा परिपूर्ण चैतन्यमय प्रकाश से उद्भासित हो उठता है। उसके समक्ष अखिल विश्व हस्तामलकवत् हो जाता है। जगत् का कोई भी गुह्य उससे छिपा नहीं रहता। यह आत्मज्ञान का अपूर्व प्रभाव है।

वैदिक ऋषियों की भी यही पुकार रही है। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्योयमात्मा' यह उनके वचनों की बानगी है। वे कहते हैं—अरे! यह आत्मा ही श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने योग्य है।

इस प्रकार भारतीय तत्त्वज्ञान में आत्मज्ञान की आवश्यकता और महिमा का जो प्रतिपादन किया गया है, उसका एकमात्र हेतु यही है कि आत्मज्ञान से ही आत्मकल्याण सिद्ध किया जा सकता है। आत्मज्ञानहीन

पर विज्ञान से आत्मा का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वह आत्मोन्नति और आत्मविकास में साधक नहीं होकर बाधक ही होता है।

आत्मज्ञान संसार में सर्वोपरि उपादेय है। आत्मज्ञान से ही आत्मा का अनन्त एवं अव्याबाध सुख प्रकट होता है। यह आत्म ज्ञान साधना के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। साधक स्व और पर को जान कर पर का त्याग कर देता है और स्व को ग्रहण करता है। स्व का परिज्ञान हो जाने पर वह समझने लगता है कि धन, तन, तनय, दारा, घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार आदि को वह भ्रमवश स्व समझता था, वे तो पर हैं, ज्ञान विवेक आदि आत्मिक गुण ही स्व हैं।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धम्,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोम कूपा—
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ।।

आत्मा की जब शरीर के साथ भी एकता नहीं है तो पुत्र, कलत्र और मित्रों के साथ एकता कैसे हो सकती है ? यदि शरीर की चमड़ी को पृथक् कर दिया जाय तो रोमकूप उसमें किस प्रकार रह सकते हैं ?

तात्पर्य यह है कि पुत्र कलत्र आदि का नाता इस शरीर के साथ है और जब शरीर ही आत्मा से भिन्न है तो पुत्र कलत्र आदि का आत्मा से नाता नहीं हो सकता। इस प्रकार का भेद ज्ञान जब उत्पन्न हो जाता है तब आत्मा में एक अपूर्व ज्योति जागृत होती है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानों सिर पर लदा हुआ मनों भार उतर गया है। आत्मा को अद्भुत शान्ति प्राप्त होती है। उसमें निराकुलता प्रकट हो जाती है।

व्यवहारनय से जिन-जिन आचारों और व्यवहारों से सुप्रवृत्ति जागृत होती है, वे सब स्व हैं। स्व का भान होने पर निज की ओर का संकोच विस्तृत होता जाता है और पर की ओर का विस्तार संकुचित होता जाता है। ऐसे साधक को स्वरमण में अभूतपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है। उस आनन्द

की तुलना में पर वस्तुओं से प्राप्त होने वाला सुख नीरस और तुच्छ प्रतीत होने लगता है।

श्रावक आनन्द को भगवान् महावीर के समागम से आत्मा की अनुभूति उत्पन्न हुई। उसने श्रावक के व्रतों को अंगीकार किया वाह्य वस्तुओं की मर्यादा की। वह अन्तर्मुख होने लगा। भगवान् ने उसे भोगोपभोग की विधि समझाते हुए कर्मादान की हेयता का उपदेश दिया। गृहस्थ का धनोपार्जन के विना काम नहीं चलता, तथापि यह तो हो ही सकता है कि किन उपायों से वह धनोपार्जन करे और किन उपायों से धनोपार्जन न करे, इस बात का विवेक रखकर श्रावकोचित उपायों का अवलम्बन करे और जो उपाय अनैतिक हैं, जो महारंभ रूप हैं, जिनमें महान् हिंसा होती है और जो लोकनिन्दित हैं, ऐसे उपायों से धनोपार्जन न करे। भगवान् महावीर ने आनन्द को वतलाया कि जिन उपायों से विशेष कर्म वन्ध और हिंसा हो वे त्याज्य हैं। साथ ही वे पदार्थ भी हेय हैं जो कर्म वन्ध और हिंसा के हेतु हैं। सोमिल, संखिया, तमाखू आदि पदार्थ त्याज्य पदार्थों में सर्व प्रथम गणना करने योग्य हैं! पेट्रोल और मिट्टी का तेल भी विष तुल्य ही है। ऐसे घातक पदार्थों का व्यापार करना निषिद्ध है।

अभी कुछ दिन पूर्व समाचार मिला था कि किसी जगह जमीन में पेट्रोल गिर गया। उस पर वीड़ी का जलता हुआ टुकड़ा पड़ जाने से कईयों को हानि पहुँची! पेट्रोल या मिट्टी का तेल छिड़क कर आत्म हत्या करने के समाचार तो अखवारों में छपते ही रहते हैं। इस प्रकार आज संखिया और और सोमिल के कई भाई-वन्धु पैदा हो गये हैं। जिसने अपनी अभिलाषा को सीमित कर लिया है और जो संयम पूर्वक जीवन निभाना चाहता है, अल्प पाप से कुटुम्ब का पालन-पोषण करना चाहता है, वह ऐसे निषिद्ध कर्मों और पदार्थों को नहीं अपनाएगा। वह तो धर्म और नीति के साथ ही अपनी आजीविका उपार्जन कर लेगा। किन्तु जिस की इच्छाएं सीमित नहीं है, स्वच्छन्द और निरंकुश हैं, जो नयी-नयी कोठियाँ और बंगले बनवाने के स्वप्न देखता रहता है, उसका निषिद्ध कर्मों से बचना कठिन है।

वास्तव में श्रावक व्रत ग्रहण करने से जीवन का कोई कार्य नहीं रुकता फिर भी लोग व्रतों से डरते हैं। जब व्रतों की जानकारी रखने वाला भी व्रत ग्रहण से भयभीत होता है तो जो व्रतों के स्वरूप को समीचीन रूप से नहीं जानता वह भयभीत हो तो क्या आश्चर्य है!

लाखों व्यक्ति वीतरागों का उपदेश सुनते हैं मगर उनमें से सैकड़ों भी व्रतधारी नहीं बन पाये, इसका एक प्रधान कारण भय की भ्रमपूर्ण कल्पना ही है।

आनन्द श्रावक ने व्रत धारण किये और पन्द्रह कर्मादानों का त्याग किया, फिर भी उसका संसार व्यवहार बन्द नहीं हुआ। इस तथ्य को समझकर गृहस्थों को श्रावक के व्रतों से डरना नहीं चाहिये। इन कर्मादानों में से विष वाणिज्य का निरूपण किया जा चुका है। अब केश वाणिज्य के विषय में प्रकाश डाला जाता है।

(१०) **केस वाणिज्जे** (केशवाणिज्य)—'केशवाणिज्य' शब्द से केशों का व्यापार करना जान पड़ता है परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—केश वाले प्राणियों का व्यापार। किसी युग में दासों और दासियों के विक्रय की प्रथा प्रचलित थी। उस समय मनुष्यों को बेचा और खरीदा जाता था। मध्ययुग में कन्या विक्रय का रिवाज चालू हो गया। धनलोलुप लोग कन्या के बदले में कुछ रकम लिया करते थे, जिसे रीति के पैसे कहते थे। आज वरविक्रय होने लगा है।

जिसे बालिका के बदले रकम लेने का खयाल हो वह भला बालिका का क्या हित सोच सकता है? और जो अपनी अंगजात बालिका का ही हित अहित नहीं सोचता वह अन्य प्राणियों का हिताहित सोचेगा, यह आशा रखना दुराशा मात्र ही है।

लालच के वशीभूत होकर केश वाले भेड़ आदि पशुओं को बेचना भी केशवाणिज्य के अन्तर्गत है। जिसका एकमात्र लक्ष्य मुनाफा कमाना होगा वह इस बात का शायद ही विचार करेगा कि किसके हाथ बेचने से पशु को कष्ट

होगा और किसको बेचने से वह आराम पाएगा। जो जानवरों को बेचने का धन्धा करता है और पशुओं के बाजार में लेजा कर उन्हें बेचता है वह उपयुक्त अनुपयुक्त ग्राहक का विचार न करके अधिक से अधिक पैसा देने वालों को ही बेच देता है। अदल-बदल करने वाला कुछ हानि उठा कर बेच सकता है मगर लाभ उठाने की प्रवृत्ति वाला क्यों हानि सहन करेगा ?

आशय यह है कि प्राणियों का विक्रय करना अनेक प्रकार के अनर्थों का कारण है। अतएव ऐसे अनर्थकारी व्यवसाय को व्रत धारण करने वाला श्रावक नहीं करता।

श्रावक ऐसा कोई कर्म नहीं करेगा जिससे उसके व्रतों में मलीनता उत्पन्न हो। वह व्रतबाधक व्यवसाय से दूर ही रहेगा और अपने कार्य से दूसरों के सामने सुन्दर आदर्श उपस्थित करेगा।

व्रत ग्रहण करने वाले को अड़ौसी-पड़ौसी चार-चक्षु से देखने लगते हैं, अतएव श्रावक ऐसा धन्धा न करे जिससे लोकनिन्दा होती हो, शासन का अपवाद या अपयश होता हो और उसके व्रतों में बाधा उपस्थित होती हो।

धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन शास्त्रों में किया जाता है किन्तु उसका मूर्त एवं व्यावहारिक रूप उसके अनुयायियों के आचरण से ही प्रकट होता है। साधारण जनता सिद्धान्तों के निरूपण से अनभिज्ञ होती है, अतः वह उस धर्म के अनुयायियों से ही उस धर्म के विषय में अपना खयाल बनाती है! जिस धर्म के अनुयायी सदाचारपरायण, परोपकारी और प्रामाणिक जीवन यापन करते हैं, उस धर्म को लोग अच्छा मानते हैं और जिस धर्म को मानने वाले नीति एवं सदाचार से गिरे होते हैं उस धर्म के विषय में लोगों की धारणा अच्छी नहीं बनती।

साधु-सन्त कितना ही सुन्दर उपदेश दें, धर्म की महिमा का बखान करें और वीतराग प्रणीत धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करें, मगर जब तक गृहस्थों का व्यवहार अच्छा न होगा तब तक सर्व साधारण को वीतराग धर्म की उत्कृष्टता का खयाल नहीं आ सकता। अतएव अपने आचरण को श्रेष्ठ बनाना भी धर्म प्रभावना का एक अंग है। प्रत्येक गृहस्थ को यह

अनुभव करना चाहिये कि वह जिनधर्म का प्रतिनिधि है और उसके व्यवहार से धर्म को नापा जाता है, अतएव ऐसा कोई कार्य उसके द्वारा न हो जिससे लोगों को उसकी और उसके द्वारा धर्म की आलोचना करने का अवसर प्राप्त हो।

केश वाणिज्य में समस्त द्विपदों और चतुष्पदों का समावेश होता है। अतएव किसी भी जाति के पशु या पक्षी को बेच कर लाभ उठाना श्रावक के लिए निषिद्ध है।

पूर्वोक्त पांच व्यवसायों के लिए 'वाणिज्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि यहां उत्पादन नहीं किया जा रहा है, उत्पन्न वस्तु को खरीद कर बेचना ही वाणिज्य कहलाता है। यहां इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि पशुओं की अनावश्यक संख्या बढ़ जाने से, उनको सम्भाल सकने की स्थिति न होने से या ऐसे ही किसी दूसरे कारण से अपने पशु को बेच देना केश वाणिज्य नहीं कहलाएगा। केश वाणिज्य तभी होगा जब मुनाफा लेकर बेच देने की दृष्टि से ही कोई पशु पक्षी खरीदा जाय और फिर मुनाफा लेकर बेचा जाय। श्रावक इस प्रकार का व्यापार नहीं करेगा।

ऊन या बाल अधिक समय तक पड़े रहें तो उनमें कीड़े पड़ जाते हैं, अतएव उनका व्यापार निषिद्ध कहा जाता है,

द्विपद और चतुष्पद का व्यापार करने वाला उनकी रक्षा का विचार नहीं करेगा। उनकी सुख-सुविधा के प्रति लापरवाह रहेगा और उन्हें कष्ट में डाल देगा। जो इस विचार को लोग ध्यान में रक्खेंगे वे बेकार पशुओं को बेचकर कत्ल की धार उतारने के पाप से बच जाएंगे।

अजमेर की घटना है। किसी व्यक्ति का घोड़ा लंगड़ा हो गया। वह सवारी के काम का न रहा। घोड़े के स्वामी ने उसे गोली मार देने का इरादा किया, किन्तु रीयां वाले सेठ मगनमल जी को जब यह विदित हुआ तो उन्होंने पालन करने के लिए उसे ले लिया और दयापूर्वक उसका पालन किया। वे

अत्यन्त दयालु थे। श्रावक के हृदय में ऐसी दयालुता होनी चाहिये। जिसके अन्तः करण में दया होती है वह अन्य व्रतों को भी निभा सकता है।

(११) **जंतपीलरण कम्मे** (यन्त्र पीड़न कर्म)—यन्त्र के द्वारा किसी सजीव वस्तु को पीलना यन्त्रपीड़न कर्म नामक कर्मादान है। घानी, चरखी, कोल्हू, चक्की आदि यन्त्र प्राचीन काल में इस देश में प्रचलित थे। गन्नों को और तिल्ली, अलसी आदि के दानों को कोल्हू आदि में पीला जाता था, इस समय भी पीला जाता है। मगर इस युग में एक से एक बढ़कर दैत्याकार यन्त्रों का निर्माण हो चुका है, जिनमें मनों और टनों तिल आदि बात की बात में पीले जा सकते हैं। बोरे के बोरे तिल आदि यन्त्रों में उण्डेल दिये जाते हैं और उनका कचूमर निकाल लिया जाता है।

आटे की चक्की चलाना शायद यन्त्र पीड़न कर्म न समझा जाता हो, मगर गम्भीरता से सोचने की बात है कि उससे कितनी हानि हो रही है, कितना पाप हो रहा है। जिन ग्रामों में अभी तक चक्की नहीं पहुँच पाई, वहाँ चक्की लगाने को लोग उत्सुक रहते हैं। चक्की लगने से तन को आराम, समय की बचत और पैसे की बचत समझी जाती है। किन्तु यह सब प्रतीत होने वाले लाभ ऊपरी दृष्टि से प्रतीत होते हैं। महात्मा गांधी जी बड़ी-बड़ी मशीनों के उपयोग के विरोधी थे। उनकी दृष्टि गहरी थी। वे दीर्घ दृष्टि से सोच-विचार करते थे। हमें भी गहराई से सोचना चाहिये। धार्मिक दृष्टि से इन यन्त्रों का प्रयोग करने से, घोर अयतना और इस कारण हिंसा होती है। इसके अतिरिक्त अन्य व्यावहारिक दृष्टियों से भी यन्त्रों का प्रयोग हानिकारक है। ये भीम काय यन्त्र हजारों मनुष्यों द्वारा हाथों से किये जाने वाले कार्य को चटपट निपटा देते हैं। परिणाम यह होता है कि मनुष्यों में बेकारी फैलती है। उनकी आजीविका नष्ट हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य बेकार होकर दुखी जीवन यापन कर रहे हैं। इन यन्त्रों की बदौलत ही हजारों—लाखों मनुष्यों की आय गिने—चुने धनवानों की तिजोरियों में एकत्र होती है, जिससे आर्थिक विषमता बढ़ रही है और उस विषमता के कारण वर्गसंघर्ष हो रहा है। इसी विषमता की खाई को पाटने के लिए साम्यवाद और समाजवाद

जैसे आन्दोलन चल रहे हैं। यह सब बड़ा विषम चक्र है। एक ओर यन्त्रों का अधिक से अधिक प्रयोग करने की नीति को अपनाना और दूसरी ओर आर्थिक समता को स्थापित करने के मार्ग पर चलना परस्पर विरोधी नीतियां हैं। पर इसका विचार किसको है ?

जिन देशों में जनसंख्या कम है और कार्य करने के लिए मजदूर दुर्लभ हैं, वहां यन्त्रों का प्रयोग किया जाना समझ में आने योग्य है, किन्तु भारत जैसे जनसंख्या बहुल देश में छोटे छोटे कामों के लिए, जैसे आटा पीसने, दालें, बनाने, धान कूटने, गुड़ बनाने आदि के लिए भी यन्त्रों का उपयोग करना अत्यन्त अनुचित्त है। यह गरीबों के काम को समाप्त करने के समान है।

पहले महिलाएं हाथ से आटा पीसती थीं, स्वयं पानी लाती थीं और धान आदि कूटती थीं तो शारीरिक श्रम हो जता था और उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता था। आज ये सब काम मशीनों को सौंप दिये गये हैं। इनके बदले उनके पास अन्य कोई कार्य नहीं रह गया है। अतएव घरों में अधिकांश महिलाएँ प्रमाद में जीवन व्यतीत करती हैं। जब सामने कोई काम नहीं होता तो अड़ौसी-पड़ौसी लोगों की निन्दा और विकथा में उनका समय व्यतीत होता है। इस प्रकार स्वास्थ्य, धर्म और धन सभी की हानि हो रही है।

आम तौर पर देखा जाता है कि यंत्रों से जो खाद्य पदार्थ तैयार होते हैं, उनका सत्त्व नष्ट हो जाता है। पदार्थों के पोषक तत्त्व को यंत्र चूस लेते हैं। परिणामस्वरूप जनता का शारीरिक सामर्थ्य घटता जाता है, रोगों के आक्रमण का प्रतिरोध करने की शक्ति क्षीण होती जाती है। परिणाम यह होता है कि मदिरा, अंडे के रस तथा मछलियों के सत्त्व आदि से निर्मित दवाइयों का प्रचलन बढ़ता जाता है। लोग प्रत्यक्ष हिंसा को तो देख भी लेते हैं मगर परोक्ष हिंसा की इस लम्बी परम्परा को जो इन यंत्रों के प्रयोग से होती है, बहुत ही कम सोच पाते हैं।

धार्मिक दृष्टि से स्वयं यंत्र चलाने वाला कृतपाप का भागी होता है। साझीदार समर्थन से पाप कराने के अधिकारी होते हैं और यंत्र से तैयार

होने वाले पदार्थों का उपयोग करने वाले अनुमोदना का पाप उपार्जन करते हैं। इन्हीं सब प्रत्यक्ष और परोक्ष पापों को दृष्टि में रख कर भगवान् महावीर ने यंत्रपीडन कर्म को निषिद्ध कर्म माना है

सर्वविरति को अंगीकार करने वाले भोगोपभोग की वस्तुओं के उत्पादन से सर्वथा विरत होते हैं। और देशविरति का पालन करने वाले श्रावक मर्यादा के साथ महारंभ से बचते हुए उत्पादन करते हैं। अपने व्रतों में कदाचित् किसी प्रकार की स्खलना हो जाय तो उसकी आलोचना और प्रायश्चित्त करके उसके प्रभाव को निर्मूल करते हैं।

सिंहगुफावासी मुनि के संयम में जो स्खलना हो गई थी, उसकी शुद्धि के लिए वे अपने गुरु के श्री चरणों में उपस्थित हुए। उन्होंने अपने प्रमाद को अनुभव किया और प्रमाद जनित दोष की शुद्धि की। वीर पुरुष फिसल कर भी अपने को गिरने नहीं देता। निर्बल गिर कर चारों खाने चित हो जाता है।

इधर मुनि शुद्धि करके आराधक बने, उन्होंने अपने आचार को निर्मल बनाया और इधर आचार्य संभूति विजय को भी भाव-सेवा का लाभ मिला और उससे कर्म की निर्जरा हुई। दूसरे की साधना में सहायक बनने वाला भी महान सेवाव्रती होता है।

संसार में प्राणियों की तीन श्रेणियां पाई जाती हैं—

(१) सारंभी, सपरिग्रही
(२) अनारंभी, अपरिग्रही
(३) अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही।

इनमें से श्रमण का जीवन दूसरी श्रेणी में आता है। श्रमण सब प्रकार के आरंभ और परिग्रह से रहित होता है।

पाटलीपुत्र में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा तो साधुओं को भिक्षालाभ करने में अत्यन्त कष्ट होने लगा। गृहस्थों को अपना पेट भरना कठिन हो गया। ऐसी

स्थिति में साधुओं को आहारदान देने की सूझे किसको ? भिक्षु-अतिथि आकर हैरान न करे इस विचार से गृहस्थ अपने घर के द्वार बंद कर लेते थे। शास्त्रोक्त नियमों का पूरी तरह पालन करते हुए भिक्षा प्राप्त कर लेना बहुत कठिन था। 'अन्नाधीनं सकलं कर्म' अर्थात् सभी काम अन्न पर निर्भर हैं, यह उक्ति प्रसिद्ध है। उदर की ज्वाला जब तक शान्त न हो जाय तब तक धर्मकार्य भी यथावत् नहीं होते। स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, मनन प्रवचन, धर्म जागरण, आराधन, ज्ञानाभ्यास आदि सत् कार्य अन्न के अधीन हैं।

प्राचीन काल में शास्त्र लिपिबद्ध नहीं किये गये थे। भगवान् के अर्थ रूप प्रवचनों को गणधरों ने शास्त्र में गूंटी कर के व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया और अपने शिष्यों को मौखिक रूप में उन्हें सिखाया। जिन्होंने सीखा उन्होंने अपने शिष्यों को भी मौखिक ही सिखाया। इस प्रकार शिष्य-प्रशिष्य की परम्परा चलती रही। इसी कारण भगवान् का वह उपदेश 'श्रुत' इस नाम से विख्यात हुआ। 'श्रुत' का अर्थ होता है—सुना हुआ।

दुर्भिक्ष के समय में श्रुत को सीखने-सिखाने की व्यवस्था नहीं रही और अनेक श्रुतधर कालकवलित हो गए। इस कारण श्रुत का बहुत-सा भाग स्मृतिपथ से च्युत हो गया। जब दुर्भिक्ष का अन्त आया और सुभिक्ष हो गया तो संघ एकत्र किया गया। संतों की मण्डली पटना में जमा हुई। आचार्य संभूति विजय के नेतृत्व में ग्यारह अंगों तक को व्यवस्थित किया गया। बारहवें अंग दृष्टि-वाद का कोई ज्ञाता उनमें नहीं रहा। विदित हुआ कि उसके ज्ञाता श्री भद्रबाहु हैं जो इस समय यहां उपस्थित नहीं हैं। तब उन्हें बुलाने का उपक्रम किया गया जिससे द्वादशांगी पूर्णरूप में व्यवस्थित हो जाए।

इससे आगे का वृत्तान्त यथासमय आप सुन सकेंगे। जो साधक चारित्र की आराधना करता हुआ श्रुत की आराधना करता है, उसका इसलोक और परलोक में परम कल्याण होता है।

अमंगल कर्म

श्रमण भगवान् महावीर ने नानाविध सन्तापों से संतप्त संसारी जीवों के कल्याण के लिए, मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया। वह मोक्ष मार्ग अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान और क्रिया रूप से द्विविध मोक्ष मार्ग है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्र ऐसे तीन और सम्यग्दर्शन आदि तीन के साथ तप यों चार प्रकार से मोक्ष मार्ग है। इस प्रकार शब्द और विवक्षा में भेद होने पर भी मूल तत्त्व में कोई भेद नहीं है, विसंगति नहीं है।

ज्ञान और दर्शन में अभेद की विवक्षा करके 'ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः' कहा जाता है। भेद विवक्षा करके 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः' ऐसा कहा जाता है। यहां तप को चरित्र के अन्तर्गत कर लिया गया है। तप निर्जरा का प्रधान कारण है, अतएव उसका महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए जब पृथक् निर्देश किया जाता है तो शास्त्रकार कहते हैं—

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप को मोक्ष का मार्ग कहा है।

मोक्ष मार्ग का निरूपण चाहे भेद विवक्षा से किया जाय चाहे अभेद विवक्षा से, एक बात सुनिश्चित है और वह यह है कि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त होना चाहिये। जिसने सम्यग्दर्शन पा लिया, समझना चाहिये कि उसने अपने जीवन में आध्यात्मिकता की नींव मजबूत करली। उसमें पर्दा हटा देने की शक्ति आगई है। उसकी भूमिका सुदृढ़ हो गई है।

सम्यग्दर्शन का प्रभाव बड़ा ही विलक्षण है। जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक विपुल से विपुल ज्ञान और कठिन से कठिन क्रिया भी मोक्ष का कारण नहीं होती। वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान और चरित्र मिथ्या चरित्र होता है और वह संसार का ही कारण है। मोक्ष की प्राप्ति में वह सहायक नहीं होता जब आत्मा में सम्यग्दर्शन का अलौकिक सूर्य उदित होता है तब ज्ञान और चरित्र सम्यक् बन जाते हैं और वे आत्मा को मोक्ष की ओर प्रेरित करते हैं। सम्यग्दर्शन कदाचित् थोड़ी सी देर के लिए—अन्तर्मुहूर्त मात्र काल के लिए—ही प्राप्त हो और फिर नष्ट हो जाय तो भी आत्मा पर ऐसी छाप अंकित हो जाती है कि उसे अर्धपुद्गलपरावर्त्तन काल में मोक्ष प्राप्त हो ही जाता है। सम्यग्दर्शन वह आलोक है जो आत्मा में व्याप्त मिथ्यात्व-अन्धकार को नष्ट कर देता है और आत्मा को मुक्ति की सही दिशा और सही राह दिखलाता है।

आनन्द ने सुदृष्टि प्राप्त करके सम्यक्त्व सामायिक, श्रुतसामायिक और देश विरति सामायिक प्राप्त की। उसकी बहिर्दृष्टि नष्ट हो गई वह अन्तर्मुख हो गया। भगवान् उसे व्रती जीवन में आने वाली बाधएं बतला रहे हैं जिससे वह दोषों से बचकर निर्मल रूप से व्रतों का पालन कर सके।

सातवें व्रत का स्पष्टीकरण करते हुए वाणिज्य सम्बन्धी महा हिंसा से बचने का उपदेश दिया, बतलाया कि कोल्हू, चर्खी, चक्की आदि यन्त्रों को चलाने की आजीविका करना श्रावक के लिए उचित नहीं है क्योंकि यह महारम्भी कार्य हैं। यन्त्रों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपयोग से भी श्रावक यथासम्भव अपने आपको बचावे तो उन्हें प्रोत्साहन न मिले और यन्त्र के प्रयोग से होने वाली अनेक हानियों से बचाव हो सके किन्तु आज की विषम स्थिति में इन यन्त्रों के कारण गृहस्थ अल्पारंभी से महारंभी बन जाता है। श्रावक को कम से कम महारंभ और महाहिंसा से तो बचना ही चाहिये। यदि वह महारंभ और तज्जनित महाहिंसा के कार्य करता रहा और लालच में पड़ा रहा तो वीतराग भगवान् का अनुयायी कहला कर भी उसने क्या लाभ प्राप्त किया ?

(१२) निल्लंछण कम्मे (निलंछित कर्म)—जो पशुओं का पालन करता है उसको नर पशुओं के खस्सी करने एवं नाथने का काम भी पड़ जाता है। इस विषय में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि श्रावक को ऐसा करने की आजीविका नहीं करनी चाहिये। ऐसे हल्के और हिंसाकारी कार्यों से वृत्ति चलाना श्रावक के लिए उचित एवं शोभास्पद नहीं है। जिन्होंने सुदृष्टि प्राप्त नहीं की है और जो विरति से दूर हैं, वे चाहें जैसा धन्धा करते हैं परन्तु श्रावक ऐसा नहीं करे। पशुओं को पुरुषत्वहीन करने या नाथने के काम में कठोरता से दमन करना पड़ता है। क्योंकि यदि पशु पुरुषत्व हीन न किया जाय तो वह निरंकुश रहता है और मतवाला-सा होकर जल्दी काबू नहीं आता। फिर भी श्रावक ऐसा धंधा करे और इसे अपनी आजीविका का साधन बना वे, यह किसी प्रकार भी योग्य नहीं है।

देश के दुर्भाग्य से आज ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि मनुष्यों को भी निलंछित किया जा रहा है—सन्ततिजनन के अयोग्य बनाया जा रहा है। पुरुष की नस का ऑपरेशन किया जाता है और स्त्री के गर्भाशय की थैली निकाल ली जाती है। इसी प्रकार के अन्यान्य उपाय भी किये जा रहे हैं। सन्ततिनिग्रह और परिवार नियोजन के नाम से सरकार इस सम्बन्ध में प्रबल आन्दोलन कर रही है और कैम्पों आदि का आयोजन कर रही है। यह सब बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए किया जा रहा है। गांधी जी के सामने जब यह समस्या उपस्थित हुई तो उन्होंने कृत्रिम उपायों को अपनाने का विरोध किया था और संयम के पालन पर जोर दिया था। उनकी दूरगामी दृष्टि ने समझ लिया था कि कृत्रिम उपायों से भले ही तात्कालिक लाभ कुछ हो जाय परन्तु भविष्यत् में इसके परिणाम अत्यन्त विनाशकारी होंगे। इससे दुराचार एवं असंयम को बढ़ावा मिलेगा। सदाचार की भावना एवं संयम रखने की वृत्ति समाप्त हो जाएगी।

कितने दुःख की बात है कि जिस देश में भ्रूणहत्या या गर्भपात का घोर तम पाप माना जाता था, उसी देश में आज गर्भपात को वैध रूप देने के प्रयत्न हो रहे हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि अहिंसा की

हिमायत करता हुआ भी यह देश किस प्रकार घोर हिंसा की ओर बढ़ता जा रहा है ? देश की संस्कृति और सभ्यता का निर्दयता के साथ हनन करना जघन्य अपराध है।

यदि कृत्रिम उपायों से गर्भ निरोध न किया जाय तो गर्भ के पश्चात् विवशता या अनिच्छा से ही सही, संयम का पालन करना पड़ता, परन्तु गर्भाधान न होने की हालत में इस संयम पालन की आवश्यकता ही कौन समझेगा ? धार्मिक दृष्टि से ऐसा करने में निज गुणों की हिंसा हैं। शारीरिक दृष्टि से होने वाली अनेक हानियां प्रत्यक्ष हैं। अतएव किसी भी विवेकवान् व्यक्ति को ऐसा करना उचित नहीं। निलंछन कर्म १२ वां कर्मादान है।

(१३) **दवग्गिदावणिया**--जंगल में चरागाह में अथवा खेत में आग लगा देना दवाग्निदापन नामक कर्मादान है। जिसके यहां पशुओं की संख्या अधिक होती है उसे लम्बा-चौड़ा चरागाह भी रखना पड़ता है। घास बढ़ने पर एवं उसे काट न सकने पर जला डालने की आवश्यकता पड़ती है। घास आदि के लिए जंगलों में आग लगाई जाती है। सद्गृहस्थ को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए। फसल बढ़ाने के लिए, अन्य किसी भी प्रयोजन से या जंगलों और मैदानों की सफाई के लिए व्यापक आग लगाना घोर हिंसा का कारण है, इससे असंख्य त्रस—स्थावर जीवों का घात होता है। घर में कचरा साफ करते समय आप देख सकते हैं कि किसी जीव का घात न हो जाय किन्तु जब जंगल में आग लगाई जाय तब कैसे देखा जा सकता है ? जीवों की यतना किस प्रकार हो सकती है ? उस सर्वग्रासी आग में सूखे के साथ गीले वृक्ष, पौधे आदि भी भस्म हो जाते हैं। कितने ही कीड़े-मकोड़े और पशु-पक्षी आग की भेंट हो जाते हैं। अतएव यह अतीव क्रूरता का कार्य है। मनुष्य थोड़े से लाभ या सुविधा के लिए ऐसी हिंसा करके घोर पापकर्म का उपार्जन करता है। अगर श्रावक को घरू खेत की सफाई का काम करना पड़े तो भी वह अधिक से अधिक यतना से काम लेगा किन्तु आग लगाने का धन्धा तो किसी भी स्थिति में नहीं करेगा।

बाहर की सारी वृत्तियाँ और समस्त व्यापार अहिंसा-सत्य को चमकाने के लिए हैं। जिस प्रवृत्ति से अहिंसा का तेज बढ़ता है वही प्रवृत्ति आदरणीय हैं। प्राणी मात्र को आत्मवत् समझने वाला कठोर तपस्या करने वाले के समान होता है। भूत दया ही सच्ची प्रभु भक्ति है।

किसी बादशाह के यहां एक विश्वासपात्र खोजा रहता था। बचपन से ही बादशाह के पास रहा और पला था। वहीं नौकरी करता रहा। जीवन अस्थिर और उग्र नदी के प्रवाह की तरह निरन्तर बहती जा रही है। धीरे-धीरे खोजा बूढा हो गया। तब उसने सोचा-जीवन की संध्या वेला आ पहुँची है। यह सूरज अब अस्त होने को ही है। बादशाह से अनुमति लेकर 'खुदा की कुछ इबादत कर लूँ तो आगे की जिंदगी सुधर जाय। उसने बादशाह के पास जाकर अदब के साथ अपनी हार्दिक भावना प्रकट की और कहा—बादशाह सलामत, आपकी चाकरी करते-करते बूढ़ा हो गया हूँ। आपकी कृपा से यह जीवन आराम से बीता है मगर आगे की जिंदगी के लिए भी कुछ कर लेना चाहिए। उसके लिए खुदा की चाकरी करनी होगी। आप आज्ञा दें तो कुछ करूं। मैं मक्का शरीफ की हज करने जाना चाहता हूँ।

बादशाह ने भले काम में रुकावट डालना ठीक नहीं समझा। अतः उसे इजाजत दे दी और उसकी मंशा पूरी करने को कुछ अशर्फियाँ भी दे दीं। खोजा ने सिर मुंड़वा लिया। तीर्थयात्रा के समय कई नियमों का पालन करना पड़ता है। अगर उन नियमों का पालन न किया जाय तो तीर्थयात्रा निरर्थक समझी जाती है। जैसे किसी ने लिखा है—

तीरथ गया तीन जना, कामी कपटी चोर।
गया पाप उतारवा, लाया दस मन और।

वह नंगे पैरों बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ यात्रा के लिए रवाना हुआ। रास्ते में उसे एक पहुँचे हुए फकीर मिल गये। वे स्वतंत्र विचार के पहुँचे हुए पुरुष थे। खोजा ने उन्हें सलाम किया। फकीर ने उसकी ओर देखा। खोजा ने कहा—इबादत करने मक्का शरीफ जा रहा हूँ।

फकीर ने कहा—अगर मक्का शरीफ की हज का फायदा यहीं मिल जाय तो?

खोजा बोला—तब तो कहना ही क्या! नैकी और पूछ-पूछ!

फकीर ने उसे एक पेड़ के नीचे बैठने को कहा और सूचना दी कि बाहर की ओर से मन मोड़ लो और ध्यान लगाओ। खुदा को यहीं अन्तर्दृष्टि में लाने की कोशिश करो। अगर प्रेम की मस्ती में आ गए तो हज करने जाने की जरूरत नहीं होगी।

खोजा श्रद्धा वाला व्यक्ति था। उसे फकीर के वचनों पर विश्वास आ गया। भूख-प्यास, खाना-पीना सब भूल गया और मस्त हो गया। उसकी मस्ती की बात बस्ती में फैल गई। लोगों ने कहा—कोई बड़े औलिया आए हैं। और वे उसके लिए दूध, फल आदि लाने लगे, मगर उसे परवाह नहीं है किसी चीज की। खाया खाया, न खाया न सही। वह अलमस्त होकर ध्यान में लीन रहने लगा।

बात फैलते-फैलते बादशाह के कानों तक जा पहुँची। नगर के बड़े-बड़े लोग उसके दर्शन के लिए जाने लगे। औलिया अपने स्वरूप में लीन रहने लगा। न उसे अपने शरीर का भान था, न मकान की चिन्ता थी। जैसे वह शरीर में रहता हुआ भी उससे अलग था।

बादशाह ने सोचा—फकीर साहब के दीदार तो अवश्य करना चाहिए। अब तक वहाँ एक छोटी-सी झोंपड़ी बन चुकी थी और उसमें दरवाजे की जगह एक टाटी लग गई थी। किसी ने फकीर को बादशाह के आने की खबर दी तो फकीर ने वह टाटी बन्द कर ली और पैर फैला दिए। जब बादशाह वहाँ पहुँचे तो टाटी को धकियाया गया मगर टाटी नहीं खुली। बाहर से आवाज दी गई—बादशाह सलामत पधारे हैं, दरवाजा खोलिए। मगर फकीर के लिए क्या गरीब क्या अमीर सब, बराबर हैं।

जिसके हृदय से परिग्रहवृत्ति हटी नहीं है, लोभ-लालच गया नहीं है, जो आशा का दास है और पैसे को बड़ी चीज समझता है, वह धनवान् के

सामने झुकता है, बादशाह की चापलूसी करता है। मगर जो पूरी तरह निस्पृह बन गया है और आत्मिक सम्पत्ति से सन्तुष्ट होकर वाह्य वैभव को कंकर पत्थर की तरह समझता है, उसके लिए राजा रंक में कोई भेद नहीं रहता। सच्चे साधु के विषय में भगवान् महावीर कहते हैं—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।

यह है जीता-जागता समभाव। इसे कहते हैं निस्पृहभावना! साधु जब धर्मदेशना करता है तो अमीर-गरीब का भेद नहीं करता। जैसे राजा को धर्मोपदेश करता है वैसे ही रंक को और जैसे रंक को वैसे ही राजा को। उसकी दृष्टिमें सभी प्राणी समान हैं।

जब उस फकीर ने बादशाह के आने की बात सुन करके भी झोंपड़ी का दरवाजा न खोला तो बादशाह ने छिद्र में से देखकर सलाम किया। राजा फकीर को देखकर पहचान गया कि यह तो वही खोजा है।

बादशाह बोला—मियाँ तुम तो गए थे मक्का!
फकीर ने उत्तर दिया—जी हां जब ज्ञान नहीं था पक्का!
फिर बादशाह ने कहा—मियां! कब से पांव फैलाये?
फकीर ने कहा—जब से हाथ सिकोड़े।
बादशाह—क्या कुछ पाया?
फकीर—जी हां पहले तेरे आता था, अब तू मेरे आया।
बादशाह—हमें भी कुछ बता।

फकीर—मत करना कोई खता। दान दे, सान्त्वना दे, झटका मत मार, अन्यथा तेरा सफाया हो जाएगा, कहा है—

'यों कर, यों कर यों न कर, यों कीना यों होय।
कहे ओलिया देखलो, खुदा न बाहर कोय"॥

यह तत्त्व मुझे मिला है और मुझे आत्म सन्तोष है कि मक्का शरीफ अब यहीं दीख रहा है।

तात्पर्य यह है कि जो साधक अन्तर्मुख हो जाता है और अपने मन को अपनी आत्मा में ही लीन कर लेता है, उसे अपने अन्दर ही भगवत्स्वरूप के दर्शन होने लगते हैं। अहिंसा और सत्य उसके जीवन में उतर आता है।

खोजा को तत्त्व मिला कि किसी प्राणी को न सताना, किसी पर हुकूमत मत करना। यही धर्म का तत्त्व महावीर स्वामी ने भी बतलाया है। यह धर्मतत्त्व सदा काल था, है और रहेगा। इस तत्त्व को शास्त्र के माध्यम से ही समझाया जाता है। मनुष्य भाषा के माध्यम से ही अपने हृद्गत विचार दूसरों तक पहुँचाता है। महर्षियों के अनुभव जनित विचार एवं भाव साहित्य-श्रुत के माध्यम से ही युगों-युगों से चले आ रहे हैं। अतएव महर्षियों के महत्त्व के समान श्रुत का भी महत्त्व है।

आचार्य संभूति विजय ने श्रुत की रक्षा का संकल्प किया और अनेक श्रुतधर मुनियों के सहयोग से श्रुत का संकलन किया फलस्वरूप ग्यारह अंग व्यवस्थित हो गए। जब दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का प्रश्न उपस्थित हुआ तो महामुनि भद्रबाहु की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। निश्चय किया गया कि श्री संघ की ओर से आचार्य भद्रबाहु को बुलाना चाहिये ताकि अपूर्ण कार्य पूर्ण हो सके।

भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल में थे। चरण विहारी होते हुए भी जैन साधु बहुत दूर-दूर तक भ्रमण किया करते हैं। उसका परिभ्रमण अन्य अटन प्रिय लोगों के समान नहीं होता। दूसरे कई लोग साईकिल से भी विदेश यात्रा करते हैं। पर साधु की यात्रा निराली होती है। वे सम्बल के रूप में आटा मेवा या अन्य कोई वस्तु नहीं रखते। न कोई गाड़ी आदि साथ रखते, सन्निधि अर्थात् दूसरे दिन के लिए कोई भी भोजन सामग्री रखना तो उनके लिए बहुत बड़ा दोष है। संग्रह करना गृहस्थों का काम है, साधु कल की चिन्ता नहीं करता। वह पक्षी के समान सर्वथा परिग्रह हीन होता है। बासी

बचे न कुत्ता खाय' की कहावत साधु-जीवन में पूरी तरह चरितार्थ होती है।

आज विनियम के साधनों की सुविधा होने से संग्रह करने की वृत्ति अधिक बढ़ गई है। धनवान् या जमीदार व्यापारी स्टाक पास रख करके अकाल न होने पर भी अकाल की सी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। खाद्य पदार्थों का संग्रह करके जब दबा लिया जाता है तब लोगों को वे दुर्लभ हो जाते हैं और उनका भाव ऊंचा चढ़ जाता है। इसी उद्देश्य से व्यापारी संग्रह करता है और मुनाफा कमाता है। ऐसा करने से आज खाद्य समस्या बड़ी गम्भीर हो गई है और बहुत असन्तोष फैल रहा है। सरकार की ओर से इस संग्रह वृत्ति पर अंकुश लगाया जाता है, फिर भी वह रुक नहीं रही। अच्छे आदर्श व्यापारी को ऐसा नहीं करना चाहिये। अनुचित मुनाफा कमाना श्रावक को शोभा नहीं देता। यह व्यापार नीति से प्रतिकूल है। व्यापारी को अपने लाभ के साथ जनता की लाभ-हानि, सुविधा-असुविधा का भी विचार रखना चाहिये।

हां, तो भद्रबाहुस्वामी नेपाल की तराई में थे। दो साधु उन्हें बुलाने के लिए भेजे गए। दोनों सन्त उनके चरणों में जाकर प्रणत हुए। तत्पश्चात् उन्होंने निवेदन किया—भगवन्! संघ पाटलीपुत्र में एकत्र हुआ है और श्रुत के संकलन का कार्य किया जा रहा है। किन्तु आपके बिना श्रुत संकलन पूर्ण रूप से सम्पन्न नहीं हो रहा, अतएव आपकी वहां आवश्यकता अनुभव की जा रही है। आप अवश्य पधारें। संघ आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।

आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर दिया—संघ का मैं अंग हूं, सेवक हूं। संघ का मुझ पर अपार उपकार है, किन्तु मैंने महाप्राण ध्यानयोग प्रारम्भ किया है। यह निवेदन आप संघ के समक्ष कर दीजिएगा।

महाप्राण ध्यान की क्या विधि है, क्या भूमिका, परिपाटी या स्वरूप है? इसका उल्लेख देखने में नहीं आता, किन्तु 'महाप्राण' शब्द के आधार पर ही कुछ कल्पना की जा सकती है। जिस ध्यान के द्वारा प्राण को दीर्घ किया जाय प्राणवायु पर विजय प्राप्त की जाय, सम्भवतः वह महाप्राण ध्यान कहलाता हो।

जैन परम्परा में हठ योग को प्रश्रय नहीं दिया गया है। वह अध्यात्म की प्रधानता होने से वहाँ राजयोग ही उपादेय माना गया है। वस्तुतः हठ योग रोग के उन्मूलन की दवा नहीं है, उससे रोग को सिर्फ दबाया जा सकता है। राज योग उस औषध के समान है जो रोग को समूल नष्ट कर देती है।

तो आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर दिया—मैं इस समय पाटलीपुत्र के लिए प्रस्थान करने में असमर्थ हूँ, क्योंकि मैं महाप्राण ध्यान प्रारम्भ कर चुका हूँ। उसे अपूर्ण छोड़ देना उचित नहीं होगा, ऐसा श्री संघ को निवेदन करना।

आचार्य का उत्तर सुनकर सन्त निराश होकर लौट गए। पाटलीपुत्र पहुँच कर उन्होंने संघ के समक्ष बतलाया—हम दोनों महामुनि भद्रबाहु की सेवा में पहुँचे। उनको संघ का आदेश कह सुनाया। उत्तर में उन्होंने निवेदन किया है कि वे महा प्राण ध्यान आरम्भ कर चुके हैं। अतएव उपस्थित होने में असमर्थ हैं।

आचार्य सम्भूतिविजय ने महामुनि भद्रबाहु का उत्तर सुनकर संघ के साथ विचार विमर्श किया। सोचा गया—श्रुत की रक्षा शासन की रक्षा है। आज भगवान् तीर्थंकर या केवली हमारे समक्ष नहीं है। तीर्थंकर की देशना, जो श्रुत के रूप में ग्रथित की हुई है, हमारा सर्वस्व है, एकमात्र निधि है। उसके अभाव में शासन टिक नहीं सकता। वह छिन्न-भिन्न हो जाएगा। संघ श्रुत पर ही टिका है और भविष्य के संघ के लिए भी यही एकमात्र आधार रहेगा। उधर आचार्य भद्र बाहु ने ध्यान योग आरम्भ किया हैं, यह बात भी हमें ध्यान में रखनी चाहिये। भद्रबाहु स्वामी ने नम्रतापूर्वक जो कहला भेजा है, उस पर विचार करना चाहिये और आवश्यक समझा जाय तो उसका प्रत्युत्तर भेजना चाहिये। मगर श्रुतरक्षा का कार्य अवश्य सम्पन्न करना है।

उपस्थित मुनियों ने इस पर विचार किया। उनकी दृष्टि में श्रुतरक्षा का कार्य सर्वोपरि था और यह उचित है। आप लोगों को भी श्रुत के संरक्षण और प्रचार की ओर ध्यान देना चाहिये। जो ऐसा करेंगे उनका इस लोक और परलोक में परम कल्याण होगा।

संघ की महिमा

जीवन में जब अध्यात्म की साधना की जाती है तो एक अद्भुत ही ज्योति अन्तर में जागृत होती हैं। उस ज्योति के आलोक में आन्तरिक शक्तियां जगमगा उठती हैं। साधारण मानव जिस बात पर बाह्य दृष्टिकोण से विचार करता है, साधक आध्यात्मिक दृष्टि से उस पर विचार करता है। अध्यात्मिक मंच से किसी बात को कहने का रूप दूसरा ही होता है। व्यवहारबादी दृष्टि से अध्यात्मवादी दृष्टि सदा विलक्षण ही रही है। अध्यात्मवादी दृष्टि सदा विलक्षण रही है। आध्यात्मवादी का दृष्टिकोण व्यवहारवादी को अटपटा भले लगे मगर पारमार्थिक सत्य उसमें अवश्य निहित होता है।

बाह्य दृष्टिकोण वाला घर की सजावट, शरीर के शृंगार और भोगोपभोग की सामग्री के अधिक से अधिक संचय पर ध्यान देता है और इसकी सफलता में अपने जीवन की सफलता समझता है, किन्तु आध्यात्मनिष्ठ साधक उन सब पर पदार्थों को भार स्वरूप समझता है। सद्गुण ही उसके लिए परम आभूषण हैं और आत्मा की विकसित एक-एक शक्ति ही उसके लिए एक-एक चिन्तामणि रत्न है।

बहिरात्माओं को यह सब स्वप्न जगत् में विचरण करने जैसा प्रतीत होगा। भौतिक दृष्टि होने के कारण ये बातें उसे विश्वसनीय नहीं प्रतीत होतीं। मगर इससे क्या ? नेत्रहीन व्यक्ति यदि रूप के अस्तित्व को नहीं देख पाता तो क्या यह कहा जा सकता है कि रूप है ही नहीं ? नहीं, इसी प्रकार अवास्तविक दृष्टि में जो सत्य नहीं आता उसे असत्य नहीं कहा जा सकता।

भौतिकवादी दृष्टिकोण वाला आभूषण, सजावट की सामग्री, आमोद-प्रमोद के साधन आदि जुटाने के लिए महारंभ करने से भी नहीं हिचकेगा।

उसका एक ही दृष्टिकोण रहेगा कि जिन्दगी को सुखमय बनाने के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन किया जाय ? अगर उसके लिए मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों की हत्या करने की आवश्यकता होगी तो वह बेधड़क करेगा। यह कोरी कल्पना या सम्भावना नहीं, वास्तविक सत्य है। जब-तब समाचार पत्रों से विदित होता है कि थोड़े से पैसों के लिए अमुक व्यक्ति की हत्या कर दी गई। आज इस देश के एक भाग में डकैतियों का जो दौर चल रहा है, यह क्या है ? भौतिक दृष्टि की प्रधानता का ही यह फल है। अभिप्राय यह है कि जिस की दृष्टि अध्यात्म की ओर आकर्षित नहीं हुई वह अपनी निरंकुश आवश्यकताओं की पूर्त्ति को ही महत्व देगा।

मगर अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण इससे एकदम विपरीत होता है प्रथम तो उसका जीवन इतना सरल सादा और संयमपूर्ण होता है कि उसकी आवश्यकताएं अत्यन्त कम हो जाती हैं और जो भी आवश्यकताएं होती हैं उनकी पूर्ति या तो आरंभ के बिना ही हो जाती है या अत्यल्प आरम्भ से। वह भूलकर भी महारम्भ की प्रवृत्ति नहीं करता। वह अपने स्वार्थसाधन के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता, बल्कि किसी को कष्ट में देखता है तो उसे कष्ट मुक्त करने का भरसक प्रयास करता है। उसकी इस उदार वृत्ति का लाभ उसे तो प्राप्त होता ही है, समाज को भी महान् लाभ होता है। वह समाज के समक्ष एक स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करता है और आसपास वालों के जीवन को भी संयमन की ओर मोड़ देता है।

उस मनुष्य का ज्ञान और सम्यक्त्व, किस काम का जिससे स्वयं का और समाज का पाप न घटा ? ज्ञान भले ही अल्प हो मगर सार्थक वही है जिससे पाप घटे और संयमवृत्ति का पोषण हो। कोट्यधीश आनन्द श्रमणोपासक इसीलिए अपने को महा कर्म बन्ध के पन्द्रह कारणों से निवृत कर रहा है।

निर्लांछन कर्म और दवाग्निदावणया कर्म का विवरण पिछले दिनों किया जा चुका है। दावानल लगाने से भले ही समय और धन की बचत हो जाय किन्तु यह कर्म महा हिंसा का कारण है। परिग्रह को बूढ़े के हाथ की

लाठी समझने वाला उसके अधिक चक्कर में नहीं पड़ेगा। सम्यग्दर्शन सम्पन्न व्यक्ति परिग्रह को बूढ़े की लाठी समझता है। वह उसे सहारा मात्र मानता है। अतः परिग्रह की वृद्धि के लिए महारंभ करके अपनी आत्मा को पतित करना स्वीकार नहीं करेगा। भगवती सूत्र में आग लगाने वाले और बुझानेवाले के लिए क्रिया का विचार चला तो कहा गया—

जंगल में चलते-चलते कोई दुर्मति आग लगा दे और दूसरा कोई उसे बुझावे तो आग लगाने वाला महारंभी और बुझाने वाला अल्पारंभी समझना चाहिये।

(१४) सरदह लाभ सोसणया कम्मे-जिस भूमि में जल हो उसमें कचरा मिट्टी आदि डालकर कई लोग उसे सुखा देते हैं। वह भूमि अधिक उपजाऊ है, इस लालच में पड़कर तडाग को सुखाने का काम करता है तो समझना चाहिये कि वह महाहिंसा का काम कर रहा है। सर वे जलाशय कहलाते हैं जो बिना खोदे प्राकृतिक रूप से स्वयं बन गए हैं। और तालाब खोद कर बनाये गये जलाशय को कहते हैं, जिनमें पाल बनाकर जल संचित किया जाता है। इन सभी प्रकार के जलाशयों को सुखाने का धंधा करना कर्मादान है।

सरों तथा तालाबों को पाट कर मानव जीवन निर्वाह के अनिवार्य साधन जल का विनाश करेगा और जल काय के तथा उसके आश्रित असंख्य- और अनन्त जीवों का हनन करेगा। अमर कोषकार अमरसिंह ने जल के सम्बन्ध में लिखा है—

'जीवानु जीवनं औषधम्।'

जल को संस्कृत भाषा में 'जीवन' कहा गया है। मनुष्य के पास सोना, चांदी, विशाल कोठी, सुन्दर और मूल्यवान फर्नीचर एवं खाने को मेवा-मिष्ठान्न न हो तो भी वह जीवित रह सकता है। दुष्काल के समय खेजड़े की छाल, जंगली धान, भुरंट की रोटी, महुआ तथा इसी प्रकार की वस्तुएं खाकर मनुष्य पेट भर लेता है। परन्तु पानी और पवन के बिना काम नहीं चल

सकता, जीवित नहीं रह सकता। पानी सोने से भी अधिक मूल्यवान है। प्यास से जिसका कंठ सूख गया है और प्राण कंठ में अटके हैं वह पानी के लिए सोने की डलियां फेंक देगा। इतने मूल्यवान् पदार्थ जल का मानव को 'दुरुपयोग' नहीं करना चाहिए। लालच के वशीभूत हो कर पानी को सुखाना तो स्व-पर दोनों के लिए हानिप्रद और घोर हिंसा का कारण है अतएव विवेकशील श्रावक ऐसे अनर्थकारी धंधे को कदापि नहीं अपना सकता।

(१५) असतीजनपोसणया कम्मे—कुछ गिरोह ऐसे होते हैं जो लड़कियों को उड़ा ले जाते हैं और उन्हें पाल-पोस कर व्यभिचार जैसे घृणित कर्म में लगा देते हैं। यह कितनी लज्जाजनक बात है। कई नीच व्यक्ति अपनी लड़की की शादी नहीं करते और उसे स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने दिया जाता है। कई लोग व्यभिचारिणी स्त्रियों को रख कर अड्डे चलाते हैं। किन्तु इस प्रकार के असामाजिक, अनैतिक और अधार्मिक कार्य कर के अर्थ-लाभ करना महानीचता और निन्दनीय कृत्य है। इससे द्रव्यहिंसा भी होती है और भावहिंसा भी। ऐसा करने वाले लोग सदाचार के भयानक शत्रु हैं, समाज के कोढ़ और पापों के प्रबल प्रचारक हैं। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र तो एक स्वर से इस प्रकार के कल्पों का विरोध करते ही हैं, पर सरकारी कानून भी इनका विरोधी है। संसार का कोई भी सत्पुरुष ऐसे नीच कर्म का समर्थन नहीं कर सकता।

इसी प्रकार हिंसक जन्तुओं का पालन करके उनसे जीव-वध करवा कर आजीविका चलाना भी अत्यन्त क्रूरतापूर्ण एवं निन्दनीय कर्म है। शिकारी बाज, कुत्ते आदि का पालन ऐसे ही पापकर्म के लिए किया जाता है। जो लोग घोर अज्ञानान्धकार में निमग्न हैं, जिन्हें धर्म और नीति का प्रकाश नहीं मिला है, जिन्हें संतसमागम का सुयोग भी प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे लोग यदि घोर कर्मबंधकारक ऐसे कर्म करें तो कदाचित् क्षम्य है, किन्तु सद्गृहस्थ इन कुकृत्यों में कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

कई लोग 'असतीजनपोषण' में थोड़ा-सा फेरफार करके 'असंजतीजन-पोषण' कर देते हैं और कहते हैं कि संयमी जनों अर्थात् साधुओं के अतिरिक्त

किसी भी भूखे को रोटी देना पाप है। मगर यह व्याख्या प्रमाद या पक्षपात से प्रेरित है। यह साम्प्रदायिक आग्रह का परिणाम है। इस प्रकार की व्याख्या करने से दया, अनुकम्पा और करुणा भी पाप हो जाएगा। यह अर्थ दयाप्रधान जैन परम्परा से विपरीत है।

पालतू कुत्त े को खाना देना पाप नहीं है। यहां हिंसा द्वारा कमाई करने की वृत्ति नहीं है। भूखे कुत्त े को या अन्य पीड़ित जीवों को अन्न आदि देना अनुकम्पा की प्रेरणा है। क्षुधा, पिपासा, अशान्ति और आर्त्ति मिटाने में जो अनुकम्पा की भावना होती है, वह पुण्य है। उसे कर्मादान में सम्मिलित नहीं समझना चाहिए। कर्मादानों का सम्बन्ध विशिष्ट पापकर्मों के साथ है।

श्रुत का गंभीर और सम्यग्दृष्टिपूर्वक अध्ययन किया जाय तो इस प्रकार की गलतफहमी नहीं हो सकती। श्रुत हमारे लिए मार्गदर्शक है। उसी से कृत्य-अकृत्य का भेद ज्ञात होता है। अगर श्रुत रूपी निधि हमारे पास न होती तो इसका आधार लेकर हम हेयउपादेय का विवेक कैसे करते? जैसे नेत्रहीन पुरुष को वीहड़ बन में मार्ग नहीं मिलता और वह इधर से उधर ठोकरें खाता और टकराता है, वही दशा श्रुत ज्ञान के अभाव में हमारी होती। आध्यात्मिक जीवन को आलोकित करने वाले शास्त्र ही हैं। शास्त्र से आन्तरिक प्रकाश प्राप्त होता है। इसी कारण श्रुत का संरक्षण महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य माना गया है।

आचार्य संभूतिविजय ने शास्त्ररक्षा के कार्य को महान् और शासन के अभ्युदय के लिए अनिवार्य मान कर उसके संरक्षण की योजना की। जब बारहवें अंग दृष्टिवाद का प्रश्न उपस्थित हुआ तो भद्रबाहु स्वामी की ओर ध्यान गया। दूसरी बार फिर उनकी सेवा में मुनियों को भेजा गया। उन्होंने संघ का संदेश उन्हें कह सुनाया। संघ ने इस बार मार्मिक शब्दों में संदेश प्रेषित किया था—संघ बड़ा है या ध्यान बड़ा है?

बुद्धिमान् को इशारा काफी होता है। महान् ज्ञानी भद्रबाहु स्वामी ने संघ के संकेत को समझ लिया और यह भी जान लिया कि संघ मेरे उत्तर से

सन्तुष्ट नहीं है। तब उन्हें विचार आया-इस समय ऐसा करना ही समुचित होगा कि संघ का अविनय भी न हो और मेरा भी आरब्ध कार्य सम्पन्न हो जाय। विश्राम कम करके यदि रात्रि का समय ध्यान में लगाया जाएगा तो शास्त्रवाचना और ध्यानयोग दोनों का सम्यक् प्रकार से निर्वाह हो जाएगा। इस प्रकार विचार करके भद्रबाहु ने मुनियों को उत्तर दिया—भद्रबाहु संघ के आदेश को शिरोधार्य करता है। वह संघ की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने को उद्यत है।

बन्धुओ ! बात के कहने-कहने में अन्तर होता है। एक ही बात एक ढंग से कहने पर श्रोता के चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है दूसरे ढंग से कहने पर उसी का प्रभाव दूसरा होता है। शिष्ट जन संयत भाषा का प्रयोग करते हैं। (१) मैं नहीं आ सकता और (२) क्षमा कीजिए, मैं आवश्यक कार्य से आने में असमर्थ हूँ। इन दो उक्तियों का प्रतिपात्र विषय एक ही है, परन्तु शब्दावली में अन्तर है। मगर शब्दावली के इस अन्तर में अशिष्टता और शिष्टता भी छिपी हुई है। संयत भाषा के प्रयोग से कार्य भी सिद्ध हो जाता है और विनम्रता एवं शिष्टता की भी रक्षा हो जाती है। गुरु अपने शिष्य को कह सकता है कि तुम्हें बोलने का भान नहीं है, मगर शिष्य यदि गुरू से कहे कि आपको विवेक नहीं है, तो यह अविनय और अशिष्टता होगी, वृद्ध पितामह से कहा जाय कि—बाबा साहब, हम आपकी सेवा में हैं अब आपको करने की आवश्यकता नहीं, हम सब कर लेंगे, तो इससे न केवल वृद्ध को अपितु अन्य सुनने वालों को भी अच्छा लगेगा, किसी के दिमाग में उत्तेजना नहीं होगी और काम भी चल जाएगा। तात्पर्य यह है कि विवेकशील व्यक्ति को शिष्टता-पूर्ण, नम्रताद्योतक और साथ ही अपनी पदमर्यादा का ध्यान रखते हुए भाषा का समुचित प्रयोग करना चाहिए।

आचार्य भद्रबाहु ने लोकोपचार विनय का आश्रय लिया। विनय सात प्रकार का है—(१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्रविनय (४) मनोविनय (५) वचन विनय (६) काम विनय और (७) लोकोपचार विनय।

प्रारम्भ के तीन विनय साध्य हैं और उनके बाद के मनोविनय, वचन विनय और कायविनय उनके साधन हैं। सातवां उपचार विनय है। उन्होंने उपचार-विनय की दृष्टि से सुखद शब्दावली का प्रयोग किया। वे बोले—मैं श्रुताभ्यास करने वाले मुनियों को पर्याप्त समय दूंगा। मैं अपने आरंभ किये हुए ध्यान-योग का भी निर्वाह करूंगा और श्रुतसेवा का भी निर्वाह करूंगा।

भद्रबाहु स्वामी अपने काल के महान् सन्त थे, सन्तों में शिरोमणि थे। द्वादशांगों के ज्ञाता थे। फिर भी संघ के आदेश को उन्होंने टाला नहीं, क्योंकि संघ की सत्ता सर्वोपरि होती है। कोई व्यक्ति कितना ही महान् क्यों न हो, वह संघ से बड़ा नहीं होता। उसे संघ के आदेश का अनुसरण करना ही चाहिए। आखिर महान् होने पर भी वह संघ का ही एक अंग है। संघ से पृथक व्यक्ति का क्या गौरव है? इसीलिए शास्त्रों में संघ को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है, उसे भगवान् कहा गया है। आपको विदित होगा कि नन्दीसूत्र में सामान्य तीर्थंकरों को और भगवान् महावीर की स्तुति में जहां एक एक गाथा लिखी गई है वहां संघ की स्तुति में अनेक गाथाएं दी गई हैं और शास्त्रकार ने असाधारण भक्तिपूर्वक संघ की वन्दना की है। इससे जाना जा सकता है कि हमारे पुरातन महापुरुष संघ को कितना उच्च स्थान प्रदान करते थे। संघ को धर्म के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान मिलना सर्वथा समुचित है, क्योंकि तीर्थंकर भगवान् के शासन का वह आधार है। उसी में धर्म का व्यवहार्य रूप दृष्टिगोचर होता है। संघ धर्म का प्रवर्त्तक और संचालक है। यही कारण है कि धर्म की प्रवृत्ति के लिए तीर्थंकर भगवान् संघ की स्थापना करते हैं। संघ की सुरक्षा में धर्म की सुरक्षा और संघ की प्रतिष्ठा में धर्म की प्रतिष्ठा है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों के धारक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका समूह को संघ कहते हैं। संख्या में छोटा हो या बड़ा, गुणों के कारण संघ बड़ा महनीय है। संघ का संगठन सुदृढ़ होता है तो संयम का पालन समीचीन रूप से होता है। संघ में भेद उत्पन्न होता है तो शासन का तेज मन्द हो जाता और उसकी शक्ति कम हो जाती है। इसी कारण संघ में भेद उत्पन्न करना बड़े से

बड़ा पाप माना गया है। 'संघे शक्तिः कलौ युगे' यह उक्ति प्रसिद्ध है जिसका आशय यह है कि विशेषतः कलियुग में संघ में ही शक्ति-निहित होती है।

भद्रबाहु स्वामी संघ की महिमा से सुपरिचित थे। अतएव उन्होंने संघ को उचित आदर प्रदान किया।

मुनि युगल ने लौट कर संघ को भद्रबाहु का संदेश सुनाया। श्रुतसभा उपस्थित थी। अमरदीप को प्रज्वलित करने और प्रज्वलित रखने के लिए सन्त जन उद्यत थे।

अमरदीप हमारे हृदय में विद्यमान है। उसकी ज्योति को बढ़ाने की आवश्यकता है। वह अमरदीप श्रुतज्ञान का प्रदीप है जो केवल ज्ञान के भास्कर को उदित कर सकता है। यदि श्रुतज्ञान का दीपक न हो तो केवल ज्ञान का भास्कर किस प्रकार उदित हो सकता है ?

भद्रबाहु स्वामी के उत्तर को सुनकर संघ ने जो निर्णय किया, उसका दिग्दर्शन आगे कराया जाएगा।

जो श्रुतज्ञान के भाव-दीपक को अपने अन्तर में प्रज्वलित करेंगे, उन्हीं का दीपमालिका पर्व मनाना सार्थक होगा और उन्हीं का शाश्वत कल्याण होगा।

इस विराट और विशाल सृष्टि में अनन्त-अनन्त पदार्थ विद्यमान हैं। अगर उनकी गणना का उपक्रम किया जाय तो अनन्त जन्म में भी गणना नहीं हो सकती। उन सबको जान लेना भी छद्मस्थ के सामर्थ्य से बाहर है। ऐसी स्थिति में वर्गीकरण की पद्धति को अपनाना ही आवश्यक है। प्रतिपादक अपनी विवक्षा के अनुसार विश्व के समस्त पदार्थों को कतिपय राशियों में विभक्त कर लेता है और फिर उन पर प्रकाश डालता है। उदाहरणार्थ-जैन परम्परा में दार्शनिक दृष्टि से संसार के समस्त पदार्थों को षट् विभागों में विभक्त किया गया है जिन्हें षट् द्रव्य की संज्ञा दी गई है। इस विभाजन से

समग्र विश्व का रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है अर्थात् हमें प्रतीत हो जाता है कि इस सृष्टि के मूल उपादान तत्त्व क्या-क्या और कौन-कौन से हैं ?

किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से जब वर्गीकरण किया जाता है तो मूल तत्त्वों की संख्या नौ निर्धारित की जाती है। अध्यात्म के क्षेत्र में इस प्रकार का वर्गीकरण ही अधिक उपयुक्त है। मगर इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करने के लिए यह अवसर अनुकूल नहीं है। क्योंकि इस समय चारित्र का निरूपण चल रहा है, अतएव उसी के सम्बन्ध में प्रकाश डालना है। आचरण की दृष्टि से जगत् के पदार्थों को तीन भागों में बांटा गया है:—

(१) हेय–त्याग करने योग्य,

(२) उपादेय—ग्रहण करने योग्य, और

(३) ज्ञेय—केवल जानने योग्य।

संसार की सभी वस्तुएं इन तीन वर्गों में समाविष्ट हो जाती हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि ज्ञेय पदार्थ हेय और उपादेय, इन दो भागों में बांटे जा सकते हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सद्गुण उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य हैं। अगर ये सद्गुण सिर्फ ज्ञेय होकर ही रह जाएँ तो इनका कोई उपयोग नहीं है। एक मनुष्य अहिंसा के मर्म को जानता है, उस पर घंटों प्रवचन कर सकता है, दूसरे के दिमाग में बिठा सकता है परन्तु उसे अपने जीवन में व्यवहृत नहीं करता तो इससे उसे क्या लाभ होने वाला है ? कुछ भी नहीं।

जिस प्रकार अहिंसा आदि व्रत उपादेय हैं, उसी प्रकार उनके अतिचार त्यागने योग्य हैं। साधक का कर्त्तव्य है कि जब वह व्रतों को जान कर अंगीकार करे तो उनके अतिचारों को भी समझ ले और समझ कर उनसे बचता रहे। जैसे उपादेय वस्तु का जाने विना उपादान अर्थात् ग्रहण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार हेय वस्तु का जाने विना हान अर्थात् परिहार नहीं किया

जा सकता। इसी कारण शास्त्र में अतिचारों के लिये 'जाणियव्वा,' न समा-यरिव्वा ऐसा पाठ दिया गया है।

श्रावकधर्म और मुनिधर्म के सभी नियम और संवर, निर्जरा आदरणीय हैं। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म के प्रति आदरभाव होना चाहिए और अतिचारों से बचना चाहिए।

आनन्द श्रावक यदि अणुव्रतों और शिक्षाव्रतों को मस्तिष्क तक ही रखता और आचरण में न लाता तो उसके जीवन का उत्थान न होता। वह व्रतों को समझता है और समझने के साथ अंगीकार भी करता है वह व्रत के दूषणों को भी समझता और त्यागता है। व्रत के दोषों का त्याग किये बिना निर्मल व्रतपालन संभव नहीं है। आनन्द ने सातवें व्रत को ग्रहण करने के साथ पन्द्रह कर्मादानों का त्याग कर दिया, जिनका उल्लेख किया जा चुका है।

आठवां व्रत अनर्थदण्डत्याग है। जिसके बिना गृहस्थ का काम नहीं चलता, जो गृहस्थ जीवन में अनिवार्य है, ऐसी हिंसा का भले ही वह त्याग न कर सके मगर निरर्थक हिंसा के पाप का त्याग तो उसे करना ही चाहिए। जिस हिंसा से किसी प्रयोजन की पूर्त्ति न होती हो, उसके भार से अपनी आत्मा को भारी एवं मलीन बनाये रखना बुद्धिमता नहीं है। आनन्द ने अनर्थदण्ड का त्याग और संकल्प किया कि वह निरर्थक हिंसा असत्य का व्यवहार नहीं करेगा। इस संकल्प की पूर्त्ति के लिए उसने इस व्रत के पांच अतिचारों का भी त्याग किया। अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) कन्दप्प (कन्दर्पकथा)—जैसे सत्यभामा को भामा और बलराम को राम कह दिया जाता है, उसी प्रकार यहां कन्दर्पकथा को कन्दर्प कहा गया है।

मनुष्य को निरर्थक पाप नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे आत्मा मलीन होती है और प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता। अनावश्यक कुतूहल के

वशीभूत होकर, शृंगार के कारण अथवा दूसरों को प्रसन्न करने के लिए ऐसी बात करना कि जिससे भोग की प्रवृत्ति बढ़े या कामवासना जागृत हो तो वह बेमतलब पाप करना है। हिन्दी साहित्य की रीतिकालीन रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस काल में श्रीमन्तों—राजाओं, महाराजाओं सामन्तों आदि का मनोरंजन करने के लिए कविगण कामवासनावर्धक काव्य लिखा करते थे। आज भी आत्मतत्त्व की बातों से राजी करने की क्षमता न होने से अपने श्रीमन्त स्वामियों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से इंग्लेण्ड, अमेरिका, एशिया आदि देशों की महिलाओं का वर्णन तथा अन्य शृंगारिक वर्णन किया जाता है। ठकुरसुहाती करते हुए कहते हैं—आपके अन्तःपुर के समान अन्तःपुर अन्यत्र कहीं नहीं देखा, आपके वैभव की सदृशता कोई नहीं कर सकता। इत्यादि बातें कह कर लोगों को प्रसन्न करते हैं—

ऐसी कन्दर्प कथाओं या काम की वृद्धि करने वाली कथाओं या हास्य-कथाओं में कुछ नमक-मिर्च लगाकर गढ़ना पड़ता है। और जब ऐसी बातों को अभिनय के साथ कहा जाता है तो वृद्ध एवं उदास व्यक्ति भी एक वार खिल-खिला उठते हैं।

प्रश्न उठता है—प्रसन्न करने से लाभ क्या हुआ ? शृंगार भाव या कामवासना को जागृत करने के लिए झूठ बोलने से कौनसा कार्य सिद्ध हुआ ? केवल थोड़ी देर का विकृत विनोद हुआ और लाभ कुछ भी नहीं मिला ! ऐसी स्थिति में इस प्रकार की निरर्थक चेष्टाओं द्वारा आत्मा को कलुषित करने की क्या आवश्यकता है ?

आधुनिक युग में चित्रपटों का अत्यधिक प्रचार हो रहा है। मगर अधिकांश चित्रपट गंदी और अश्लील बातों एवं चेष्टाओं से परिपूर्ण होते हैं। इन चित्रपटों को देखते-देखते लोगों का मानस बहुत ही विकृत हो गया है। आधुनिक समाज में जितनी बुराइयां आई हैं उनमें से अधिकांश के लिए ये चित्रपट उत्तरदायी हैं। कोमलवय बालकों और नवयुवकों के समक्ष जब निर्लज्जतापूर्ण, अश्लील, मर्यादा को नष्ट करने वाले, वासनादिवर्द्धक और

घृणाजनक चित्र उपस्थित किये जाते हैं तब कैसे आशा की जा सकती है कि आगे चल कर वे सुसंस्कारी, मर्यादा में चलने वाले और सच्चरित्र बन सकेंगे ? ये चित्रपट दर्शकों के जीवन में क्षेत्रों की राह से जो हलाहल विष घोल देते हैं, उससे उनका समग्र जीवन विषाक्त बन जाता है। नादान बालक भी आज गली गली में प्रेम के गाने गाते फिरते हैं, यह इन चित्रपटों की ही देन है।

जनता का अधिक भाग अशिक्षित और असंस्कृत होने से निम्नकोटि के अभिनय और संगीत में रुचि प्रदर्शित करता है। वह निर्लज्जतापूर्ण नग्न या अर्ध नग्न चित्रों को देख कर खुश होता है। इसी कारण धन के लालची चित्रपट निर्माता ऐसे चित्रपट बनवाते हैं और पैसे कमाते हैं। इससे समाज में कितनी बुराइयां फैल रही हैं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं, उन्हें अपनी तिजोरियां भरने की चिन्ता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि शासन भी इस ओर ध्यान नहीं देता और देश की उज्जवल संस्कृति के विनाश को चुपचाप बर्दाश्त कर रहा है। देश के नौनिहाल बालकों के भविष्य की भी उसे चिन्ता नहीं है जिन पर देश और समाज का भार आने वाला है।

बहुत-सी कहानियां, उपन्यास, नाटक आदि भी ऐसे अश्लील होते हैं जो पाठकों की रुचि को विकृत करते हैं और कामवासना की वृद्धि करते हैं। इन सब चीजों से विवेकशील पुरुषों को बचना चाहिये। घर में गंदी पुस्तकों का प्रवेश नहीं होने देना चाहिये। जब तक बालक का संरक्षक किसी चित्रपट को स्वयं न देख ले और संस्कार वर्धक या शिक्षाप्रद न जान ले तब तक बालकों को उसे देखने की अनुमति नहीं देना चाहिये।

एक घटना प्रकाश में आई है। ग्यारह वर्ष के दो बालक चोरी करने निकलते हैं। उनमें से एक चोरी करने निकलता है और दूसरा द्वार पर रिवाल्वर लेकर खड़ा रहता है सोचिए यह सब किसका प्रभाव है ? वास्तव में यह सिनेमा का ही कुप्रभाव है। ऐसी सैकड़ों घटनायें होती हैं और सिनेमाओं की बदौलत अनगिनती बुराइयां लोगों में प्रवेश कर रही हैं। सिनेमा व्यवसायियों को भी

सोचना चाहिये कि वे भी समाज के अंग हैं और उसी समाज में उन्हें रहना है जिस समाज को वे तीव्रता के साथ पतन की ओर ले जा रहे हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में अनेकानेक आदर्श और जीवन को उच्च बनानेवाले आख्यान विद्यमान हैं। उन्हें सुयोग्य रूप से न दिखलाकर गंदे चरित्रों का प्रदर्शन करना किसी भी दृष्टि से सराहनीय नहीं कहा जा सकता।

जो लोग नैतिक आदर्शों में विश्वास रखते हैं, जो संस्कृति के प्रेमी और धर्मानुरागी हैं उनका कर्तव्य है कि वे इस विषय में समाज को शिक्षित और सावधान करें। इस बुराई को अधिक समय तक नहीं चलने देना चाहिये।

सद्गृहस्थ ऐसे पापप्रचारक कार्यों को नहीं अपनाएगा। धन की प्राप्ति हो तो भी वह पापकृत्यों से दूर रहेगा। लोभ का संवरण किये बिना व्रतो की निर्मलता नहीं रह सकतीं।

बोलने और लिखने वाले पर बड़ा उत्तरदायित्व रहता है। यदि वह कन्दर्प कथा में लिप्त हो तो हजारों-लाखों को बिगाड़ देगा। जो कन्दर्प कथा लिखता है, कहता है या पढ़कर सुनाता है वह दूसरों के चित पर हिंसा, झूंठ, आरंभ, और कुशील का रंग चढ़ाता है। वह अनर्थ दण्ड का भागी होता है। बोलने वाला जितना अहित करता है, उससे अधिक अहित लिखने वाला करता है। अतः बोल कर या लिख कर धर्म का लाभ देना ही हितकर है। कहा है :-

बूट डासन ने बनाया, हमने एक मजमूं लिखा।
मुल्क में मजमूं न फैला, और जूता चल पड़ा॥

किसी देश का राजदूत या राजनायक कोई गलत बात कह जाय तो सारे देश में आग लग जाती है। आग लगाने और अमृत बरसाने की शक्ति वाणी में है। अगर वाणी अमृत के बदले हलाहल उगलने लगती है तो समाज, देश और विश्व का घोर अहित हो जाता है। भगवान् महावीर कहते हैं। हे साधक ! अपनी वाणी का सदुपयोग करना है तो कर मगर अनर्थ-वाणी का उपयोग तो न कर। यह न भूल कि वाणी और उसमें भी सार्थक वाणी की

शक्ति महान् पुण्य के योग से प्राप्त होती है। पुण्य के प्रताप से प्राप्त शक्ति का पाप के उपार्जन में प्रयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

वाणी को पाप के मार्ग में लगाया गया तो इससे पेट भी नही भरा और कुछ लाभ भी नहीं हुआ, मगर पाप का बन्ध तो हो ही गया।

अज्ञानी वाणी का व्यभिचार करता है और ज्ञानी उसका ठीक उपयोग करता है।

स्व और पर में ज्योति जगाने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। महर्षियों ने श्रुत का संकलन अतीव परिश्रम से किया और इस महान् कार्य के लिए अपने आराम को भी हराम समझा था। यह श्रुत संरक्षण का कार्य महावीर स्वामी के निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद आर्य संभूतिविजय के समय में हुआ। गंगा की धारा के समान श्रुत की धारा कभी बंद नहीं हुई। हे साधको! जिस प्रकार आकाश में सूर्य और चन्द्र शाश्वत हैं, उसी प्रकार श्रुत भी सदैव रहेगा परन्तु उसका प्रचार और प्रसार होगा किसके बल पर ? पुरुषार्थ के बल पर ही।

संघ ने निर्णय किया-यदि भद्रबाहु वहीं रह कर आगम सेवा का लाभ दें तो कोई आपत्ति नहीं। इससे दोनो प्रयोजनों की पूर्ति हो सकेगी। उनका महाप्राण ध्यान भी सम्पन्न हो जाएगा और श्रुत की वाचना भी हो जाएगी।

भद्रबाहु ने आगम की सात वाचनाएं देने का वचन दिया। अतः संघ ने अपने श्रमण वर्ग में से जो विशिष्ठ जिज्ञासु थे, ज्ञान ग्रहण करने की जिनकी भावना तीव्र थी, उन्हें आह्वान किया। पूछा गया कि कौन भद्रबाहु स्वामी के पास जाना चाहता है ? श्रुतसेवी सन्तों में स्थूलभद्र का पहला नम्बर आया।

स्थूलभद्र का नाम सुनकर आचार्य संभूतिविजय बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि वे भद्रबाहु के ज्ञान समुद्र में से अवश्य ही बहुमूल्य रत्न प्राप्त कर सकेंगे। कई अन्य मुनियों को भी उनके साथ भेजने का निश्चय किया गया।

जिज्ञासु मुनि बड़े साहस और उमंग के साथ आचार्य भद्रबाहु के चरणों में जा पहुँचे। उन्होंने वहां पहुँच कर निवेदन किया भगवन्! हम आपकी उपसम्पदा ग्रहण कर रहे हैं। हमें अपने चरणों में स्थान दीजिए। अब हम आपके नियंत्रण और निर्देशन में रहेंगे।

भद्रबाहु जैसे असाधारण गुरू को पाकर स्थूलभद्र ने अपने को कृतार्थ माना। उन्होंने सोचा मैं धन्य हूँ कि मुझे इस युग के सर्वश्रेष्ठ जिनागमवेत्ता, सिद्धान्त के पारगामी महामुनि से ज्ञानलाभ करने का सुयोग मिला है। उधर भद्रबाहु स्वामी भी सुपात्र शिष्य पाकर प्रसन्न थे।

पूर्वकाल में ज्ञान देने के लिए पात्र-अपात्र का बहुत ध्यान रक्खा जाता था। अपात्र को विद्या देना उसके लिए और दूसरों के लिए भी हानिकारक समझा जाता था। सुपात्र न मिलने के कारण कई विद्याएँ न दी गईं और वे नामशेष हो गईं। वे विद्याएँ विद्यावानों के साथ ही चली गईं पर अपात्र को नहीं दी गईं।

महामुनि भद्रबाहु ने ज्ञानार्थी मुनियों को सूचित किया-दिन और रात्रि में सात वाचनाएं दे सकूंगा-दो प्रातःकाल, दो मध्याह्न में और तीन रात्रि में।

सोचने की बात है कि इतना समय श्रुतपाठन के लिए देने और साथ ही महाप्राण ध्यान की प्रक्रिया को चालू रखने पर उन्हें विश्रान्ति के लिए कितना समय बचा होगा? मगर उन्हें अमर दीप जगाना था। श्रुत की जो अविच्छिन्न धारा उन तक पहुँची थी उसे आगे बढ़ाना था। वे भलीभांति समझते थे कि मेरे ऊपर गुरू का जो महान् ऋण है उसे चुकाने का एक मात्र उपाय यही है कि उनसे प्राप्त किया हुआ अनमोल ज्ञान किसी सुपात्र शिष्य को दिया जाय। इस प्रकार की उच्च एवं उदार विचारधारा की बदौलत ही श्रुत की परम्परा बराबर चालू रह सकी।

आचार्य भद्रबाहु ने अपने विश्राम आदि की चिन्ता न करते हुए ज्ञान-आलोक के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। आज हमें जिनेन्द्रदेव की

वाणी पढ़ने और सुनने को मिल रही है, इसका श्रेय अतीत के उन महर्षियों को ही है जिन्होंने अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों में, अनेक प्रकार के संकटों का सामना किया और श्रुत की परम्परा को बनाए रक्खा। हमें उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

उस काल की तुलना में आज श्रुत के पठन-पाठन में बहुत सहूलियत हो गई है। ऐसी स्थिति में हमें चाहिए कि वीतराग भगवान की वाणी का गहराई के साथ अध्ययन-मनन करें और उसके पठन-पाठन में योग्यता के अनुसार अपना योग प्रदान करें। स्वाध्याय के द्वारा श्रुत का संरक्षण व प्रसारण करना हम सबका कर्तव्य है। ऐसा करने से इस लोक और परलोक में परम कल्याण होगा।

कल कहा गया था कि साधना के मार्ग पर चलने वाला सावधान साधक दो बातें सदा ध्यान में रखे—उपादेय क्या है और (२) हेय क्या है ? इन दोनों बातों का वह ध्यान ही नहीं रखता बल्कि उपादेय को अपने जीवन में यथाशक्ति अपनाता और हेय का परित्याग करता है। अगर ग्रहण करने योग्य को ग्रहण न किया जाय और छोड़ने योग्य को छोड़ा न जाय तो उन्हें जानने से क्या लाभ है ? रोग से मुक्त होने के लिए औषध को और अपथ्य को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है वरन् औषध का सेवन करना और अपथ्य को त्यागना भी आवश्यक है। प्रत्येक सिद्धि को प्राप्त करने के लिए, चाहे वह लौकिक हो अथवा लोकोत्तर, ज्ञान के साथ क्रिया की भी अनिवार्य आवश्यकता होती है। क्रियाहीन ज्ञान और ज्ञान हीन क्रिया से कभी कोई सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

किन्तु ग्राह्य क्या है और त्याज्य क्या है, इसका निर्णय अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिए। बहुत बार लोग धोखा खाते हैं बल्कि सत्य तो यह है कि संसारी जन प्रायः भ्रम में पड़े हुए हैं। वे हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझ कर प्रवृत्ति कर रहे हैं और इसी कारण सुख को प्राप्त करने और दुःखों से छुटकारा पाने की तीव्र अभिलाषा और घोर प्रयत्न करने

पर भी उनका मनोरथ सफल नहीं हो पाता। जीव अनादि काल से संसार में विविध प्रकार की आधि-व्याधि और उपाधियों का शिकार हो रहा है। वह इनसे बचने के लिए जो उपाय करता है, विवेक के अभाव में वे उलटे दुःखप्रद सिद्ध होते हैं। वह बाह्य पदार्थों के संग्रह में सुख देखता है और उनकी ही प्राप्ति में समस्त पुरुषार्थ लगा देता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि पर पदार्थों का संयोग सुख का नहीं, दुःख का ही कारण होता है। अतएव बाह्य पदार्थों की ओर से जितनी जितनी निवृत्ति साधी जाएगी, उतनी ही उतनी शान्ति एवं निराकुलता प्राप्त हो सकेगी।

गृहस्थ आनन्द ने प्रभु के चरणों में बैठकर हेय और उपादेय की वास्तविक जानकारी प्राप्त की। यदि किसी साधारण छद्मस्थ से उन्हें जानता तो उसमें कमी रह सकती थी। भ्रम या विपर्यास भी हो सकता था। किन्तु भगवान् महावीर से हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त करने में कमी या विपर्यास होने की गुंजाइश नहीं थी।

विक्षेप के सभी कारण छोड़ने योग्य होते हैं। अच्छा कपड़ा पहनने पर भी उस में मल लग जाता है। समझदार व्यक्ति मल को उपादेय नहीं मानता, अतएव उसे हटा देता है। इसी प्रकार व्रत मानों स्वच्छ चादर है। साधक यही प्रयत्न करता है कि व्रत रूपी चादर में मल न लगने पाए। फिर भी विवशता, चंचलता या प्रमाद के कारण मल (अतिचार) लग जाय तो उसे साफ कर लेना चाहिए अर्थात् आलोचना आदि कर के अतिचार का शोधन कर लेना चाहिए।

इसके लिये व्रत के अतिचारों को जानना आवश्यक है। जो मल के स्वरूप को ही नहीं समझेगा वह उसे कैसे साफ करेगा? अनर्थदण्डविरमण व्रत के अतिचारों में से पहले अतिचार का स्वरूप समझाया जा चुका है। आगे के अतिचारों पर प्रकाश डालना है। उनमें से दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है।

(२) कौत्कुच्य—कुछ व्यक्तियों में विदूषकपन की वृत्ति देखी जाती है। वे शरीर के अंगों से ऐसी चेष्टा करते हैं जिससे दूसरे को हंसी आ जाय।

यह भांडवृत्ति है। इन विदूषकों के क्रिया कलाप को देख कर लोग प्रसन्न होते हैं और कुतूहलवश जमा हो जाते हैं। भांडचेष्टा करने वाला अपनी इन चेष्टाओं द्वारा अर्थ का उपार्जन करता है। किन्तु साधक को ऐसी चेष्टाएं नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से कामराग, हिंसा, असत्य आदि दोषों को प्रोत्साहन मिलता है। अतएव साधक शरीर की कुचेष्टा से अथवा वाणी के द्वारा अनर्थदण्ड न करे।

(३) मोहरिए (मौखर्य)—आवश्यकता से अधिक बोलना, वृथा बकवाद करना, सदैव बड़बड़ाते रहना मौखर्य कहलाता है।

वाणी मुख की शोभा है। वाणी से मनुष्य की सज्जनता एवं दुर्जनता का अनुमान होता है। उसके हृदयगत भाव वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। अतएव वाणी को मनुष्य के व्यक्तित्व की कसौटी कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, कभी कभी उसकी बदौलत घोर अनर्थ भी होते देखे जाते हैं। संभल कर वाणी का प्रयोग न करने से लड़ाई-झगड़े तक हो जाते हैं। एक गलत शब्द के प्रयोग से बना-बनाया काम बिगड़ जाता है और एक सुविचारित वाक्य से बिगड़ा काम बन सकता है। विचारपूर्वक न बोलने से मनुष्य अपने शत्रु बना लेता है। इसीलिए कहा जाता है कि पहले तोलो, फिर बोलो। चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, वाणी का उपयोग अगर सोच-विचार कर न करे तो परिणाम अनिष्ट कर निकलता है। कहते हैं—द्रौपदी के एक अविचारित एवं आक्षेपजनक वचन की बदौलत महाभारत जैसा भीषण युद्ध हुआ जिसमें लाखों मनुष्य मारे गए और भारतवर्ष की इतनी शक्ति विनिष्ट हुई कि उसकी कमर ही टूट गई।

आग पर हाथ रक्खा गया तो चाहे पण्डित हो या मूर्ख, दोनों का ही हाथ जलेगा। आग पण्डित और मूर्ख का भेद नहीं जानती। उसके स्पर्श का फल सभी को समान रूप से भोगना पड़ता है। इसी प्रकार कुवाणी के प्रयोग का फल सभी के लिए घातक सिद्ध होता है। कुवचन बोलना पाप है और पाप आग की तरह जलाने वाला है। कदाचित् नासमझ बालक आग से हाथ

जलाले तो उतना बुरा नहीं समझा जाएगा परन्तु समझदार ऐसा करेगा तो अधिक उपहास तथा आलोचना का पात्र बनेगा।

वाणी आन्तरिक चेतना की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन ही नहीं, अनेकानेक व्यवहारों का माध्यम भी है। सफल वक्ता हजारों लाखों विरोधियों को अपने वाणी के जादू से प्रभावित करके अनुकूल बना लेता है।

एक तरुण व्यक्ति किसी गांव में एक किसान के घर गया। किसान के साथ उसका लेन-देन का व्यवहार था। वह खाने के लिए थोड़े से धान के दाने ले गया। किसी गांव में घुघरी बना कर खा लेंगे, यह सोच कर वह चल दिया। रास्ते में उसे खेड़ा मिला। वहां एक बुढ़िया ने उसे राम-राम किया। उस तरुण ने कहा—भूख बहुत लगी है, रोटी बनाने की सुविधा नहीं है। धान के दाने मेरे पास है, क्या घुघरी बना दोगी ?

बुढ़िया घुघरी बना देने को राजी हो गई। उसने एक हंडी में दाने डाल दिये और आगत तरुण से कहा—कुछ देर बैठे रहना या निपटना हो तो निपट आओ। मैं अभी आती हूं।

तरुण ने एक बढ़िया भैंस की ओर संकेत करके प्रश्न किया कि यह भैंस किस की है ?

उत्तर मिला—'अपनी ही है,'
'बाहर क्यों नहीं निकालतीं ?'
'नजर न लग जाय, इसलिये।'

इसके बाद उस असंयत वाणी वाले तरुण ने बिना सोचे-समझे प्रश्न किया—'यदि भैंस मर जाय तो इतनी छोटी संकीर्ण बाड़ी में से कैसे बाहर निकालोगी ?

बुढ़िया को रोष आया, मगर उस तरुण को घर आया तथा नासमझ समझ कर क्षमा कर दिया।

तरुण घर में ही बैठा रहा। बुढ़िया तबतक अपनी बहू के साथ पानी लेकर आई। दूसरी कौन है, यह पूछने पर बुढ़िया ने बतलाया—'यह बहू है।' तरुण ने कहा—'बहू अच्छी है और चुनरी भी अच्छी है, मगर तुम्हारा पुत्र कहां है ? बुढ़िया बोली-'शाम को घर आता है।'

तरुण ने फिर मूर्खता का परिचय देते हुए कहा-यदि पुत्र की गमी का समाचार आ जाय तो ?

यह अमंगल वाणी सुनकर बुढ़िया के क्रोध की सीमा न रही। वह पानी का घड़ा उसके ऊपर पटकने को तैयार हो गई किन्तु अभ्यागत समझ कर रुक गई। कपड़े में घुघरी देकर उसे घर से भगा दिया।

रास्ते में घुघरी का पानी टपकते देख किसी ने पूछा-यह क्या झर रहा है ?

उसने उत्तर में कहा—जिभ्या का रस झरे, बोल्या विना नहीं सरे।'

इस दृष्टान्त से हमें सीख लेनी चाहिए कि—वाणी मित्र बनाने वाली होनी चाहिए, मित्र को शत्रु बनाने वाली नहीं।

ऊपरी दृष्टि से ऐसा प्रतीत होगा कि ऐसा बोलने में झूठ का पाप नहीं लगता मगर गहरा विचार करने से पता चलेगा कि बिना विचारे बोली गई वाणी असुहावनी तथा बेसुरी लगती है। विनयचंदजी ने कहा है—

'बिना विचारे बोले बोल
ते नर जानो फूटा ढोल।'

जो मनुष्य बिना बिचारे बोलता है उसका बोलना फूटे ढोल की आवाज के समान है। उसकी कोई कीमत नहीं। अच्छी वाणी वह है जो प्रेममय मधुर और प्रेरणाप्रद होती है।

वचनों के द्वारा ही मनुष्य के आन्तरिक रूप का साक्षात्कार होता है। मनुष्य जब तक बोलता नहीं तब तक उसके गुण-दोष प्रकट नहीं होते, मगर

उसके मुख से निकलने वाले थोड़े-से बोल ही उसकी वास्तविकता को प्रकट कर देते हैं। वाणी मनुष्य के मनुष्यत्व की कसौटी है। कहा गया है—

ना नर गज़ा तें तोलिए, ना नर लीजिए तोल,
परशुराम नर नार का, बोल बोल में बोल।

वचन के द्वारा ही समझ लिया जाता है कि मनुष्य कैसा है? इसके संस्कार और कुल कैसे हैं?

एक ठाकुर साहब की सवारी किसी गांव में होकर निकली। एक सूरदास अपने चबूतरे पर बैठा था। ठाकुर साहब ने कहा – महाराज सूरदासजी, राम-राम।

सूरदास--राजा महाराजा, राम-राम

दूसरे कामदार पीछे-पीछे निकले। उनके अभिवादन में सूरदास ने कहा--कामदार, राम-राम।

उनके बाद दरोगा निकले तो सूरदास बोले--दरोगा, राम-राम। अन्त में नौकर आये। उन्होंने सूरदास का अभिवादन किया–अन्धे, राम-राम। सूरदास ने उत्तर में कहा–गोला, राम-राम।

सूरदास देख नहीं सकता था कि पथिकों में कौन ठाकुर और कौन चाकर है, फिर भी वह उनके अभिवादन करने वाले वचनों को सुनकर ही समझ गया कि इनमें कौन-क्या है?

वास्तव में सभ्य, कुलीन और समझदार व्यक्ति शिष्टतापूर्ण भाषा का प्रयोग करता है जब कि ओछा आदमी ओछी जबान का उपयोग करता है।

जो पुरुष व्रतों को अंगीकार करता है, वह अपनी वाणी का दुरुपयोग न करके सदुपयोग ही करता है। व्रती की नीति यह नहीं होती कि पहले गंदगी को बढ़ने दे और फिर उसकी सफाई करे। वह गंदगी से पहले से ही दूर रहता है। नीतिकार ने कहा है—

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।

पहले कीचड़ लगाकर फिर उसे धोने की अपेक्षा कीचड़ से दूर रहना और उसे न लगने देना ही उत्तम है।

भारत की संस्कृति आत्मप्रधान हैं। उसकी सम्पूर्ण दार्शनिक विचार-धारा और आचार नीति आत्मा को ही केन्द्र बिन्दु मानकर चली है। पाश्चात्य देशों के आचार-विचार में यह बात नहीं है। उनकी दृष्टि सदा बहिर्मुख रहती है। भारतीय जन के मानस में आत्मा सम्बन्धी विचार रहता ही हैं, इस कारण वे उपासना, संध्या आदि के रूप में अन्तः शुद्धि की ओर कदम बढ़ाते हैं। पश्चिम वाले घर एवं फर्नीचर की हालत ऐसी रखते हैं जैसे कल ही दिवाली मनाई गई हो। दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर हमें सीख लेनी है और सोचना हैं कि मनुष्य के लिए शाश्वत सुख और शान्ति का मार्ग क्या है ?

मनुष्य को स्वभावतः एक अनमोल रत्न प्राप्त है जो चिन्तामणि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अगर उसका सही उपयोग किया जाय तो कहीं और कभी भी ठोकर खाने की संभावना नहीं रहती। वह अनमोल रत्न है विवेक ! यदि विवेक से काम लिया जाय तो पाप के भार से भारी नहीं बनना पड़ेगा। यही नहीं, विवेक के प्रकाश में इहलोक सम्बन्धी जीवन यात्रा भी सानन्द और सकुशल सम्पन्न होती है। अतएव मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सदैव विवेक की दिव्य ज्योति को जगमगाता रहे, उसे बढ़ाता रहे और उसी के प्रकाश में चले। विवेक सुख और शांति की एक मात्र कुंजी है। यही मानव की विशेषता है। विविध प्रकार की जीवसृष्टि में मनुष्य को जो सर्वोच्च पद प्राप्त है उसका एक मात्र प्रधान कारण विवेक है। विवेक ही मानव की शोभा है।

आज भारत अपनी मूल दृष्टि और संस्कृति से विचलित होता जा रहा है। वह ज्ञानोपासना की अपेक्षा लक्ष्मी पूजा को अधिक महत्व प्रदान करने लगा है। समाज में लक्ष्मी को इतना अधिक महत्व प्राप्त हो गया है कि ज्ञान,

शील, सदाचार आदि सभी सद्गुण उसके समक्ष फीके पड़ गए हैं। लक्ष्मी को उचित से अधिक समादर लोगों ने दे दिया है, उससे व्यक्ति यह सोचता है कि लक्ष्मी न होगी तो हमें कोई महत्व नहीं मिलेगा। इस प्रकार की विचारधारा से ज्ञान का स्थान गौण हो गया है।

लक्ष्मी दो प्रकार की होती है—आन्तरिक और वाह्य। आन्तरिक लक्ष्मी आत्मिक सम्पत्ति है और वाह्य लक्ष्मी भौतिक होती है। सच्ची और सदा साथ देने वाली लक्ष्मी आध्यात्मिक विभूति ही हो सकती है। मगर आज की जनता उसे भूलकर वाह्य लक्ष्मी की पूजा में ही अपना कल्याण समझ रही है। इस प्रकार एकान्त वहिरंग दृष्टि के कारण अनेक अवांछनीय परिस्थितियां खड़ी हो गई हैं।

वहिर्दृष्टि के कारण कभी-कभी उत्सव व मंगल के वदले अमंगल का कारण वन जाता है। उत्सव के जोश में आकर लाखों जीवों की हत्या करना मंगल में दंगल करना है—अमंगल को आमंत्रण देने के समान है। हिंसाकारी साधनों को अपनाने से मंगल अमंगल वन जाता है। फटाके आदि जलाने से लोग जल मरते हैं, मकानों और दुकानों में आग लग जाती है। कहीं-कहीं तो इतनी उद्यम प्रवृत्तियां वढ़ जाती हैं कि उन्हें दवाने के लिए पुलिस का प्रवन्ध करना पड़ता है। पर्व के पीछे रही हुई भावना को जो भूल जाते हैं वे मानों आत्मा को भूलकर शरीर की पूजा करते हैं। इस अज्ञान एवं भ्रान्त धारणा के कारण व्यक्तिगत तथा सामाजिक हानियां होती हैं।

पढ़ना, पढ़ाना, सत्साहित्य का निर्माण करना, संवर्द्धन करना और प्रचार करना आदि ज्ञान की पूजा है। यह आन्तरिक लक्ष्मी की पूजा है। मुख की लक्ष्मी विवेकपूर्ण वोलना है, सुपात्र एवं सुशीला नारी गृह की लक्ष्मी है, ज्ञान आत्मा की लक्ष्मी है। दान धन की लक्ष्मी है।

वास्तव में ज्ञान को आन्तरिक लक्ष्मी का जो स्वरूप प्रदान किया गया है, उसमें तथ्य है। कहना चाहिए कि वह सच्ची लक्ष्मी है। रुपया, पैसा, नोट, धन रूप वाह्य लक्ष्मी कभी अलक्ष्मी का रूप धारण कर लेती है। वह

घोर अमंगल का कारण बन जाती है। आये दिन समाचार पत्रों में ऐसे समाचार छपते रहते हैं कि रुपया–पैसा के लिए अमुक की हत्या कर दी गई ! यों भी बाह्य लक्ष्मी सदा चिन्ता और आकुलता ही उत्पन्न करती है। इसके विपरीत ज्ञान रूपी लक्ष्मी से कभी अमंगल होने की संभावना नहीं रहती। वही इस लोक में तथा परलोक में एकान्त मंगल ही उत्पन्न करती है।

आचार्य भद्रबाहु ने ज्ञान की ज्योति को जागृत रखने के लिए श्रुत की सात वाचनाएं देने का वचन दिया। स्थूलभद्र के नेतृत्व में साधुगण सच्ची लक्ष्मी पूजा के हेतु नेपाल की तराई में भद्रबाहु के पास पहुंचे।

भद्रबाहु ने, जैसा कि कहा जा चुका है, सात वाचनाएं देने के लिए समय निकाला, परन्तु अभ्यास हेतु गये मुनियों को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें ऐसा लगा कि हमारा बहुत समय व्यर्थ जा रहा है। कुछ दिन यों ही असन्तोष में व्यतीत हो गए। तत्पश्चात् उन अभ्यासार्थी मुनियों ने वापिस अपने गुरु की सेवा में जाने का निश्चय किया। भद्रबाहु स्वामी के सामने अपनी इच्छा प्रकट भी कर दी। स्वामीजी ने जाने की अनुमति दे दी। वे वापिस चले गए। किन्तु स्थूलभद्र उनमें एक विशिष्ठ जिज्ञासु और आराधक थे, वे भद्रबाहु स्वामी की ही सेवा में रहे।

अभ्यास करने वालों में प्रायः अधीरता देखी जाती है। वे चाहते हैं कि थोड़े ही दिनों में जैसे तैसे ग्रन्थों को पढ़ना समाप्त कर दें और विद्वान् बन जाएं। मगर उनकी अधीरता हानिजनक होती है। ज्ञान 'प्राप्ति के लिए समुचित समय और श्रम देना आवश्यक है। गुरु से जो सीखा जाता है, उसे सुनते जाना ही प्रर्याप्त नहीं है। किसी शास्त्र को आदि से अन्त तक एकबार पढ़ लेना अलग बात है और उसे पचा लेना दूसरी बात है। शिक्षार्थी के लिए आवश्यक है कि वह शिक्षक से जो सीखे उसे हृदय में बद्धमूल करले और इस प्रकार आत्मज्ञात करे कि उसकी धारणा बनी रहे। उस पर बार-बार विचार करे, चिन्तन करे। शब्दार्थ एवं भावार्थ को अच्छी तरह याद करे। ऐसी तैयारी करे कि समय आने पर दूसरों को सिखा भी सके। चिन्तन-मनन के

साथ पढ़े गए अल्पसंख्यक ग्रन्थ भी बहुसंख्यक ग्रंथों के पढ़ने का प्रयोजन पूरा कर देते हैं। इसके विपरीत, शिक्षक बोलता गया शिष्य सुनता गया और इस प्रकार बहुसंख्यक ग्रन्थ पढ़ लिए गए तो भी उनसे अभ्यास का प्रयोजन पूर्ण नहीं होता। इस प्रकार पढ़ने वाला दीर्घ काल में भी विद्वान् नहीं बन पाता।

कई साधु-सन्त यह सोचते हैं कि इस समय पढ़ाने वाले का सुयोग मिला है तो अधिक से अधिक समय लेकर अधिक से अधिक ग्रन्थ वाँच कर समाप्त कर दें। बाद में उन पर चिन्तन करेंगे, उनका अभ्यास कर लेंगे और पक्का कर लेंगे। किन्तु इस प्रकार की वृत्ति से अधिक लाभ नहीं होता। जल्दी-जल्दी में जो सीखा जाता है वह धारणा के अभाव में विस्मृति के अंधकार में विलीन हो जाता है और जो समय उसके लिए लगाया गया था वह वृथा चला जाता है। अतएव सुविधा के अनुसार जो भी अध्ययन किया जाय वह ठोस होना चाहिए। जितना-जितना पचता जाय उतना ही उतना नवीन सीखना चाहिए। ऐसा करने से अधिक लाभ होता है। विद्वानों में यह कहावत प्रचलित है कि थोड़ा-थोड़ा सीखने वाला थोड़े दिनों में और बहुत-बहुत सीखने वाला बहुत दिनों में विद्वान् बनता है। इस कहावत में बहुत कुछ तथ्य है। जैसे एक दिन में कई दिनों का भोजन कर लेने का प्रयत्न करने वाले को लाभ के बदले हानि उठानी पड़ती है, उसी प्रकार बहुत–बहुत पढ़ लेने किन्तु पर्याप्त चिन्तन-मनन न करने से और कण्ठस्थ करने योग्य को कण्ठस्थ न करने से लाभ नहीं होता। अतः ज्ञानाभ्यास में अनुचित उतावल नहीं करना चाहिए।

मुनि स्थूलभद्र ने अधैर्य को अपने निकट न फटकने दिया। वे स्थिर चित्त से वहीं जमें रहे और अभ्यास करते रहे। उन्होंने विचार किया— गुरुजी के आदेश से जिज्ञासु होकर मैं यहां आया हूं, अतएव वाचना देने वाले की सुविधा को अनुसार ही मुझे ज्ञान ग्रहण करना चाहिए।

सुपात्र समझकर भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को अच्छी शिक्षा दी। शेष साधु संभूति विजय के पास चले गए। उनके चले जाने पर भी स्थूलभद्र निराश या उदास नहीं हुए। सच्चे जिज्ञासु होने के कारण उन्होंने कष्टों की परवाह

नहीं की। उचित आहार आदि प्राप्त न होने पर भी उन्होंने अपना अध्ययन चालू रक्खा। सात वाचनाएं जारी रही।

चौदह पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवली केवली के समकक्ष माने जाते हैं। स्थूलभद्र को ऐसे महान् गुरु प्राप्त हुए। उन्होंने अपना अहोभाग्य माना और ज्ञान के अभ्यास में अपना मन लगाया। यदि इस लोक और परलोक को सुखमय बनाना है तो आप भी ज्ञान का दीपक जगाइए। हमें उन महान् तपस्वियों से यही सीख ग्रहण करना चाहिए जिन्होंने श्रुत की रक्षा करने में अपना बहुमूल्य जीवन लगाया है।

जो महापुरुष आत्मोत्थान के सोपानों को पार करते-करते पूर्ण सुख और शान्ति की मंजिल तक जा पहुंचे, उन्होंने संसार के दुःख पीडित प्राणियों के उद्धार के लिए, अनन्त करुणा से प्रेरित हो कर स्वानुभूत एवं आचीर्ण मार्ग का अपनी वाणी द्वारा प्रकाश किया। उनकी वही वाणी कालान्तर में लिपिबद्ध हुई और श्रुत या आगम के नाम से आज भी हमारे समक्ष है। इस प्रकार श्रुत का महत्व इस बात में है कि उसमें प्रतिपादित तथ्य साधना में सफलता प्राप्त करने वाले महान् ऋषियों के आचीर्ण प्रयोग हैं, अनुभव के सार हैं तथा गम्भीर एवं दीर्घ कालीन चिन्तन के परिणाम हैं।

वीतराग पुरुषों ने यह समझकर कि संसार के जीवों को शान्ति प्रदान करने की आवश्यकता है, शास्त्र के द्वारा शान्ति का मार्ग प्रदर्शित किया है। उन्होंने संदेश दिया है कि अशान्ति का कारण दुःख है। हिंसा और अनावश्यक रूप से बढ़ी हुई आवश्यकताएं कम हो जाएं तो दुःख कम हो जाएगा। अतएव उन्होंने हिंसा और परिग्रह से दूर रहने पर जोर दिया है। हिंसा और परिग्रह परस्पर सम्बद्ध हैं। जहां हिंसा होगी वहां परिग्रह और जहां परिग्रह है वहां हिंसा होना अनिवार्य है। दोनों का गठ बन्धन है।

परिग्रह और हिंसा की वृत्ति पर अगर अंकुश न रक्खा गया तो स्वयं को अशान्ति होगी और दूसरों की अशान्ति का भी कारण बनेगी। मगर प्रश्न यह है कि हिंसा और परिग्रह की वृत्ति को रोका कैसे जाए? मानव का

मस्तिष्क और हृदय बहुत दुर्बल है। वह गलत या सही, जहां भी क्षणिक सुख-सुविधा देखता है, उसी ओर झुक जाता है। चाहे परिणाम कुछ भी हो, इस क्षणिक सुख की बदौलत चाहे कितना ही दुःख भविष्य में भोगना पड़े, मगर मनुष्य एकवार उस ओर प्रवृत हुए बिना नहीं रहता। ऐसी स्थिति में कौन-सा उपाय अपनाया जाय जिससे मनुष्य का निरंकुश मन अंकुश में आए? इस प्रश्न के समाधान के लिए भगवान् वीतराग ने व्रतविधि की योजना की है। व्रतों के द्वारा मन को मजबूत करके पाप को सीमित करने का मार्ग प्रस्तुत किया गया है। मनुष्य जब व्रत अंगीकार करता है तो उसका जीवन नियंत्रित हो जाता है। व्रत अभाव में जीवन का कोई सदुद्देश्य नहीं रहता। जब व्रत अंगीकार कर लिया जाता है तो एक निश्चित लक्ष्य बन जाता है। व्रती पुरुष कुटुम्ब, समाज तथा देश में भी शान्ति का आदर्श उपस्थित कर सकता है और स्वयं भी अपूर्व शान्ति का उपभोक्ता बन जाता है। व्रती का जीवन दूसरों को पीड़ा प्रदायक नहीं होता, किसी को उत्ताप नहीं देता। वह धर्म, न्याय, शान्ति, सहानुभूति, करुणा और संवेदना जैसी दिव्य भावनाओं का प्रतीक बन जाता है। अतएव जीवन में व्रतविधान की अत्यन्त आवश्यकता है।

महर्षियों ने शान्ति और कल्याण का जो उपदेश दिया है वह पात्र के पास पहुँचकर सफल बनता है। उपजाऊ जमींन पाने से बीज की कीमत होती है। सड़क जैसे स्थल में डाला हुआ बीज फलवान् नहीं होता। इसी प्रकार अपात्र को दिया गया उपदेश भी निष्फल जाता है।

आनन्द महावीर स्वामी के चरणों में योग्य पात्र बनकर आया। उसके हृदय रूपी उर्वर प्रदेश में भगवान् ने जो उपदेश बीज बोया वह अंकुरित हुआ फलित हुआ। इससे उसके जीवन को अपूर्व प्रकाश मिला। उसने अद्भुत शान्ति का अनुभव किया। वह दूसरों के समक्ष भी मार्ग प्रस्तुत करने लगा। वह स्वयं ज्ञान को ग्रहण करके दूसरों के लिए दीपक बनता है।

मगर व्रती जीवन की पवित्रता इस बात में है कि जिस भावना एवं संकल्प शक्ति से व्रत को स्वीकार किया गया है, उसे सदैव जागृत रक्खा जाय,

उसमें कमजोरी न आने दी जाय। अकसर ऐसा होता है कि किसी प्रसंग पर मनुष्य की भावना ऊपर उठती है और वह मंगलमय मार्ग पर प्रयाण करने को उद्यत हो जाता है किन्तु थोड़े समय के पश्चात् उसका जोश ठंडा पड़ जाता है और स्वीकृत व्रत में आस्था मन्द हो जाने पर वह ,गली-कूचा खोजने लगता है। यह गली-कूचा खोजना या व्रत की मर्यादा को भंग करने का मार्ग निकालना ही अतिचार कहलाता है। अतिचार के सेवन से व्रत का वास्तविक उद्देश्य नष्ट हो जाता है। उससे आत्मा को प्राप्त होने वाली शान्ति प्राप्त नहीं होती। अतएव गृहस्थ के सभी व्रतों के साथ पांच-पांच अतिचारों का वर्णन किया गया है, जिससे व्रती पुरुष उनसे भली भांति परिचित रहे और बचता भी रहे।

इसी दृष्टिकोण से यहां व्रतों के विवेचन के साथ उनके अतिचारों का भी निरूपण किया जा रहा है। अनर्थदण्ड के अतिचारों में कन्दर्पकथा, कौत्कुच्य और मौखर्य के विषय में कहा जा चुका है। उनकी संक्षेप में व्याख्या भी की जा चुकी है। यहां चौथे अतिचार पर विचार करना है।

(४) **संयुक्ताधिकरणता:**—उपकरण और अधिकरण में शाब्दिक दृष्टि से बहुत अन्तर न होते हुए भी दोनों के अर्थ में महान् अन्तर है। धर्म का साधन उपकरण कहलाता है जब कि अधिकरण वह है जो पाप का साधन हो। जिसके द्वारा आत्मा दुर्गति का अधिकारी बने वह अधिकरण (अधिक्रियते आत्मा दुर्गतौ येन तदधिकरणम्) ऐसी अधिकरण शब्द की व्युत्पत्ति है।

अधिकरण दो प्रकार के हैं—द्रव्य-अधिकरण और भाव-अधिकरण, तलवार, बंदूक आदि पौद्गलिक शास्त्र, जो हिंसा के साधन हैं, द्रव्याधिकरण कहलाते हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अप्रशस्त भाव भावाधिकरण।

कैंची, चाकू, फावड़ा, कुदाली, कुल्हाड़ी, कटार, तलवार आदि साधन गृहस्थ को किसी वस्तु के छेदन, भेदन आदि प्रयोजनों के लिए रखने पड़ते हैं। किन्तु सद्गृहस्थ उन्हें इस प्रकार रक्खेगा कि सहज ही दूसरा उन्हें काम में न ला सके। वह बंदूक में गोली भर कर नहीं रक्खेगा। अनिवार्य आवश्यकता के समय वह इनका उपयोग करेगा। इनके निर्माण का धंधा भी नहीं करेगा।

इन खतरनाक औजारों को तैयार करके वह खुली जगह में, जहां से वे अनायास ही उठाए जा सकें और उपयोग में लिये जा सकें, नहीं रक्खेगा। ऐसा करना बड़े खतरे का काम है। इससे कई बार अनेक अनेक दुःख जनक दुर्घटनाएं हो जाती हैं। घर के बच्चे खेल के लिए उन्हें उठा सकते हैं और स्वयं उसके शिकार हो सकते हैं। दूसरे बच्चे भी उनके निशाना बन सकते हैं। अड़ौसी-पड़ौसी उन्हें उठा ले जा सकते हैं। ऐसा हो तो निरर्थक ही भीषण अनर्थ हो जाता है।

घर में कोई आक्रमणकारी आजाए, डाकू हमला कर दें या इसी प्रकार की कोई अन्य घटना घटित हो जाय तो उन औजारों का उपयोग करना अर्थ दण्ड है। अर्थदण्ड का त्याग श्रावक की व्रत मर्यादा में नहीं आता। बहू-बेटी की मर्यादा की रक्षा, देश की रक्षा आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर व्रती श्रावक कायरता प्रदर्शित नहीं करेगा। वह अहिंसा की दुहाई देकर अपने कर्त्तव्य से बचने का प्रयत्न भी नही करेगा। वह शस्त्र धारण करेगा और शत्रु का दृढ़पूर्वक सामना करेगा। अनेक श्रावकों ने ऐसा किया है। किन्तु निरर्थक हिंसा से वह पूरी तरह बचता रहेगा। उसके द्वारा ऐसा कोई कार्य न होगा जिससे बेमतलब खून खरावी या हिंसा हो। वह बिना हेतु हिंसक साधनों को सुसज्जित करके खुली जगह में रक्खेगा तो स्वयं को सदा आशंका बनी रहेगी कि कोई उठा न ले। सैनिक भी यदि व्रती है तो वह खुले रूप में, जब वह अनिवार्य रूप से आवश्यक समझेगा, तभी उन शस्त्रास्त्रों का उपयोग करेगा।

तात्पर्य यह है कि अनर्थदण्ड विरमण व्रत का आराधक हिंसा के साधनों को तैयार करके अर्थात् उनके विभिन्न भाग को जोड़ कर नहीं रखता, क्योंकि उससे निरर्थक हिंसा होने की संभावना रहती है। यह हिंसा प्रदान नामक अनर्थदण्ड का अतिचार है।

(५) **उपभोग परिभोगातिरिक्तता**—भोग और उपभोग की वस्तुओं का निरर्थक संग्रह करके रखना भी श्रावक के लिए अतिचार है। बढ़िया साड़ी

ओढ़नी, धोती आदि देखकर आवश्यकता न होने पर भी खरीद लेना या अन्य पदार्थों का बिना प्रयोजन संग्रह करना महावीर स्वामी ने पाप कहा है। शीतकाल में गरम कपड़े चाहिए और ग्रीष्मकाल में पतले, यह तो ठीक है, मगर कई कोई पोशाकें गरम कपड़ों की होने पर भी कहीं कोई नयी डिजाइन दिखाई दी और तबियत मचल गई। उसे खरीद लिया। इस प्रकार गरम कपड़ों से पेटियां भरलीं। मलमल आदि के कपड़ों की पेटियाँ अलग भरी हुई हैं। यह सब अनावश्यक संग्रह है।

मनुष्य के दो ही पैर होते हैं और उनकी सुरक्षा के लिए एक जोड़ा जूता पर्याप्त है। मगर सेठ सहाब और बाबू सहाब प्रतिदिन वही जूता पहनें, प्रातः काल पहना हुआ जूता सायंकाल पहनें तो बड़प्पन कैसे सुरक्षित रहेगा? अतएव पैरों की सुरक्षा के लिए भले एक ही जोड़ा जूता चाहिए मगर बड़प्पन की सुरक्षा के लिए कई जोड़ियां चाहिए!

आज लोगों की ऐसी दृष्टि बन गई है। कपड़ा और जूता उपयोगिता के क्षेत्र से निकल कर शृंगार और बड़प्पन के साधन बन गए हैं। इस दृष्टि विपर्यासी का ही परिणाम है कि लोग बिना आवश्यकता के भोगोपभोग की वस्तुओं का संग्रह करते हैं और दूसरों के समक्ष अपना बड़प्पन दिखलाते हैं। इससे गृहस्थों का जीवन सरल-स्वाभाविक न रहकर एकदम कृत्रिम और आडम्बर पूर्ण हो गया है। जहां देखो वहीं दिखावट है। शान-शौकत के लिए लोग आडम्बर करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें जो है, उससे अन्यथा ही अपने को प्रदर्शित करना चाहता है। अमीर अपनी अमीरी का ठसका दिखलाता है। गरीब उसकी नकल करते हैं और अपने सामर्थ्य से अधिक व्यय करके सिर पर ऋण का भार बढ़ाते हैं। इन अवास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के अनैतिक उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। इस कारण व्यक्ति, व्यक्ति का जीवन दूषित हो गया है और जब व्यक्तियों का जीवन दूषित होता है तो सामाजिक जीवन निर्दोष कैसे हो सकता है?

कपड़ों और जूतों की फसल आने का कोई नियत समय नहीं है। वे

बारहों मास बनते रहते हैं और जब आवश्यकता हो तभी सुलभ हो सकते हैं। फिर भी लोग संदूक भर कर कपड़े संग्रह करते और जूते इतने अधिक कि सजा कर रख दिये जाएं तो मोची की एक खासी दुकान बन जाय; यह भोगोपभोग के साधनों का वृथा संग्रह निरर्थक आरम्भ और परिग्रह का कारण है।

कई बार व्यापारिक दृष्टि से भी वस्तुओं का संग्रह किया जाता है। खाद्यान्नों का संग्रह भी किया जाता है। व्यापारी वर्ग के लिए एक सीमा तक यह संग्रह वृत्ति क्षम्य हो सकती हैं, पर सीमा का उल्लंघन करके किये जाने वाले संग्रह से अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। किसी वर्ग को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह जो भी व्यापार धन्धा करता है, वह समाज एवं देश को हानिकारक नहीं होना चाहिए। आज इस देश में अनाज पर्याप्त नहीं उत्पन्न होता और विदेशों से मंगाकर जनता की आवश्यकता की पूर्ति की जाती है। अतएव ऐसे भी अवसर आते हैं जब अनाज की कमी महसूस होने लगती है। उस समय अनाज के व्यापारी अगर अपने गोदामों को बन्द कर दें, प्रजा के अन्नाभाव जनित संकट से लाभ उठाने का प्रयत्न करें और लोगों को भूखा मरते देख कर भी न पसीजें तो यह महान् अपराध है, क्रूरता है। यह व्यापारिक नीति नहीं। पदार्थ की रमणीकता को देखकर अनावश्यक रूप से उसका संग्रह कर लेना और भोगोपभोग की सीमा को बढ़ाना आरम्भ की वृद्धि करना है, चाहे वह खाद्य पदार्थ हो, वस्त्र हो या औषध आदि हो।

सूती वस्त्रों से क्या काम नहीं चल सकता? करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें रेशमी और ऊनी वस्त्र प्राप्त नहीं होते? क्या वे जीवित नहीं रहते? शीत और गर्मी से उनके शरीर की रक्षा नहीं होती? उनकी लज्जा की रक्षा नहीं होती? बीमारी होने पर साधारण अहिंसक औषधों से उपचार होता रहा है। जब एलौपैथिक दवाओं का आविष्कार नहीं हुआ था तब एक से एक बढ़ कर प्रभावोत्पादक औषधें इस देश में प्रचलित थीं। उनसे चिकित्सा होती थी। उस समय के लोग आज की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी होते थे। किन्तु आज घोर हिंसाकारी औषधों का प्रचार बढ़ता जा रहा है, साथ ही

नये-नये रोग बढ़ते जा रहे हैं और अल्पायुष्कता भी बढ़ती जा रही है। फिर भी लोग अन्धाधुन्ध विलायती औषधों के प्रयोग से बाज नहीं आते।

बड़ी-बडी वस्त्र मिलों और कारखानों की स्थापना से प्रजाजनों की आजीविका छिन गई है। हजारों हाथ जो काम करते थे, उसे एक मशीन कर डालती है। बेरोजगारी की समस्या उलझती जा रही है। फिर भी दिन-बदिन नवीन कारखाने खुलते जाते हैं। उनके कारण महारम्भ और हिंसा की वृद्धि हो रही है।

जिन देशों में अहिंसा की परम्परा नहीं है, जिन्हें विरासत में अहिंसा के सुसंस्कार नहीं मिले हैं वहां यदि ऐसी वस्तुओं को प्रोत्साहन मिले तो उतने खेद और आश्चर्य की बात नहीं किन्तु भारत जैसा देश, जो सदैव अहिंसा का प्रेमी रहा है, हिंसाकारी वस्तुओं को अपनाए, तो कौन संसार को अहिंसा पथ का प्रदर्शित करेगा ? अहिंसा का आदर्श उपस्थित करने की योग्यता सिवाय भारतवर्ष के अन्य किसी भी देश के में नहीं है। इस देश महर्षियों ने हजारों-लाखों वर्ष पहले से अहिंसा विषयक चिन्तन आरम्भ किया और उसे गम्भीर रूप दिया। वह चिन्तन आज भी उसी प्रकार उपयोगी है और कभी पुराना पड़ने वाला नहीं है किन्तु आज इस देश के निवासी पश्चिम का अन्धानुकरण करने में ही गौरव समझते हैं। उचित यह है कि हम अपनी संस्कृति की छाप पश्चिम पर अंकित करें और उसे ऋषियों के सन्मार्ग पर लाएं।

आज न केवल दवाइयों ही वरन् दूसरी बहुत-सी वस्तुऐं भी पशुओं की हत्या करके निर्मित की जाती है। नरम चमड़े के नाना प्रकार के बैग, जूते आदि जीवित पशुओं का चमड़ा उतार कर उससे बनाये जाते हैं। यह कितनी भीषण क्रूरता है, शौकीन लोग ऐसी चीजों का उपयोग करके घोर हत्या के पाप के भागी बनते हैं। जीवन का ऐसा कोई कार्य नहीं जो ऐसी हिंसाजनित वस्तुओं के बिना न चल सके। अतएव ऐसी हिंसा को निरर्थक हिंसा की कोटि में सम्मिलित करना अनुचित नहीं। विवेकशील व्यक्ति सदैव इस प्रकार की हिंसा से बचेगा।

जैसे बूंद-बूंद पानी निकालने से बड़े से बड़े जलाशय का भी पानी खत्म हो जाता है, उसी प्रकार भोगोपभोग पर नियंत्रण करते-करते हिंसा को समाप्त किया जा सकता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छाओं को वश में रक्खे और आवश्यकताओं का अतिरेक न होने दे। आवश्यकताओं के बढ़ जाने से वांछित वस्तु न मिलने पर वैयक्तिक तथा सामूहिक संघर्ष बढ़ता है।

सभी देशों में साधारणतया जीवन निर्वाह के योग्य सामग्री उपलब्ध रहती है किन्तु जब भोगोपभोग की वृत्ति का अतिरेक होता है तब उसकी पूर्ति के लिए वह दूसरे देश का शोषण करने को तत्पर होता है। चीन इसी प्रकार के अतिरेक के कारण भारत पर आक्रमण कर रहा है। युग-युगान्तर से भोगोपभोग की बढ़ी-चढ़ी आवश्यकता ने संसार को अशान्त बना रक्खा हैं। संसार को सुधारना कठिन है, परन्तु साधक स्वयं अपने को सुधार कर तथा अपने ऊपर प्रयोग करके दूसरों को प्रेरणा दे सकता है। जो स्वयं जिस मार्ग पर न चल रहा हो, दूसरों को उस मार्ग पर चलने का उपदेश दे तो उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। जो स्वयं हिंसा के पथ का पथिक हो वह यदि अहिंसा पर वक्तृता दे तो कौन उसकी बात मानेगा ? लोग उलटा उपहास करेंगे। अतएव अगर दूसरों को सन्मार्ग पर लाना है, यदि मानसिक सन्तुलन की स्थिति जीवन में उत्पन्न करना है, मन की विकृतियों को हटाना हैं, हृदय को शान्त और चिन्ताहीन बनाना है तो साधक को सर्वप्रथम अपने पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए। ऐसा करने पर अपूर्व शान्ति का लाभ होगा। आत्म संयम करने की चीज है, कहने की नहीं। मिश्री बेचने वाला 'मीठी है' कहने के बदले चखने को देकर शीघ्र अनुभव करा सकता है। धर्म के विषय में भी यही स्थिति है। पालन करने से ही उसका वास्तविक लाभ प्राप्त होता है।

आनन्द ने श्रावकधर्म के पालन का दृढ़ संकल्प किया। उसने इस संकल्प के साथ व्रतों को अंगीकार किया कि मैं इन व्रतों में अतिचार नहीं लगने

दूंगा। जो इन व्रतों के दूषणों से बचा रहता है, उसके लिये सामायिक आदि व्रत सरल हो जाते हैं। अणुव्रतों और गुणव्रतों की साधना को जो सफलता-पूर्वक सम्पन्न कर लेते हैं वे सामायिक की साधना के पात्र बन जाते हैं। जैसे सुमरनी (माला) की आदि और अन्त सुमेरु है, उसी प्रकार सामायिक व्रतों की आदि और अन्त दोनों हैं। जब तक उसका ठीक रूप समझ में नहीं आएगा तब तक आदि और अन्त कैसे समझ में आ सकता है ?

शास्त्र का कथन है कि जब तक हृदय में शल्य विद्यमान रहता है तब तक व्रती जीवन प्रारंभ नहीं होता। माया, मिथ्यात्व और निदान, ये तीन भयंकर शल्य हैं जो आत्मा के उत्थान में रुकावट डालते हैं। इनके अतिरिक्त जब कषायभाव की मन्दता होती है, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण नामक कषाय का उपशम या क्षय होता है तभी जीव व्रती बनता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के आने पर जीव पर-पदार्थ को बन्ध का कारण समझता है और शुद्ध चेतनास्वरूप आत्मा को पहचानता है। उस समय वह समझने लगता है कि आत्मा सभी पौद्गलिक भावों से न्यारा है, निराला है और उनके साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बंध नहीं है, शरीर, इन्द्रियां और मन पौद्गलिक होने से आत्मा से पृथक हैं। आत्मा अरूपी तत्त्व है, देहादि रूपी हैं। आत्मा अनन्त चेतना का पुंज है, देहादि जड़ हैं। आत्मा अजर, अमर, अविनाशी द्रव्य है, देह आदि जड़ पर्याय हैं जिनका क्षण-क्षण में रूपान्तर होता रहता है। इस प्रकार इनके साथ न आत्मा का कोई सादृश्य है और न एकत्व है।

इस प्रकार का भेद विज्ञान सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होने पर होता है। भेद-विज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही मोक्ष मार्ग का प्रारंभ होता है। भेद विज्ञानी प्राणी हेय और उपादेय के वास्तविक मर्म को पहचान लेता है और चाहे वह अपने ज्ञान के अनुसार आचरण न कर सके, फिर भी उसके चित्त में से राग-द्वेष की सघन ग्रंथि हट जाती है और एक प्रकार का उदासीन भाव उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण वह अत्यासक्त नहीं बनता। वह जल में कमल की तरह अलिप्त रहता हुवा संसार व्यवहार चलाता है। तत्पश्चात्

कषाय की अधिक मन्दता होने पर अणुव्रत आदि प्रारंभ होते हैं। इससे स्पष्ट है कि व्रतों की आदि सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व को सामायिक में परिगणित किया गया है, अतएव सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक को आदि में मानना उचित ही है।

एक चूल्हे-चौके का काम करने वाली महिला और दूकान पर बैठा व्यवसायी यदि सम्यक्त्व सामायिक से सम्पन्न होगा तो उसे सदैव यह ध्यान रहेगा कि मेरे निमित्त से, मेरी असावधानी से किसी भी जीव-जन्तु को पीड़ा न पहुँचे। चूल्हे और व्यवसाय का काम चल रहा है और वह महिला तथा पुरुष सामायिक भी कर रहे हैं। वाह्य दृष्टि से यह सामायिक नहीं है पर यदि वास्तव में सामायिक न हो तो वह हिंसा को कैसे बचाएगा ? अतएव कहा गया है कि वहां सामायिक की आदि है।

और अन्त में, जहां त्याग की पूर्णता है वहां तो सामायिक है ही। अनर्थ दण्ड विरमण व्रत के पश्चात् सामायिक को स्थान देकर महावीर स्वामी ने एक महत्वपूर्ण वात यह सूचित की है कि भोगोपभोग की वृत्ति पर अंकुश रखना चाहिए। ऐसा करने से साधना के मार्ग में शान्त और स्थिर दशा सुलभ होगी। शान्ति और स्थिरता के बिना साधना नहीं हो सकती। जो स्वय अशान्त रहेगा वह दूसरों को कैसे शान्ति प्रदान कर सकता है ?

महापुरुष साधना के मार्ग में सफल हुए, स्वयं शान्ति स्वरूप बन गए और दूसरों के पथप्रदर्शक बन गए। महावीर स्वामी ने आनन्द का पथ प्रदर्शन किया। भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को योग्य पात्र जान कर उनका पथप्रदर्शन किया। उन्हें श्रुत का अभ्यास किया। श्रुताभ्यास के लिए पांच अवगुणों का परित्याग करना अत्यावश्यक है—

थंभा कोहा पमाएणं रोगेणालस्सएण य।

—उत्तराध्ययन अ० ११-३

ज्ञानार्थी पुरुष को (१) अहंकार, (२) क्रोध (३) प्रमाद (४) रोग (५) और आलस्य, इन पांच बातों से बचना ही चाहिए। इनसे बचने पर ही ज्ञान का अभ्यास किया जा सकता है।

जैसे ऊँची जमीन पर पानी नहीं चढ़ता उसी प्रकार अहंकारी को विद्या की प्राप्ति नहीं होती। विद्या प्राप्ति के लिए विनम्रता चाहिए, विनयशीलता होनी चाहिए। इसी प्रकार जो क्रोधशील होता है, चिड़चिड़ा होता है, जिसके हृदय में क्रोध की ज्वालाएँ प्रज्वलित रहती हैं, वह भी श्रुत का अभ्यास करने में समर्थ नहीं हो सकता। जो प्रमादी है वह भी ज्ञानार्जन करने में असमर्थ रहता है। प्रमादी व्यक्ति चलते-चलते बहुत समय तक बातें करता रहता है, सोया तो सोता रहेगा, खाने बैठा तो खाया करेगा, शृंगार-सजावट करने में घण्टों बिता देगा। वह कुछ समझेगा, कुछ करेगा। फिजूल की बातों में उपयोगी समय नष्ट करेगा। दूसरों की निन्दा करेगा, विकथा करेगा और अपनी ओर जरा भी लक्ष्य नहीं देगा।

आलसी आदमी भी विद्या का अभ्यास नहीं कर सकता। विद्याभ्यास के लिए स्फूर्ति आवश्यक है। नियमित कार्य करने की वृत्ति अपेक्षित है। 'आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः' अर्थात् आलस्य शरीर के भीतर पैठा हुआ महान् शत्रु है। बाहर के दुश्मन से बचना सरल होता है किन्तु अपने ही अन्दर छिपे बैरी से पार पाना कठिन होता है। आलसी मनुष्य उपस्थित कार्य को आगे सरकाने की चेष्टा करता है, कर्त्तव्य को टालने और उससे बचने का प्रयत्न करता है और यही सोच कर समय नष्ट करता है कि आज नहीं, कल कर लेंगे। कल आने पर परसों का बहाना करता है और आप ही अपने को धोखा देता रहता है।

इस प्रकार ज्ञानोपार्जन के बाधक कारणों को जान कर उनसे बचना चाहिए जो उक्त पांचों दोषों से बचे रहते हैं वे ही श्रुत की आराधना करने में समर्थ होते हैं।

स्थूलभद्र के साथ कई सन्त श्रुताभ्यास के हेतु गए थे। किन्तु स्थूलभद्र के सिवाय शेष सभी वापिस लौट आए। उनमें उक्त पांच बातों में से कोई न, कोई बात रही होगी। जो व्यक्ति दृढ़ संकल्प के साथ, हिम्मतपूर्वक किसी शुभ कार्य में जुट जाता है, उसे अवश्य सफलता प्राप्त होती है चाहे वह कार्य कितना ही दुस्साध्य हो।

मनुष्य जीवन अल्पकालिक है। मृत्यु ज्ञानी और अज्ञानी में, गृहस्थ और गृह त्यागी में एवं राजा और रंक में कोई भेद नहीं करती। उसके लिए सभी समान हैं। जिसने जन्म लिया, उसका मरण अवश्यंभावी है। आचार्य सम्भूतिविजय भी अन्ततः स्वर्गवासी बने। उनके देहोत्सर्ग के बाद भद्रबाहु लौट कर आए और उन्होंने शासनसूत्र संभाला। स्थूलभद्र भी निश्चल संकल्प के साथ उनके पास रहे। इस समय तक दस पूर्वों के लगभग का ज्ञान उन्हें हो चला था। भद्रबाहु स्वामी ने कुशलता के साथ शासन चलाना प्रारम्भ किया। स्थूलभद्र उनके सहायक थे। वे ओजस्वी, तेजस्वी और सूक्ष्म सिद्धान्तवेत्ता हो गए थे तथा भद्रबाहु के बाद आचार्य पद के योग्य समझे जाने लगे थे।

आगम या किसी भी अन्य विषय का शब्दार्थ प्राप्त करके यदि चिन्तन न किया गया तो आत्मा की उन्नति नहीं हो सकेगी। पढ़ कर चिन्तन और मनन करने से ही जीवन में मोड़ आता है और मोड़ आने पर आत्मा का उत्थान होता है। पठित पाठ चिन्तन-मनन के द्वारा ही आत्मसात् या हृदयंगम होता है और वही ज्ञान सार्थक है जो आत्मसात् हो जाए। स्थूलभद्र अपने गुरु भद्रबाहु से वाचना लेकर बाद में अलग से चिन्तन करते और उसकी दृढ़ धारणा करने की कोशिश करते थे। ऐसा करने से उन्हें बहुत लाभ हुआ।

आप लोगों ने भी चातुर्मास में प्रतिदिन श्रवण किया है। उसमें से क्या और कितना ग्रहण किया, इस बात पर आपको विचार करना चाहिए। चातुर्मास्य की समाप्ति के दिन सन्निकट आ रहे हैं। देवालय का कबूतर नगाड़ा बजाने पर भी नहीं उड़ता परन्तु कुंआ का कबूबर साधारण आवाज से भी उड़ जाता है। हमें देवालय के कबूतर के समान नहीं होना चाहिए जिस पर

कहने सुनने का कुछ असर ही नहीं पड़ता, बल्कि कुंए के कबूतर के समान बनना चाहिए। आत्महित की जो भी बात कर्णगोचर हो उसको विवेक के साथ अपनाना चाहिए। अपनाने से ही ज्ञान सार्थक होता है। अगर जीवन में कुछ भी न उतारा गया तो फिर कोरा ज्ञान किस मतलब का?

स्थूलभद्र की सात बहिनें भी थीं जो बड़ी बुद्धिशालिनी थीं। महामन्त्री शकटाल ने उनके जीवन निर्माण में कोई कसर नहीं उठा रक्खी थी। उसने सोने से शरीर को सुसज्जित करने की अपेक्षा ज्ञान से जीवन को मंडित करना अधिक कल्याणकर समझा। उन बहिनों ने भी प्राप्त ज्ञान का सदुपयोग किया और संयम को ग्रहण किया। इस प्रकार वे ज्ञान के साथ संयम की साधना करने लगीं। सुशिक्षा और ज्ञान की उपसम्पदा प्राप्त कर लेने के कारण और साथ ही अपने भाई स्थूलभद्र के साधु हो जाने के कारण उन्होंने अपने जीवन को राग की ओर बढ़ाना छोड़ दिया। राग रोग है, ऐसा समझ कर उन्होंने विराग का मार्ग अपनाया—दीक्षा अंगीकार कर ली। यही नहीं, तप और संयम की आराधना करके ज्ञान की ज्योति प्राप्त की।

सातों साध्वियां आचार्य भद्रबाहु की सेवा में पहुँचीं जिससे अपने भ्राता स्थूलभद्र के दर्शन कर सकें।

बन्धुओ! जैसे इन सन्तगणों का जीवन ज्ञान के अपूर्व आलोक से जगमगा उठा, उसी प्रकार हमें भी अपने जीवन को आलोकमय बनाना है। ऐसा करने पर ही उभय लोक में कल्याण होगा।

———

सामायिक

वीतराग देव ने आध्यात्मिक साधना का बड़ा महत्त्व बतलाया और जब कोई भी साधक साधना के महत्त्व को हृदयंगत करके उसके वास्तविक रूप को अपने जीवन में उतारता है तो उसके जीवन का मोड़ निराला हो जाता है। चाहे उसकी बाह्य प्रवृत्तियां एवं चेष्टाएँ बदली हुई प्रतीत न हों तथापि यह निश्चित है कि साधनाशीलता की स्थिति में जो भी कार्य या संसार व्यवहार किये जाते हैं, उनके पीछे साधक की वृत्ति भिन्न प्रकार की होती है। एक ही प्रकार का कार्य करने वाले दो व्यक्तियों की आन्तरिक वृत्ति में जमीन–आसमान जितना अन्तर हो सकता हैं। उदाहरण के लिए भोजन क्रिया को लीजिए। एक मनुष्य जिह्वालोलुप होकर भोजन करता हैं और दूसरा जितेन्द्रिय पुरुष भी भोजन करता है। ऊपर से भोजन क्रिया दोनों की समान प्रतीत होती हैं। किन्तु दोनों की आन्तरिक वृत्ति में महान् अन्तर होता है। प्रथम व्यक्ति रसना के सुख के लिए अतिशय गृद्धिपूर्वक खाता है जबकि जितेन्द्रिय पुरुष लोलुपता को निकट भी न फटकने देकर केवल शरीर निर्वाह की दृष्टि से भोजन करता है। उसके मन में लेशमात्र भी गृद्धि नहीं होती।

इस प्रकार एक-सी प्रवृत्ति में भी वृत्ति की जो भिन्नता होती है, उससे परिणाम में भी महान् अन्तर पड़ जाता है। जितेन्द्रिय पुरुष के भोजन का प्रयोजन संयम-धर्म-साधक शरीर का निर्वाह करना मात्र होने से वह कर्म-बन्ध नहीं करता, जबकि रसनालोलुप अपनी गृद्धि के कारण उसे कर्म-बन्ध का कारण बना लेता है। यह साधना का ही परिणाम है। यही नहीं, साधना विहीन व्यक्ति रूखा-सूखा भोजन करता हुआ भी हृदय में विद्यमान लोलुपता

के कारण तीव्र कर्म बांध लेता है जबकि साधना सम्पन्न पुरुष सरस भोजन करता हुआ भी अपनी अनाशक्ति के कारण उससे बचा रहता है।

साधना शून्य मनुष्य के प्रत्येक कार्य-कलाप में आशक्ति का विष घुला रहता है, साधनाशील उन्हीं कार्यों को अनाशक्त भाव से करता हुआ उनमें वीतरागता का अमृत भर देता है।

अध्यात्म साधना का अर्थात् राग-द्वेष की वृत्ति का परित्याग करके समभाव जागृत करने का यह महत्व कम नहीं है और यही साधक के जीवन को निर्मल और उच्च बनाने का कारण बनता है।

आज वृतों की साधना करने वाले थोड़े ही दिखाई देते हैं, इसका कारण यह है कि लोग साधना के महत्त्व को ठीक तरह समझ नहीं पाए हैं और इसी कारण वे साधना के मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो रहे हैं।

भूतकाल और वर्तमान काल का इतिहास देखने में यह बात प्रमाणित होती है कि जिसने साधना को जीवन में उतार लिया उसने अपना यह लोक और परलोक सुधार लिया।

गृहस्थ आनन्द ने प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच कर बारह व्रत अंगीकार किये और अपने जीवन को साधना के मार्ग में लगा दिया। साधारण ऊपरी दृष्टि से भले ही यह दिखाई न दे कि उसके जीवन में क्या परिवर्तन आया, मगर उसके आन्तरिक जीवन में आध्यात्मिकता की ज्योति जगमगा गई। यही कारण है कि आनन्द सभी अतिचारों का परित्याग करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाता है।

जो साधक भोगोपभोग के साधनों के विषय में अपने मन को नियंत्रित कर लेता है और उनकी सीमा निर्धारित कर लेता है, वह मानसिक सन्तुलन को प्राप्त करके सामायिक की साधना में तत्पर हो जाता है। संयम की साधना को विकसित करना उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है।

भगवान् महावीर ने आनन्द को लक्ष्य करके, उसके व्रतों की निर्मलता के लिए अतिचारों का निरूपण किया। यद्यपि शास्त्रकार का लक्ष्य आनन्द श्रावक है किन्तु आनन्द के माध्यम से वे संसार के सभी मुमुक्षुओं को प्रेरणा देना चाहते हैं। अतएव वह निरूपण जैसे उस समय आनन्द के लिए हित कर था उसी प्रकार अन्य श्रावकों के लिए भी हित कर था और जैसे उस समय हित कर था वैसे ही आज भी हितकर है। शाश्वत सत्य त्रिकाल-अबाधित होता है। देश और काल की सीमाएं उसे बदल नहीं सकतीं।

भगवान् ने कहा—सामायिक व्रत के पांच दूषण हैं। साधक इन दूषणों को समीचीन रूप में समझे और इनसे बचता रहे। इनका आचरण न करे।

सामायिक तन और मन की साधना है। इस व्रत की आराधना में तन की दृष्टि से इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है और मन की दृष्टि से उसके उद्वेग एवं चांचल्य का निरोध किया जाता है। मन में नाना प्रकार के जो संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, राग की, द्वेष की, मोह की या इसी प्रकार की जो परिस्थति उत्पन्न होती रहती है, उसे रोक देना सामायिक व्रत का लक्ष्य है। समभाव की जागृति हो जाना शान्ति प्राप्ति का मूल मंत्र है। इस संसार में जितने भीं दुःख, द्वन्द, क्लेश और कष्ट हैं, वे सभी चित्र के विषय भाव से उत्पन्न होते हैं। उन सब के विनाश का एक मात्र उपाय समभाव है। समभाव वह अमोघ कवच है जो प्राणी को समस्त आघातों से सुरक्षित कर देता है। जो भाग्यवान् समभाव के सुरम्य सरोवर में सदा अवगाहन करता रहता है, उसे संसार का ताप-पीड़ा नहीं पहुंचा सकता। समभाव वह लोकोत्तर रसायन है जिसके सेवन से समस्त आन्तरिक व्याधियां-वैभाविक परिणतियां नष्ट हो जाती हैं। आत्मा रूपी निर्मल गगन में जब समभाव का विभाकर अपनी समस्त प्रखरता के साथ उदित होता है तो राग, द्वेष, मोह आदि उलूक विलीन हो जाते है। आत्मा में अपूर्व ज्योति प्रकट हो जाती है और उसके सामने आलोक ही आलोक प्रसारित हो उठता है।

किन्तु अनादि काल से विभाव में रमण करने वाला और विषय भावों

के विष से प्रभावित कोई भी जीव सहसा समभाव की उच्चतर भूमिका पर नहीं पहुंच सकता। समभाव को प्राप्त करने और बढ़ाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। जैसे अखाडे में व्यायाम करने वाला व्यक्ति अपने शारीरिक बल को बढ़ाता है, वैसे ही सामायिक द्वारा साधक अपनी मानसिक दुर्बलताओं को दूर करके समभाव और संयम को प्राप्त करता है। अतएव प्रकारान्तर से सामायिक साधनों को मन का व्यायाम कहा जा सकता है।

सामायिक व्रत की आराधना करने में जो अतिचार लग सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) मणदुप्पणिहाणे—सामयिक का पहला अतिचार मनः दुष्प्रणिधान है जिसका तात्पर्य है मन का अशुभ व्यापार। सामायिक के समय में साधक को ऐसे विचार नहीं होने चाहिए जो सदोष या पापयुक्त हों। सामायिक में मन आत्मोन्मुख हो कर एकाग्र बन जाना चाहिए। एकाग्रता को खण्डित करने वाले विचारों को मन में स्थान देना या ऐसे विचारों का मन में प्रवेश होना साधक की पहली दुर्बलता है।

मन में बड़ी शक्ति है। उसके प्रशस्त व्यापार से स्वर्ग मोक्ष और अप्रशस्त व्यापार से नरक तैयार समझिए। कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

किसी जलाशय का पानी व्यर्थ बहाया जाय तो कीडे उत्पन्न करता और संहारक बन जाता है और यदि उसी जल का उचित उपयोग किया जाय तो अनेक खेत लहलहाने लगते हैं। मानसिक शक्ति का भी यही हाल है। मानसिक शक्ति के सदुपयोग से अलौकिक शान्ति प्राप्त की जा सकती है। अतएव मन को काबू में करना- साधना का प्रधान अंग है। मन में गर्व, क्रोध, कामना, भय आदि को स्थान देकर यदि कोई सामायिक करता है तो ये सब मानसिक दोष इसे मलीन बना देते हैं। पति और पत्नी में या पिता और पुत्र में आपसी रंजिश पैदा हो जाय तब रुष्ट होकर काम न करके

सामायिक में बैठ जाना भी दूषण है। अभिमान के वशीभूत हो कर या पुत्र धन विद्या आदि के लाभ की कामना से प्रेरित हो कर सामायिक की जाती है तो वह भी मानसिक दोष है। अप्रशस्त मानसिक विचारों के कारण सामायिक से आनन्द लाभ के बदले उलटा कर्म बन्ध होता है। अतएव साधक को इस ओर सावधान रहना चाहिए और प्रसन्न एवं शान्त चित्त से समभाव को जागृत करने के उद्देश्य से, वीतराग भाव की वृद्धि के लिए तथा कर्मनिर्जरा के हेतु ही सामायिक की आराधना करनी चाहिए।

(२) वयदुप्पणिहाणे—सामायिक का दूसरा दोष है वचन का दुष्प्रणिधान अर्थात् वचन का अप्रशस्त व्यापार। सामायिक के समय आत्मचिन्तन, भगवत् स्मरण या स्वात्मरमण की ही प्रधानता होती है, अतएव सर्वोत्तम यही होगा कि मौन भाव से सामायिक का आराधन किया जाय। यदि आवश्यकता हो और बोलने का अवसर आए तो भी संसार व्यवहार सम्बन्धी बातें नहीं करना चाहिए। हाट, हवेली या बाजार सम्बन्धी बातें न करे, काम कथा और युद्ध कथा से सर्वथा बचता रहे। कुटुम्ब-परिवार के हानि-लाभ की बातें करना भी सामायिक को दूषित करना है। भगवान् महावीर ने कहा—मानव! सामायिक आत्मोपासना का परम साधन है। अतएव सामायिक के काल में अपनी आत्मा के स्वरूप को निहार, आत्मा के अनन्त अज्ञान वैभव को पहचानने का प्रयत्न कर, भेद विज्ञान की अलौकिक ज्योति को वृद्धिगत कर, मन की एकाग्रता के साथ वचन को गोपन कर और सम्पूर्ण उपयोग अपनी ही आत्मा में समाहित कर ले। इतना न हो सके तो कम से कम वचन का दुष्प्रणिधान तो मत कर। ऐसा बोल जो हित, मित, तथ्य, पथ्य और निर्दोष हो।

सामायिक के समय परमात्मा की स्तुति और शान्त पठन में वाणी का उपयोग किया जा सकता है। ऐसा करना वचन का सुप्रणिधान है।

योगाचार्य ऋषि पतंजलि ने योग के आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि उनमें परिगणित हैं। योग

की अन्तिम अवस्था समाधि है। समाधि-अवस्था को प्राप्त करने के लिए सामायिक व्रत का अभ्यास आवश्यक है।

सामायिक व्रत के स्वरूप पर गहराई से विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि इसमें योगांगों का सहज ही समावेश हो जाता है। योग का प्रथम अंग यम है। यम का अर्थ है अहिंसा आदि व्रत। कहा भी है—'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या-परिग्रहाः यमाः।' सामायिक में भी हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील और ममत्व का त्याग किया जाता है। इस प्रकार सामायिक में योग के प्रथम अंक का अनायास ही अन्तर्भाव हो जाता है।

सामायिक में प्रभुस्मरण, स्वाध्याय आदि का अभ्यास किया जाता है जो योग में नियम नामक दूसरा अंग है।

सामायिक के समय शारीरिक चेष्टाओं का गोपन करके स्थिर एक आसन से साधना की जाती है। चलासन और कुआसन सामायिक के दोष माने गए हैं। अगर कोई पद्मासन या वज्रासन आदि से लम्बे काल तक न बैठ सके तो किसी भी सुखद एवं समाधिजनक आसन से बैठे किन्तु स्थिर होकर बैठे। पलांठी आसन या उत्कुटुक आसन से भी बैठा जा सकता है। किन्तु बिना कारण बार-बार आसन न बदलते हुए स्थिर बैठना चाहिये।

योगाचार्य ने योग के ८४ आसन बतलाए हैं किन्तु कौन किस आसन का प्रयोग करके साधना करे, इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का आग्रह न रखते हुए 'सुखासनम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जिस आसन से सुखपूर्वक बैठा जाय और जिसके प्रयोग से चित्त में शान्ति रहे वही उपयुक्त आसन है। रुग्णावस्था में जब बैठने की शक्ति न हो तो दण्डासन से लेटकर भी साधना कर सकते हैं। इस प्रकार आसन के अभ्यास से योग का तीसरा अंग आ जाता है।

ध्यान में लोगस्स सूत्र आदि का चिन्तन बतलाया गया है। यदि उसमें सांस को बिना तोड़े धीरे-धीरे स्मरण को बढ़ाया जाय तो अनायास ही प्राण

की दीर्घता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार सामायिक में प्राणायाम भी हो जाता है।

महावीर स्वामी ने साढ़े वारह वर्ष पर्यन्त तीव्र तपश्चर्या करके वीतराग दशा प्राप्त की और सामायिक का साक्षात्कार किया। उन्होंने संसार को यह संदेश दिया कि यदि शान्ति, स्थिरता और विमलता प्राप्त करनी है तो सामायिक की साधना करो। वीतरागता के सर्वोच्च शिखर पर आसीन अर्हन्तों ने प्रकट किया है कि जब तक सामायिक का साक्षात्कार नहीं किया जाता जब तक सामायिक साधना कई बार आती है और चली भी जाती है, चाहे साधक श्रमणोपासक हो अथवा श्रमण हो।

(३) कायदुप्पणिहाणे—सामायिक का तीसरा दूषण शरीर का दुष्प्रणिधान है।

शरीर के अंग-प्रत्यंग की चेष्टा सामायिक में बाधक न हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियों एवं शरीर द्वारा अयतना का व्यवहार न हो। सामायिक की निर्दोष साधना के लिए यह अपेक्षित है। इधर-उधर घूमना, बिना देखे चलना, पैरों को धमधमाते हुए चलना, रात्रि में बिना पूंजे चलना, बिना देखे हाथ-पैर फैलाना आदि काय के दुष्प्रणिधान में अन्तर्गत है। मन, वचन और काय का दुष्प्रणिधान होने पर सामायिक का वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं होता।

किसी गाँव में एक बुढ़िया थी। पुत्र आदि परिवार के होने पर भी स्नेहवशात् बेचारी रात-दिन घर-गृहस्थी के कार्य में पचती रहती थी। सौभाग्य से उस गाँव में एक महात्मा जा पहुँचे। बुढ़िया के पुत्र बहुत शिष्ट और साधु-सेवी थे। वे महात्मा की सेवा में पहुँच कर और बहुत आग्रह करके अपने घर उन्हें लाए। महात्मा से निवेदन किया—महाराज, हमारी माता वृद्धावस्था में भी कोई धर्मकृत्य नहीं करती। उन्हें यदि कुछ प्रेरणा करें और नियम दिला दें तो उनका कल्याण होगा।

महात्मा ने उत्तर दिया—जैसा अवसर होगा, देखा जाएगा। पर सन्त-महात्मा परोपकार परायण होते हैं। वे आत्म-कल्याण के साथ पर-कल्याण को भी अपने जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि परोपकार को भी वे आत्मोपकार का ही एक अंग समझते हैं। अतएव महात्मा भिक्षा के अवसर पर उनके घर पहुँचे। लड़के भिक्षा देने लगे तो वृद्धा ने कहा—आज तो मुझे भी लाभ लेने दो। लड़के एक ओर हो गए और वृद्धा महात्मा को आहार दान देने लगी।

महात्मा ने उससे कहा—बाई, तुम्हारे हाथ से हम तभी भिक्षा ग्रहण करेंगे जब कुछ धार्मिक नियम ग्रहण करोगी।

बुढ़िया नहीं चाहती थी कि महात्मा मेरे द्वार पर पधार कर खाली लौटें, अतएव उसने प्रतिदिन एक सामायिक करने का नियम ले लिया। महात्मा उसके हाथ से भिक्षा लेकर अपने स्थान पर चले गए।

वृद्धा प्रतिदिन समय-असमय घड़ी भर साधन कर लेती थी। एक दिन भोजन से निवृत्त हो जाने के पश्चात् उसकी वहुएँ गाँव में इधर-उधर मिलने चली गईं। चने भिगोये गये थे सो घर के बाहर चबूतरे पर सूख रहे थे। वृद्धा घर के बाहर सामायिक करने बैठी थी, अतएव बहुओं ने बाहर जाते समय मकान का ताला लगा दिया और चाबी द्वार पर एक ओर लटका दी।

संयोगवश उसके एक लड़के को पंसेरी की आवश्यकता पड़ी और वह उसे लेने के लिए घर आया। उसने दरवाजा बन्द देख कर वापिस लौटने का उपक्रम किया। बुढ़िया बैठी-बैठी यह सब देख रही थी मगर सामायिक में होने से कुछ कहने में संकोच कर रही थी। किन्तु अन्त तक उससे रहा नहीं गया। उसने सोचा-लड़के को व्यर्थ ही चक्कर होगा और व्यापार के काम में बाधा पड़ेगी।

इधर उसके मन में यह संकल्प-विकल्प चल ही रहा था कि अचानक एक भैंसा उधर आ निकला और चनों की ओर बढ़ने लगा।

बुढ़िया के लिए चुप रहना अब असम्भव हो गया, परन्तु सामायिक के भंग होने का भय भी उसके चित्त में समाया हुआ था। सामायिक भंग करने से न मालूम क्या अनर्थ या अनिष्ट हो जाय, इस भय से वह उद्विग्न हो रही थी।

मनुष्य दूसरों को तो धोखा देता ही है, अपने आपको भी धोखा देने से नहीं चूकता। बुढ़िया ने इस अवसर पर आत्मवंचना का ही अवलम्बन लिया। वह शान्तिनाथ भगवान् की प्रार्थना करने के बहाने कहने लगी—बेटा, जरा शान्तिनाथ की प्रार्थना सुन ले, मैं सामायिक में हूं। प्रार्थना यों है—

"पाड़ो दाल चरे, कूंची घोड़ा परे,
पंसेरी घट्टी तले, मोही तारो जी,
श्री शान्तिनाथ भगवान्, मोही पार उतारो जी।"

लड़के ने यह प्रार्थना सुनी और उसके मर्म को भी समझ लिया। उसने भैंसे को भगा दिया, कूंची प्राप्त कर ली और पंसेरी लेकर चला गया।

इस प्रकार सामायिक करने का स्वांग करने से, दंभ करने से और आत्मप्रवंचना करने से अनन्त काल में भी कार्य सिद्धि होने वाली नहीं है! धर्म उसी के मन में रहता है जो निर्मल हो। माया और दंभ से परिपूर्ण हृदय में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता। बुढ़िया की जैसी चेष्टा करने से मन का, वचन का और काय का भी दुष्प्रणिधान होता है और इससे सामायिक का प्रदर्शन भले हो जाय, वास्तविक सामायिक के फल की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) सामाइअस्स सइ अकरणया–सामायिक काल में सामायिक की स्मृति न रहना भी सामायिक का दोष है।

(५) सामाइअस्स अणवट्ठियस्स करणया–व्यवस्थित रूप से अर्थात् आगमोक्त पद्धति से सामायिक व्रत का अनुष्ठान न करने से इस दोष का

भागी होना पड़ता है। सामायिक अंगीकार करके प्रमाद में समय व्यतीत कर देना, नियम के निर्वाह के लिए जल्दी-जल्दी सामायिक करके समाप्त कर देना, चित्र में विषय भाव को स्थान देना आदि अनौचित्य इस व्रत के अन्तर्गत हैं।

सामायिक साधना की अन्तिम दशा समाधि है, जैसे योगशास्त्र के अनुसार योग की अन्तिम स्थिति समाधि है। समाधि की स्थिति में पहुंच जाने पर साधक शोक और चिन्ता के कारण उपस्थित होने पर भी आनन्द में मग्न रहता है। शोक उसके अन्तःकरण को म्लान नहीं कर सकता और चिन्ता उसके चित्त में चंचलता उत्पन्न नहीं कर सकती। वह आत्मानन्द में मस्त हो जाता है। इसी अद्भुत आनन्द की प्राप्ति के लिए चक्रवर्तियों ने और बड़े-बड़े सम्राटों ने भी अपने साम्राज्य को तिनके की तरह त्याग कर सामायिक व्रत को अंगीकार किया था। वस्तुतः सामायिक में निराला ही आनन्द है। उस आनन्द के सामने विषयजन्य सुख किसी गिनती में नहीं है। मगर शर्त यही है कि सामायिक सच्ची सामायिक हो, भावसामायिक हो और उसके अनुष्ठान में स्व-पर वंचना को स्थान न हो।

आत्मा में जब तक शुद्ध दृष्टि नहीं उत्पन्न होती, शुद्ध आत्मकल्याण की कामना नहीं जागती और मन लौलिक एषणाओं से ऊपर नहीं उठ जाता, तब तक शुद्ध सामायिक की प्राप्ति नहीं होती। अतएव लौकिक कामना से प्रेरित होकर सामायिक का अनुष्ठान न किया जाय वरन् कर्मबन्ध से बचने के लिए-संवर की प्राप्ति के लिए सामायिक का आराधन करना चाहिए। कामराग और लोभ के झोंकों से साधना का दीप मन्द हो जाता है। और कभी-कभी बुझ भी जाता है। अत एव आगमोक्त विधि से उत्कृष्ट प्रेम के साथ सामायिक करना चाहिये जो ऐसा करेगा उसका वर्तमान जीवन अलौकिक आनन्द से परिपूर्ण हो जाएगा और परलोक परम मंगलमय बन जाएगा।

दीपावली की आराधना

दीपमालिका पर्व चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर की परम पावन स्मृति का जाज्वल्यमान प्रतीक है। प्रभु महावीर के निर्वाण की स्थिति आज के दिन ताजा हो जाती है। भगवान ने इसी दिन निर्वाण लाभ किया था। तभी से यह पर्व लोग अपने-अपने स्तर पर एवं मन्तव्य के अनुसार मनाते आ रहे हैं। कुछ मनीषियों का कथन है कि दीपमालिका पर्व भगवान महावीर के निर्वाण से पहले से ही आर्य जाति में प्रचलित था, परन्तु इस मत की पुष्टि में कोई स्पष्ट और ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

इस अवसर पर दीपमालिका के इतिहास की छानबीन नहीं करना है। यह तो सुनिश्चित है कि या तो पूर्वपरम्परागत इस पर्व को भगवान महावीर के निर्वाण ने सजीव एवं मांगलिक स्वरूप प्रदान किया या भगवान के निर्वाण के कारण ही इस पर्व का प्रतिष्ठान हुआ। दोनों स्थितियों में इस पर्व के साथ भगवान महावीर के निर्वाण का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दीर्घतपस्वी श्रमणोत्तम महावीर जैसे लोकोत्तर महापुरुष की स्मृति में मनाये जाने के कारण यह पर्व भी लोकोत्तर पर्व है। अतएव इसे लोकोत्तर भावना से एवं लोकोत्तर लाभ की दृष्टि से मनाना चाहिए।

आज की इस मंगलमय वेला में हम भगवान महावीर की स्मृति को ताजा कर रहे हैं और उन स्मृतियों से जीवन निर्माण का पथ प्रदर्शन भी प्राप्त कर रहे हैं।

पर्व के मंगलमय रूप को सभी अपनाते हैं। जो रागी हैं वे राग की सीमा में पर्व मनाते हैं, भोगी जीव उसे भोग का विशिष्ट अवसर मानते हैं, किन्तु जो विवेकशाली हैं वे पर्व की प्रकृति का विचार करते हैं। सोचते हैं कि इस पर्व के पीछे क्या इतिहास है? क्या उद्देश्य है? और वे उसीके अनुरूप पर्व का आराधन करते हैं। जिस पर्व का सम्बन्ध वीतराग पुरुष के साथ हो, उसे रागवर्द्धक ढंग से मनाना वे उचित नहीं मानते। वे सोचते हैं कि यदि पर्व को राग वृद्धि में लगा दिया गया तो पर्व को मनाने का क्या लाभ है? संसारी प्राणी का समग्र जीवन ही राग द्वेषवर्धक कार्यों में लगा रहता है, अगर पर्व को भी ऐसे ही कार्यों में व्यतीत कर दिया जाय तो पर्व की विशेषता ही क्या रहेगी? जो पर्व को आमोद-प्रमोद में सीमित कर देते हैं, वास्तव में वे पर्व से कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं करते।

विवेक का तकाजा है कि इस प्रकार के अवसर का कुछ ऐसा उपयोग किया जाय जिससे आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास हो, राग-द्वेष की परिणति में न्यूनता आए; जीवन मंगल साधन बन जाए और आत्मोत्थान के पथ पर अधिक नहीं तो कुछ कदम आगे बढ़ सकें।

बालक हंसना, गाना, खाना, पीना, आदि चहल-पहल हो तो पर्व मानता है परन्तु समझदार का पर्व अन्तर्मुखी होता है। वह देखना चाहता है कि इन लहरों का मंगलमय रूप क्या है? वह पर्व तो शाश्वत एवं वास्तविक कल्याण का साधन बनाता है। मगर सर्वसाधारण लोग ऐसी चिन्ता नहीं करते। यह चेतनातो उन्हीं प्रबुद्धजनों में जागृत होती है जिनके जीवन में तीव्र विषय तृष्णा और कामना नहीं है।

सत्यपुरुषों के चरण चिन्हों पर चलकर हम भी अपना उत्थान कर सकते हैं। उनके चरणचिन्हों को पहचानने के लिए ही पर्वों का आयोजन किया जाता है। अतएव हमें देखना चाहिए कि किस पर्व की क्या विशेषता है और उसके पीछे क्या महत्व छिपा है?

एक रूप वाह्य प्रकाश का है, दूसरा आन्तरिक प्रकाश का। एक आज चमक कर कल समाप्त हो जायगा, दूसरा शाश्वत रहेगा।

दीपावली का यह संदेश है कि दीपक-प्रकाश के अभाव में अंधेरी रात में घूमने वाला भटक जाएगा, इसी प्रकार ज्ञान की रोशनी में न चलने वाला टक्करें खाकर अपना विनाश बुला लेगा।

भगवान् महावीर जन्म से ही अवधिज्ञान नामक अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न थे। दीक्षा अंगीकार करते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। किन्तु वे इतने ही से सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उग्र तपश्चरण किया और उसे प्राप्त किया। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वे दूसरों को भी ज्ञान देने में समर्थ हुए। इसी कारण उन्हें ज्ञान का दीपक कहा गया है।

पेट्रोमेक्स और बिजली का बल्व दूसरे दीपकों को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता। दूसरे दीपकों को तो टिमटिमाता मन्द प्रकाश वाला दीपक ही जला सकता है। टार्च बल्व आदि में यह क्षमता नहीं है कि वे दूसरे को प्रकाशित कर सकें। दीपक में ही यह विशेषता है कि उससे हजारों और लाखों दीपक जलाये जा सकते हैं। ज्ञानी को प्रदीप की उपमा दी गई है, क्योंकि उसमें भी दीपक की खूबी मौजूद रहती है। वह अनेकों को ज्ञान की ज्योति से जाज्वल्यमान कर सकता है।

केवल ज्ञान सभी ज्ञानों में श्रेष्ठ है, प्रतिपूर्ण है, अनन्त है, अनावरण है, मगर वह दूसरों को प्रतिबुद्ध नहीं कर सकता। केवली का वचनयोग ही दूसरों को ज्ञान का प्रकाश देने में निमित्त होता है। श्रुतज्ञान अमूक और शेष ज्ञान मूक हैं। श्रुतज्ञान के माध्यम से एक साधक दूसरों के अन्तःकरण को जागृत कर सकता है। यह श्रुतज्ञान की अन्य ज्ञानों से विशिष्टता है।

ज्ञान की सूक्ष्मता की दृष्टि से केवल ज्ञान सब से अधिक सूक्ष्म है क्योंकि उसमें पूर्णता है, मगर केवल ज्ञान रूपी सूर्य बहुत तेज होने पर भी प्रत्येक

स्थान का अन्धेरा दूर नहीं कर सकता। कोने-कोने का अन्धेरा दूर करने के लिए तो दीपक काम आता है। श्रुतज्ञान दीपक के समान है।

जब मानव के मानस में ज्ञान का प्रदीप जाग उठता है तो कुटेव और अज्ञानता की स्थिति का अन्त हो जाता है। सत्पुरुषों ने ज्ञान-प्रदीप जलाया है।

भगवान् महावीर के ज्ञान का भास्कर ४२ वर्ष की अवस्था में उदित हो गया था। उसके उदित होने पर उनकी आत्मा अलौकिक एवं असाधारण आलोक से विभूषित होगई। बारह वर्षों तक वे इसके लिए पुरुषार्थ करते रहे।

केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान् ने भिक्षुकों से लेकर राजाओं तक के अज्ञान के निवारण का सफल प्रयत्न किया। आपका प्रेरक सन्देश पाकर नौ लिच्छवी और नौ मल्ली राजा धर्म श्रद्धालु बने। तात्कालिक गण-तन्त्र के अधिपति सम्राट् चेटक का भी अज्ञान-मोह दूर हुआ।

संसार के विशाल वैभव में रह कर भी मनुष्य के लिए परम साधना आवश्यक है। मनुष्य को समझना चाहिए कि सांसारिक वैभव का सम्बन्ध शरीर के साथ है, सिर्फ एक भव तक सीमित है। शरीर त्यागने के पश्चात् जगत् का बड़े से बड़ा वैभव भी बिछुड़ जाता है। अगले जन्म में वह काम नहीं आता। उससे आत्मा का किंचित् भी उपकार नहीं होता। आत्मोपकार अथवा आत्महित के लिए तो वही साधना उपयोगी है जिससे आत्मिक विभूति की वृद्धि होती है। इस तथ्य को भगवान् महावीर ने समझाया और जिन महापुरुषों ने समझा उनकी सुषुप्त चेतना जागृत हो गई। चेटक जैसा सम्राट् भी श्रावक बन गया। राज्याधिकारी एवं राजाधिराज होकर भी उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये। उसने संकल्प किया कि मैं जान-बूझ कर निरपराध त्रस जीवों की हिंसा नहीं करूँगा। रक्षात्मक कार्य करूँगा, संहारात्मक कार्य नहीं करूँगा। हानिकारक, धोखाजनक और अविश्वासकारक असत्य का प्रयोग नहीं करूँगा। उसने किसी के अधिकार को छीन कर लोलुपता के वशीभूत होकर राज्य की सीमाओं को बढ़ाने की चेष्टा नहीं की। श्रावकोचित सभी व्रतों को अङ्गीकार किया।

गणतन्त्र मिली-जुली शासन व्यवस्था है। इस व्यवस्था में जो सम्मिलित होता है उसके लिए व्रत ग्रहण करना साधारण बात नहीं है। चेटक चाहता तो बहाना कर सकता था, किन्तु साधना के क्षेत्र में आत्मवंचना को तनिक भी स्थान नहीं। अतएव साझेदारी की राज्य-व्यवस्था होने पर भी उसने किसी प्रकार का बहाना नहीं किया।

अठारह राजा जिस गण में सम्मिलित थे, उस गणराज्य का उत्तरदायित्व कुछ कम नहीं रहा होगा। एक राज्य को संभालना और इस बात का खयाल रखना कि प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो, राज्याधिकारी कोई अन्यायपूर्ण कार्य करके प्रजा को कष्ट न पहुँचावे, सबल निर्बल को न दबावे, प्रजाजनों में नीति और धर्म का प्रसार हो, किसी प्रकार के दुर्व्यसन उसमें घर न करने पावें, सभी लोग अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए परस्पर सहयोग करें, राजा-प्रजा के बीच आत्मीयता का भाव बना रहे और साथ ही कोई लोलुप राजा राज्य की सीमा का उल्लंघन न कर सके, साधारण बात नहीं है। फिर चेटक को तो अठारह राज्यों के गण का अधिपति होने के कारण सीमा पर दृष्टि रखनी पड़ती थी। सबकी चिन्ता करनी पड़ती थी। फिर भी वह अपनी आत्मा को नहीं भूला। उसने लौकिक कर्त्तव्यपालन की धुन में लोकोत्तर कर्त्तव्यों को विस्मृत नहीं किया। एक विवेकशील और दूरदर्शी सद्गृहस्थ के समान वह दोनों प्रकार के उत्तरदायित्व को बिना किसी विरोध के निभाता रहा। एक ओर वह गणतन्त्र का अधिपतित्व करता था तो दूसरी ओर अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पौषध व्रत का भी आराधन करता था। पौषध व्रत में समस्त आरंभ-समारंभ का परित्याग करके धर्मध्यान में दिन-रात व्यतीत करना होता है। यह एक प्रकार से चौबीस घण्टों तक साधुपन का अभ्यास है। तन का पोषण तो पशु-पक्षी भी करते हैं, इसमें मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है, आत्मा का पोषण करना ही मानव की विशिष्टता है और उसी से जीवन ऊँचा बनता है। इसी विश्वास से चेटक पौषध करता था।

आज लक्ष्मी की पूजा करने वाले तो बहुत हैं किन्तु व्रत साधना के लिए आगे आने वाले कितने हैं ? राग और भक्ति तथा अर्थ और भक्ति में क्या सामंजस्य है, यथावसर इस पर प्रकाश डाला जाएगा।

राजा उदायन ने भी पहले श्रावक के व्रतों को अङ्गीकार किया फिर श्रमण-दीक्षा अङ्गीकार की। गृहस्थ जीवन में रहते हुए बिम्बसार, अजातशत्रु उदायन, चण्डप्रद्योत और चेटक आदि भगवान् के वचनों पर श्रद्धाशील बने। उन्होंने राज्य सम्बन्धी उत्तरदायित्व एवं बन्धन से अपने आपको मुक्त या हल्का कर लिया।

बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु में भगवान् ने अपना वर्षाकाल पावापुरी में व्यतीत किया। यह उनका अन्तिम वर्षाकाल था। भगवान् के सिवाय कोई नहीं जानता था कि यह वर्ष आपके जीवन का अन्तिम वर्ष है! दीर्घकाल से चलने वाली भगवान् की साधना पूर्ण हो चुकी। महाराजा हस्तीपाल की रथशाला में उनका अन्तिम चातुर्मास हुआ। अन्य राजाओं ने भी चातुर्मास्य-काल में भगवान् की उपस्थिति से लाभ उठाया। महाराजा हस्तीपाल के प्रबल सौभाग्य का योग समझिए कि उन्हें अन्तिम समय में चरम तीर्थङ्कर की सेवा, भक्ति, एवं उपासना का दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ। कवियों ने भी इस प्रसंग को लेकर अपनी वाणी को पवित्र बनाने का प्रयत्न किया है—

पर्व यह मंगलमय आया रे,
पर्व यह मंगलमय आया।
अन्तिम वर्षाकाल प्रभू ने पावापुर ठाया।......
हस्तीपाल की राजुकशाला प्रभु ने पवित्र बनाया।.......
वीर हुए निर्वाण गौतम ने केवलि पद पाया।........

कार्त्तिकी अमावस्या को लोक के एक असाधारण, अद्वितीय, महान साधक की साधना चरम सीमा पर पहुँची। उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन से

सम्पन्न तो पहले ही हो चुकी थी, जीवन्मुक्त दशा पहले ही वे प्राप्त कर चुके थे, परम निर्वाण–विदेह–मुक्ति भी उन्हें प्राप्त हो गई। भगवान् सिद्ध हुए और गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

गौतम स्वामी ने अपनी साधना का अभीष्ट मधुर फल प्राप्त किया। उनकी चेतना पर जो हल्के-से आवरण शेष रह गए थे, वे भी आज निश्शेष हो गए। उन्हें निरावरण उपयोग की उपलब्धि हुई। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो गए। प्रभु के निर्वाण ने उनकी आत्मा को पूर्ण रूप से जागृत कर दिया। उन्हें महान् लाभ हुआ। एक कारीगर साधारण मलीन रत्न को शाण पर चढ़ा कर चमकीला बना देता है। उसकी चमक बढ़ जाती है और चमक के अनुसार कीमत भी बढ़ जाती है। सत्पुरुष भी उसी कारीगर के समान हैं जो साधारण मानव के मानस में व्याप्त सघन अन्धकार को दूर कर देते हैं और उसमें ज्ञान की चमक उत्पन्न कर देते हैं।

प्रभु का निर्जल व्रत चल रहा था। यद्यपि वे पूर्ण वीतराग, पूर्ण निष्काम और पूर्ण कृत-कृत्य हो चुके थे, तथापि उनकी धर्मदेशना का प्रवाह बन्द नहीं हुआ था। श्रोताओं की ओर उनका ध्यान नहीं था। छद्मस्थ वक्ता श्रोताओं के चेहरों को लक्ष्य करके, उनके उत्साह के अनुसार ही वक्तव्य देते हैं। वक्ता को जब प्रतीत होता है कि श्रोता जानकार हैं, ध्यानपूर्वक वक्तव्य को सुन रहे हैं और हृदयंगम कर रहे हैं तो वह अपनी ज्ञान-गागर को उनके सन्मुख उँडेल देता है। इस प्रकार उसका वक्तव्य सामने की स्थिति पर निर्भर रहता है। किन्तु वीतराग की आत्मा में ऐसा विकल्प नहीं होता। उसकी वाणी का प्रवाह सहज भाव से चलता है। वीतराग की वाणी में अपूर्व और अद्भुत प्रभाव होता है। उससे श्रोताओं का अन्तःकरण स्वतः तरोताजा हो जाता है। चित्त में अनायास ही आर्द्रता आ जाती है।

वीतराग की वाणी की गंगा का परमपावन, शान्तिप्रदायक, शीतल प्रवाह जब प्रवाहित होता है तो क्या सभी उसमें अवगाहन करते हैं? संसार

के सभी जीव अपने संसारताप को शान्त कर लेते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं होता। बहुत-से जीव सूखे भी रह जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। बीज कितना ही अच्छा क्यों न हो, ऊषर भूमि में पड़कर अंकुरित नहीं होता। यह भूमि का ही दोष समझना चाहिए, बीज का नहीं। प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं....

सद्धर्मबीजवपनानंद्यकौशलस्य,
यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन्।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेसु,
सूर्यांशवो मधुकरो चरणावदाताः॥

वे कहते हैं—प्रभु तो समस्त प्राणियों के बन्धु हैं-सब के समान रूप से सहायक हैं। किसी के प्रति उनका पक्षपात नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्म रूपी बीज को बोने में उनका कौशल भी अद्वितीय है। फिर भी धर्म-बीज के लिए कोई-कोई भूमि ऊषर साबित होती है, जहां वह बीज अंकुरित नहीं होता। मगर यह कोई अद्भुत बात नहीं है। सूर्य अपनी समस्त किरणों से उदित होता है और लोक में प्रकाश की उज्ज्वल किरणें विकीर्ण करता है, फिर भी कुछ निशाचर प्राणी ऐसे होते हैं जिनके आगे उस समय भी अंधेरा छाया रहता है। ऐसा है तो इसमें सूर्य का क्या अपराध है ?

भव्य जीव भगवान् की वाणी के अमृत का पान करके अपने को कृतार्थ करते हैं। जो सम्यग्दृष्टि हैं या जिनका मिथ्यात्व अत्यन्त तीव्र नहीं है, वे उस उपदेश से लाभ उठाते हैं। धन्य हैं वे भद्र और पुण्यशाली जीव जिन्हें तीर्थंकर देव के समवसरण में प्रवेश करके उनके मुखारविन्द से देशना श्रवण करने का सुयोग मिलता है।

इन्द्रभूति गौतम, नौ मल्ली और नौलिच्छवी राजा आदि ऐसे ही भाग्यवानों की गणना में थे। उन्होंने प्रभु के पावन प्रवचन-पीयूष का आकंठ पान किया। भगवान् के उपदेश की अखण्ड धारा प्रवाहित हो रही थी। पुद्ग

जागरण और अपुष्ट जागरण दोनों का सिलसिला चालू था। शुभ और अशुभ कार्यों के विपाक कैसे होते हैं, यह प्ररूपणा चल रही थी।

बन्धुओ! शुभ और अशुभ को वास्तविक रूप में समझ लेना बहुत बड़ी बात है। जो अशुभ को समझ लेता है वह अशुभ की ओर प्रवृत्ति करने से रुक जाता है। काम, क्रोध आदि के कटुक परियाक यदि समझ में आजाएं तो उनकी ओर जीव का झुकाव ही नहीं हो सकता। टिमटिमाते प्रकाश में बिच्छू को देख कर कोई उसके ऊपर हाथ नहीं रखता, क्योंकि यह बात जानी हुई है कि बिच्छू डंक मारने वाला विषैला जन्तु है। उसे पकड़ने और बाहर ले जाकर छोड़ने के लिए चीमटे का उपयोग किया जाता है।

पुरस्कार देने पर भी कोई सांप के बिल में हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि सर्पदंश की भयानकता से सभी परिचित हैं। असत्य भाषण करने या अशिष्ट व्यवहार करने से पुरस्कार नहीं मिलता, फिर भी लोग ऐसा करते हैं। इसका एक मात्र प्रधान कारण यही है कि बिच्छू या सर्प के दंश से जैसी प्रत्यक्ष एवं तत्काल हानि होती है, वैसी असत्य भाषण, क्रोध आदि से प्रतीत नहीं होती। साधारण जनों की दृष्टि बहुत सीमित होती है। वे तात्कालिक हानि-लाभ को तो समझ लेते हैं, मगर भविष्य के हानि लाभ की परवाह नहीं करते। दीर्घ दृष्टि की एक नजर वर्तमान पर रहती है तो दूसरी नजर भविष्य पर भी रहती है। जिस मनुष्य ने विष के समान पाप को भयजनक समझ लिया है, उसकी पाप में प्रवृत्ति नहीं होगी। सत्य यह है कि पापाचरण का परिणाम विष से असंख्यगुणित हानिकारक और भयप्रद है।

नादान बच्चे को, माता-पिता को आग, बिच्छू, सांप से डराना पड़ता है, बड़े बच्चे को डराना नहीं पड़ता, क्योंकि वह उनसे होने वाले अनर्थ से परिचित है। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में पाप-पुण्य को समझ लेने से ज्ञानी पुरुष पाप से स्वयं बचता रहता है। वह उसे जहर से भी ज्यादा संकटजनक मानता है। पाप, कामना और विषयलोलुपता का जहर भव-भव में शोचनीय

परिणाम उत्पन्न करता है, जब कि सर्प आदि का विष एक ही भव को नष्ट करता है या नहीं भी नष्ट करता।

शरीर में कांटा चुभने पर पीड़ा होती है, विष भक्षण करने से मृत्यु हो जाती है, विषैले जन्तु के डंसने से दुःख होता है, किन्तु इनका उपचार संभव है। सैकड़ों मील दूर के तीन-तीन दिन विष लगे हो जाने पर भी गारुड़ी उसके प्रभाव को नष्ट कर देता है। मनोवल और मंत्रबल की ऐसी शक्ति आज भी देखी-सुनी जाती है। झाड़ने-फूंकने वाले, समाचार कहने वाले को ही झाड़-फूंक कर विष उतार देते हैं। आज भी जंगल में रहने वाले वन्य जाति के लोग विष उतारने का तरीका जानते हैं। इस प्रकार इस बाह्य विष को उतारना आसान है। किन्तु काम, क्रोध, माया, लोभ आदि के विष को परम गारुडी ही हल्का कर सकता है। वासना का घोर विष जन्म-जन्मान्तर तक हानि पहुँचाता है। इस विष के प्रभाव को दूर करने के लिए साधक भगवान् महावीर की साधना का लाभ प्राप्त करते हैं।

अमावस्या को महावीर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त कर लिया। उनका इस धरती पर सरीर अस्तित्व नहीं रहा। मानों मध्यलोक का सूर्य सदा के लिए अस्त होगया। किन्तु उनका उपदेश आज भी विद्यमान है। भगवान् का स्मरण करके और उनके उपदेश के अनुसार आचरण करके हम अब भी अपने जीवन को उच्च, पवित्र एवं सफल बना सकते हैं। हमें आज के दिन भगवान के पावन संदेशों पर गहराई के साथ विचार करना चाहिए।

छोटा और पुराना मकान भी पोत लेने, साफ कर लेने से रमणीक लगने लगता है। दीवाली के अवसर पर लोग ऐसा करते हैं। तन की शोभा के लिए स्नान किया जाता है, साबुन लगाया जाता है, सुन्दर-स्वच्छ वस्त्राभूषण धारण किये जाते हैं। मन्दिर का आदर देव के कारण है। देव के बिना मन्दिर आदरणीय नहीं होता। इसी प्रकार इस शरीर रूपी मन्दिर की जो भी शोभा या महत्ता है, वह आत्म-देव के कारण है। घर की शोभा बढ़ाई जाय मगर घर में रहने वाले नर की ओर ध्यान न दिया जाय, यह बहुत बड़ा प्रमाद है,

वागरण और अपृष्ट वागरण दोनों का सिलसिला चालू था। शुभ और अशुभ कार्यों के विपाक कैसे होते हैं, यह प्ररूपणा चल रही थी।

वन्धुओ ! शुभ और अशुभ को वास्तविक रूप में समझ लेना बहुत बड़ी बात है। जो अशुभ को समझ लेता है वह अशुभ की ओर प्रवृत्ति करने से रुक जाता है। काम, क्रोध आदि के कटुक परियाक यदि समझ में आजाएं तो उनकी ओर जीव का झुकाव ही नहीं हो सकता। टिमटिमाते प्रकाश में विच्छू को देख कर कोई उसके ऊपर हाथ नहीं रखता, क्योंकि यह बात जानी हुई है कि विच्छू डंक मारने वाला विषैला जन्तु है। उसे पकड़ने और बाहर ले जाकर छोड़ने के लिए चीमटे का उपयोग किया जाता है।

पुरस्कार देने पर भी कोई सांप के बिल में हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि सर्पदंश की भयानकता से सभी परिचित हैं। असत्य भाषण करने या अशिष्ट व्यवहार करने से पुरस्कार नहीं मिलता, फिर भी लोग ऐसा करते हैं। इसका एक मात्र प्रधान कारण यही है कि बिच्छू या सर्प के दंश से जैसी प्रत्यक्ष एवं तत्काल हानि होती है, वैसी असत्य भाषण, क्रोध आदि से प्रतीत नहीं होती। साधारण जनों की दृष्टि बहुत सीमित होती है। वे तात्कालिक हानि-लाभ को तो समझ लेते हैं, मगर भविष्य के हानि लाभ की परवाह नहीं करते। दीर्घ दृष्टि की एक नजर वर्तमान पर रहती है तो दूसरी नजर भविष्य पर भी रहती है। जिस मनुष्य ने विष के समान पाप को भयजनक समझ लिया है, उसकी पाप में प्रवृत्ति नहीं होगी। सत्य यह है कि पापाचरण का परिणाम विष से असंख्यगुणित हानिकारक और भयप्रद है।

नादान वच्चे को, माता-पिता को आग, बिच्छू, सांप से डराना पड़ता है, वड़े वच्चे को डराना पहीं पड़ता, क्योंकि वह उनसे होने वाले अनर्थ से परिचित है। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में पाप-पुण्य को समझ लेने से ज्ञानी पुरुष पाप से स्वयं बचता रहता है। वह उसे जहर से भी ज्यादा संकटजनक मानता है। पाप, कामना और विषयलोलुपता का जहर भव-भव में शोचनीय

परिणाम उत्पन्न करता है, जब कि सर्प आदि का विष एक ही भव को नष्ट करता है या नहीं भी नष्ट करता।

शरीर में कांटा चुभने पर पीड़ा होती है, विष भक्षण करने से मृत्यु हो जाती है, विषैले जन्तु के डंसने से दुःख होता है, किन्तु इनका उपचार संभव है। सैकड़ों मील दूर के तीन-तीन दिन विष लगे हो जाने पर भी गारुड़ी उसके प्रभाव को नष्ट कर देता है। मनोबल और मंत्रबल की ऐसी शक्ति आज भी देखी-सुनी जाती है। झाड़ने-फूंकने वाले, समाचार कहने वाले को ही झाड़-फूंक कर विष उतार देते हैं। आज भी जंगल में रहने वाले वन्य जाति के लोग विष उतारने का तरीका जानते हैं। इस प्रकार इस बाह्य विष को उतारना आसान है। किन्तु काम, क्रोध, माया, लोभ आदि के विष को परम गारुडी ही हल्का कर सकता है। वासना का घोर विष जन्म-जन्मान्तर तक हानि पहुँचाता है। इस विष के प्रभाव को दूर करने के लिए साधक भगवान् महावीर की साधना का लाभ प्राप्त करते हैं।

अमावस्या को महावीर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त कर लिया। उनका इस धरती पर सरीर अस्तित्व नहीं रहा। मानों मध्यलोक का सूर्य सदा के लिए अस्त होगया। किन्तु उनका उपदेश आज भी विद्यमान है। भगवान् का स्मरण करके और उनके उपदेश के अनुसार आचरण करके हम अब भी अपने जीवन को उच्च, पवित्र एवं सफल बना सकते हैं। हमें आज के दिन भगवान के पावन संदेशों पर गहराई के साथ विचार करना चाहिए।

छोटा और पुराना मकान भी पोत लेने, साफ कर लेने से रमणीक लगने लगता है। दीवाली के अवसर पर लोग ऐसा करते हैं। तन की शोभा के लिए स्नान किया जाता है, साबुन लगाया जाता है, सुन्दर-स्वच्छ वस्त्राभूषण धारण किये जाते हैं। मन्दिर का आदर देव के कारण है। देव के बिना मन्दिर आदरणीय नहीं होता। इसी प्रकार इस शरीर रूपी मन्दिर की जो भी शोभा या महत्ता है, वह आत्म-देव के कारण है। घर की शोभा बढ़ाई जाय मगर घर में रहने वाले नर की ओर ध्यान न दिया जाय, यह बहुत बड़ा प्रमाद है,

मूर्खता है। ऐसा करने से वह कमजोर हो जाएगा। विनम्रता आदि सद्गुणों से पोषण न होने के कारण आत्मदेव दुर्बल हो जाता है। दिव्य गुणों का विकास न करने से आत्मा का दानव रूप प्रकट होता है। अतएव जीवन में सद्गुणों की सजावट करना चाहिए।

आपको अपनी आत्मा में अमर आलोक प्रकट करता है, आध्यात्मिक भावना के द्वारा जीवन को चमकाना है। यही दीपावली पर्व का महान् संदेश है। यह वाह्य सजावट तो पर्व के साथ ही समाप्त हो जाएगी। इससे जीवन सार्थक न होगा, आत्मा का किंचित् भी श्रेय न होगा। आत्मा के मंगल के लिए सम्यग्ज्ञान और सदाचार को जीवन में प्रश्रय देना चाहिए।

भगवान् महावीर की देशना को श्रवण कर श्रोता कृतकृत्य होगए।

इस पर्व को हमें मंगलमय स्वरूप प्रदान करना है, अन्यथा काल तो आता और जाता रहता है। वह टिककर रहने वाला नहीं। कौन जानता है कि अगली दीपावली मनाने के लिए कौन रहेगा और कौन नहीं? अतएव आज आपको जो सुयोग प्राप्त है, उसका अधिक से अधिक लाभ उठाइए। अन्तःकरण में पावन ज्ञान की प्रदीपमाला आलोकित कीजिए। अनन्त ज्योतिर्मय आत्मा की आवृत ज्योति को प्रकट कीजिए। ऐसा करने से ही इस पर्व की आराधना सफल होगी।

———

वीर निर्वाण

वर्त्तमान में जो धर्मशासन चल रहा है, उसके अधिपति चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी हैं। शासन का माध्यम भगवान् की वह वाणी है जिसे उनके प्रधान शिष्य गणधरों ने शास्त्र का स्वरूप प्रदान किया और स्थविर भगवन्तों ने बाद में लिपिबद्ध किया। इस शासन के संचालक-सूत्रधार शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से होने वाले सन्त हैं। शासनपति हम सभी आत्म-कल्याण के अभिलाषियों के लिए सदा स्मरणीय हैं। अज्ञान के अनन्त-असीम अन्धकार में भटकते हुए सांसारिक प्राणियों को सम्यग्ज्ञान का आलोक प्रदान करने वाले वही हैं, इस कृतज्ञता के कारण तथा गुणों के प्रति आदर भावना की दृष्टि से भी वे स्मरणीय हैं।

गुणों की दृष्टि से सभी तीर्थङ्कर भगवान् समान होते हैं, अतएव सभी समान रूप से स्मरणीय हैं। भगवान् का स्मरण एक प्रकार से अपने असली स्वरूप का स्मरण है, क्योंकि आत्मा और परमात्मा में मौलिक रूप में कोई अन्तर नहीं है। मुक्त एवं संसारी आत्मा समान स्वभाव के धारक हैं। जैसे सिद्ध भगवान् अनन्त ज्योति के पुंज हैं, अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं सुख से परिपूर्ण हैं, निर्मल आत्मपरिणति वाले हैं, उसी प्रकार संसार के सब आत्मा भी हैं। कहा भी है:—

य: परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्तथा।
अहमेव मयाऽऽराध्यो, नान्य: कश्चिदिति स्थिति:॥

परमात्मा का जो स्वरूप है, वही मेरा स्वरूप है और जो मेरा स्वरूप है वही परमात्मा का। अतएव किसी अन्य की आराधना न करते हुए आत्मा की ही आराधना करना उचित है।

इस प्रकार मूलतः आत्मा-परमात्मा में समानता होने पर भी आज जो अन्तर दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका कारण आवरण का होना और न होना है। जो आत्मा सम्यक् श्रद्धा के साथ, विवेक को आगे करके, साधना के क्षेत्र में अग्रसर होती है, उसकी शक्तियों का–गुणों का पूर्ण विकास हो जाता है और आत्मिक शक्तियों के पूर्ण विकास की अवस्था ही परमात्मदशा कहलाती है, अनादिकालीन कर्मकृत आवरण जब तक विद्यमान हैं और वे आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आवृत किये हुए हैं तब तक आत्मा आत्मा है। ज्ञान और क्रिया के समन्वय से जब आवरणों को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है और निर्मल, सहज-स्वाभाविक स्वरूप प्रकट हो जाता है तो वही आत्मा परम-आत्मा–परमात्मा बन जाता है। जो आत्मा परमात्मा के पद पर पहुंच गई है, उसका स्मरण करने से हमें भी उस पद को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है और हम उस पथ पर चलने को अग्रसर होते हैं जिस पर चलने से परमात्म-दशा प्राप्त होती है।

अतएव आज हम उन परमपावन, परमपिता, परम मंगलधाम महावीर स्वामी का जो स्मरण करते हैं, उसमें कृतज्ञता की भावना के साथ-साथ स्वात्मस्वरूप का स्मरण भी सम्मिलित है।

महाप्रभु महावीर के प्रति हम कितने कृतज्ञ हैं। संसार के दुःख-दावानल से झुलसते हुए, अनन्त सन्ताप से सन्तप्त, मोह-ममता के निविड अन्धकार में भटकते और ठोकरें खाते हुए, जन्म जरा-मरण की व्याधियों से पीड़ित एवं अपने स्वरूप से भी अनभिज्ञ जगत् के जीवों को जिन्होंने मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया, सिद्धि का समीचीन सन्देश दिया, ज्ञान की अनिर्वचनीय ज्योति जगाई। उनके प्रति श्रद्धा निवेदन करना हमारा सर्वोत्तम कर्त्तव्य है। भगवान् ने अहिंसा का अमृत न पिलाया होता और सत्य की सुधा-धारा प्रवाहित न की

होती तो इस जगत् की क्या स्थिति होती ? मानव दानव बन गया होता, धरा ने रौरव का रूप धारण कर लिया होता ! भगवान् ने अपनी साधनापूत दिव्य-ध्वनि के द्वारा मनुष्य की मूर्छित चेतना को संज्ञा प्रदान की, दानवी वृत्तियों का शमन करने के लिए दैवी भावनाएँ जागृत कीं और मनुष्य में फैले हुए नाना प्रकार के भ्रम के सघन कोहरे को छिन्न-भिन्न करके विमल आलोक की प्रकाशपूर्ण किरणें विकीर्ण कीं।

प्रश्न उठ सकता है कि संसार का अपार उपकार करने वाले भगवान् के निर्वाण को 'कल्याणक' क्यों कहा गया है ? निर्वाण-दिवस में आनन्द क्यों मनाया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि लोकोत्तर पुरुष दूसरे पामर प्राणियों जैसे नहीं होते। वे आते समय प्रेरणा लेकर आते हैं और जाते समय भी प्रेरणा देकर जाते हैं। अतएव महापुरुषों का जन्म भी कल्याणकारी होता है और निर्वाण भी।

आस्तिक आत्मा को अजर, अमर और अविनाशी मानते हैं। आत्मा एक शाश्वत तत्त्व है। न उसका उत्पाद होता है न विनाश। सकर्म अवस्था में वह एक भव को त्याग कर, दूसरे भव में चला जाता है, जैसे कोई व्यक्ति एक नगर को त्याग कर दूसरे नगर में बस जाता है ऐसी स्थिति में मृत्यु का अर्थ सिर्फ पर्याय और शरीर का परिवर्त्तन हो जाना मात्र है, आत्मा का अस्तित्व समाप्त होना नहीं है। इसमें भी जो महापुरुष साधना के क्षेत्र में अग्रसर होते हैं, उसमें सफलता प्राप्त करते हैं और जीवन पर्यन्त स्व-पर के अभ्युदय में निरत रह कर शरीर का परित्याग करते हैं, वीतरागभाव का चरम विकास हो जाने के कारण जीवन और मरण दोनों जिन्हें एक समान प्रतीत होने लगते हैं, उनके लिए मरण एक साधारण-सी घटना है। यही नहीं, वे मृत्यु को साधना के फल की प्राप्ति का सहायक समझते हैं, क्योंकि शरीर का त्याग किये बिना साधना का सम्पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता। यही कारण है कि मृत्यु को महान् उत्सव का रूप दिया गया है। फिर जो शरीर त्याग कर सिद्धि प्राप्त करते हैं, सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं और अव्याबाध सुख के भागी बनते हैं, उनका शरीरोत्सर्ग तो किसी भी प्रकार शोचनीय नहीं होता।

जो नास्तिक आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं करते और यह समझते हैं कि शरीर के साथ आत्मा भी खत्म हो जाता है, उनके लिए हाय-हाय करते हुए मरने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं! जब उनका अन्तिम समय सन्निकट आता है और जब उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो रहा है और मैं ऐसे अन्धकार में विलीन हो रहा हूं जिसका कदापि अन्त आने वाला नहीं है, तो उन्हें अतिशय उद्वेग एवं दुःख होना स्वाभाविक है। इस प्रकार आस्तिक और धर्मनिष्ठ व्यक्ति के समक्ष उज्ज्वल भविष्य होता है जबकि नास्तिक के सामने निराशा का सघनतम तिमिर। आस्तिक शान्तिपूर्वक हँसता हुआ प्राण-त्याग करता है, नास्तिक विलाप करता हुआ मरता है।

भगवान् महावीर मृत्युञ्जय थे। उन्होंने आध्यात्मिक जगत् की चरम सिद्धि प्राप्त की। अपने साधनाकाल में उन्होंने अज्ञानान्धकार का भेदन किया। प्रत्येक स्थिति में समभाव धारण किये रक्खा। सुषुप्त जनों की आत्मा को जागृत किया और अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

भगवान् के चरित को पढ़ने और सुनने वाले के अन्तःकरण में उत्कंठा जागृत होती है कि हम भी निर्वाण प्राप्त करें। भगवान् ने कहा है कि सभी जीव समान हैं, अतएव जैसे वे निर्वाण प्राप्त करने में समर्थ हुए वैसे हम भी समर्थ हो सकते हैं। इस विचार से साधक को साहस और धैर्य प्राप्त होता है। कर्मपाश से मानव मुक्त नहीं हो सकता, इस भ्रमपूर्ण विचार का निरसन हो जाता है। शंका का कोई कारण नहीं रहता।

निर्वाण से पूर्व महावीर स्वामी ने पौद्गलिक भावों का परित्याग कर दिया, आहार-पानी का त्याग कर दिया और कर्मपुद्गलों को निकाल देने की साधना बढ़ा दी। वे दिन और रात्रि में सारे समय देशना करते रहे। अन्तिम समय उनके प्रशममय प्रवचन की धारा बह रही थी। सबके लिए उस धारा में अवगाहन करने की छूट थी। उस दिन राजा चेटक ने पौषध व्रत की आराधना की। मल्ली और लिच्छवी राजाओं ने भी, जिनकी संख्या अठारह

थी, पौषध व्रत अंगीकार किया। उन्हें परमप्रभु की अन्तिमकालिक सेवा का सौभाग्य मिला। अन्तिम समय में, स्वाति नक्षत्र के योग में कार्त्तिकी अमावस्या के दिन प्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए। जिन्हें उस समय प्रभु की सेवा का अवसर मिला, वे धन्य हैं।

प्रश्न हो सकता है-वीतराग की सेवा किस प्रकार की जा सकती है ? वीतराग के निकट पहुँच कर उनकी इच्छा के विपरीत कार्य करना सेवा नहीं है। उनके गुणों के प्रति निष्कपट प्रीति होना, प्रमोदभाव होना और उनके द्वारा उपदिष्ट सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र के मार्ग पर चलना ही वीतराग की सच्ची सेवा है।

मगर आज परिस्थिति यह है कि पूजक अपने पूज्य को अपने रंग में ढालना चाहता है। जिसकी जैसी दृष्टि या रुचि है, वह उसी के अनुरूप देव के स्वरूप की कल्पना कर लेता है। राजस्थान, बंगाल और उत्तर प्रदेश में ठाकुरजी का रूप अलग-अलग प्रकार का मिलेगा। राजस्थानी लोग सीता को घाघरा पहनाएँगे तो बंगाली और बिहारी भक्त साड़ी से सुशोभित करेंगे। सीता वास्तव में किस वेश में रहती थी, इस तथ्य को जानने का परिश्रम किसी को नहीं करना है। जैनों में श्वेताम्बरों के महावीर अलग प्रकार के होंगे और दिगम्बरों के महावीर अलग प्रकार के। महावीर की आत्मा को पहचानना और उससे प्रेरणा प्राप्त करना ही वास्तव में महावीर की पूजा है। साम्प्रदायिक रंग में रंगने से महापुरुषों का रूप बदल जाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह खींचतान जानकारों में अधिक है, अज्ञान लोगों में नहीं।

यदि उपासना का मूल आधार गुण मान लिया जाय तो सारी विडम्बनाएँ समाप्त हो जाएँ। 'गुणा पूजास्थानम्' इस उक्ति को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। महावीर में अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं वीतरागता है। जगत् के प्रत्येक प्राणी पर उनका समभाव है। इन गुणों को अगर हम आदर्श मानकर भगवान् की उपासना करें और अपने जीवन में विकसित करने का प्रयत्न करें तो किसी प्रकार का संघर्ष ही उत्पन्न न हो। इन गुणों की प्राप्ति के लिए जो साधना करेगा उसकी साधना निराली ही होगी।

मनोवृत्ति जब तक वीतरागतामयी नहीं हो जाती तब तक इस जीवन में भी निराकुलता और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जितने-जितने अंशों में वीतरागता का विकास होता जाता है, उतने ही उतने अंशों में शान्ति सुलभ हो जाती है। अतएव अगर हम वीतराग परिणति को अपना सकें तो श्रेयस्कर ही है। न अपना सकें तो भी कम से कम वीतरागता की ओर बढ़ने वालों को देख कर प्रमोद का अनुभव करें। वीतराग के प्रति प्रमोद का अनुभव करना भी वीतरागता के प्रति बढ़ने का पहला कदम है।

भगवान् के चरणों में अन्तिम समय तक रह कर और उनसे वीतराग-भाव की प्रेरणा प्राप्त करके अनेक राजाओं ने अपने जीवन को कृतार्थ समझा।

साधना की प्राथमिक भूमिकाओं में देव और गुरु के प्रति अनन्य अनुराग उपयोगी होता है। सुदेव और सुगुरु के प्रति दृढ़ अनुराग होने से साधक कुदेव और कुगुरु की उपासना से बच कर मिथ्यात्व से भी बचता है। किन्तु सिद्धान्त बतलाता है कि यह स्थिति भी उच्च भूमिका पर चढ़ने में एक प्रकार की रुकावट है। मैं आराधक हूँ और मुझसे भिन्न कोई आराध्य है, इस प्रकार का विकल्प जब तक बना रहता है, तब तक आराधना पूर्ण नहीं होती। चित्त में आराध्य, आराधक और आराधना का कोई विकल्प न रह जाना—तीनों का एक रूप हो जाना अर्थात् भेद प्रतीति का विलीन हो जाना ही सच्ची आराधना है। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा अपने ही स्वरूप में रमण करता है और बाह्य जगत् के साथ उसका कोई लगाव नहीं रह जाता है, वही ध्याता, वही ध्येय और वही ध्यान के रूप में परिणत हो जाता है—निर्विकल्प समाधि की दशा प्राप्त कर लेता है तभी उसकी अनन्त शक्तियाँ जागृत होती हैं।

प्राथमिक स्थिति में भी साधक को गुरु के शरीर के सहारे न रह कर गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के सहारे रहना चाहिए। गौतम स्वामी ने प्रभु की सेवा में ३० वर्ष व्यतीत कर दिए। वे कभी उनसे पृथक् नहीं रहे। उन्होंने सच्चे

अन्तेवासी (निकट ही निवास करने वाले) का धर्म निभाया। परन्तु उन्हें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। उनके हृदय में अपने आराध्य भगवान् के प्रति जो प्रशस्त राग विद्यमान था, उसने आवरणों का क्षय नहीं होने दिया।

महावीर स्वामी ने गौतम से कहा—मेरे प्रति तुम्हारा जो अनुराग है, उसे बाहर निकाल दो तो केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। जब तक साधक अपने से भिन्न किसी दूसरे पर अवलम्बित है तब तक वह बहिर्दृष्टि बना रहता है—वह पूर्णरूपेण अन्तर्मुख नहीं हो पाता। अन्तर्मुखता के बिना आत्मनिष्ठता नहीं आती और आत्मनिष्ठता के अभाव में आत्मा के सहज-स्वाभाविक स्वरूप का आविर्भाव नहीं होता। भगवान् ने कहा—

पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि—आचारांग।

अर्थात्—हे आत्मन् ! अपना सहायक तू आप ही है, अपने से भिन्न सहायक की क्यों अभिलाषा करता है।

कितना महान् आदर्श है ! प्रभु की कैसी निस्पृहता है ! दूसरे धर्मों के देव कहते हैं-तू मेरी शरण में आ, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा और पाप करने पर भी उसके फल से बचा लूंगा। कोई कहता है—मेरी उपासना जो करेगा उसे मैं बहिश्त में भेज दूंगा-स्वर्ग का पट्टा लिख दूंगा। मगर वीतराग की वाणी निराली है। उन्हें अपने भक्तों की टोली नहीं जमा करनी है, अपने उपासकों को किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं देना है। वे भव्य जीवों को आत्म-कल्याण की कुंजी पकड़ा देना चाहते हैं, इसीलिए कहते हैं—गौतम ! मेरे प्रति तेरा जो अनुराग है, उसे त्याग दे। उसे त्यागे बिना पूर्ण वीतरागता का भाव जागृत नहीं होगा। इस प्रकार की निस्पृहता उसी में हो सकती है जिसने पूर्ण वीतरागता प्राप्त करली हो और जिसमें पूर्ण ज्ञान की ज्योति प्रकट हो गई हो। अतएव भगवान् का कथन ही उनकी सर्वज्ञता, पूर्ण कामना और महत्ती महत्ता को सूचित करता है।

गौतम स्वामी का भगवान् महावीर के प्रति जो शुभ राग था वह भगवान् के अन्तिम समय तक न छूट सका और परिणाम यह हुआ कि तब तक उन्हें कैवल्य की प्राप्ति भी न हो सकी। भगवान् के निर्वाण के पश्चात् ही उनका राग दूर हुआ और राग दूर होते ही उन्होंने अरिहन्त अवस्था प्राप्त करली। उनका राग दूर होने में एक विशेष घटना कारण बन गई।

घटना इस प्रकार थी। गौतम स्वामी भगवान् का आदेश पाकर समीपवर्त्ती किसी ग्राम में देवशर्मा को प्रतिबोधित करने गए हुए थे। उनके लौट कर आने से पूर्व ही भगवान् का निर्वाण हो गया। जो तीस वर्ष तक निरन्तर साथ रहा वह अन्तिम समय में बिछुड़ गया। गौतम स्वामी के हृदय को इस घटना से चोट पहुँची। उन्होंने विचार किया—केवली होने के कारण भगवान् अपने निर्वाणकाल को तो जानते थे, फिर भी चिरकाल के अपने सेवक को अन्तिम समय में पास न रहने दिया। मुझे अन्तिम समय की उपासना से वंचित कर दिया।

यह विचार गौतम का अनुरागी मन कर रहा था और अनुराग जब प्रबल होता है तो विवेक ओझल हो जाता है। किन्तु यह विचारधारा अधिक समय तक टिक नहीं सकी। तत्काल ही विचारों की लगाम विवेक ने थाम ली। प्रभु की वाणी उन्हें स्मरण हो आई—

पुरिसा ! तुमयेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि।

बस उन्होंने सोचा—प्रभु ने स्वावलम्बन की शिक्षा देने के लिए मुझे अपने से पृथक् किया है। निर्वाण जाते-जाते भी वे मुझे मूक शिक्षा दे गए हैं। अब उसी शिक्षा का आधार लेकर मुझे अपनी आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए। बाहर की ओर देखने वाली दृष्टि को अन्दर की ओर फेर देना चाहिए।

और उसी समय गौतम स्वामी की दृष्टि आत्मोन्मुख हो गई। बाहर के समस्त आलम्बनों का जैसे सद्भाव ही न रहा। इस प्रकार जब उनकी

आत्मा अपने स्वरूप में निमग्न हो गई तो तत्काल अनन्त ज्ञानालोक आविर्भूत हो गया और वे अपने आराध्य के समान बन गए। एक कवि ने कहा है—

चेतन ! तू ही तारसी, तू परमेश्वर रूप ।
प्रभुजी के गुण गावतां, प्रकटे आत्मस्वरूप ॥

गौतम ने आत्मा के परमेश्वर रूप का चिन्तन किया। जो सिद्धि तीस वर्षों की साधना में उन्हें प्राप्त नहीं हुई थी, वह महावीर के निर्वाण के पश्चात् स्व-स्वरूप के चिन्तन से प्राप्त हो गई। उनके अन्तस् से ध्वनि निकली—रंज किसका ? दुःख किसका ? वियोग किसका ? किसी भी परपदार्थ के साथ आत्मा का योग नहीं होता तो वियोग कैसा ? इस चिन्तन से उनकी विकलता दूर हो गई।

जो वस्तु अलग हो सकती है, वह आत्मा की नहीं है। जो आत्मीय है वह आत्मा से पृथक् कदापि नहीं हो सकता। जिसका वियोग होता है, वह सब पर-पदार्थ है जिसे आत्मा राग-भाव के कारण अपना समझ लेता है। यह समझ मिथ्या है। जब यह मिथ्या धारणा दूर हो जाती है तब सच्चा प्रकाश आत्मा में उत्पन्न होता है—हे चेतन ! तू स्वयं ही अपने को तारने वाला है, तू ही परमात्मा है। परमात्मा का सहारा लेकर उनके स्वरूप का चिन्तन करने से निज स्वरूप प्रकट होता है। निजी गुणों को प्रकट करने में परमात्मस्वरूप का चिन्तन एवं गुणगान निमित्त होता है। इससे शुद्ध स्वरूप पर जो पर्दा पड़ा है वह दूर हो जाता है।

इस प्रकार एक भास्कर (महावीर) अस्त हुआ और दूसरे भास्कर का उदय हुआ। गौतम स्वामी केवलज्ञानी हो गए। उनके चारों ज्ञान केवलज्ञान में उसी प्रकार विलीन हो गए जैसे हाथी के पैर में सबके पैर समा जाते हैं। अनन्त ज्योति में सभी ज्योतियां विलीन हो जाती हैं। अपूर्णता मिट गई। अपूर्णता का कारण क्षमोपशम है और जब क्षमोपशम न रहा तो भेद भी नहीं रहा। समुद्र, सरोवर, कूप, नदी आदि के जल में भाफ बन जाने के बाद

किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। भारी-हल्का, खारा-मीठा, गन्दा-साफ—सभी प्रकार का जल वाष्प बन जाने पर एकरूप हो जाता है। जल में विजातीय पदार्थ के संयोग से भिन्नता होती है, और उस संयोग के हट जाने पर भिन्नता दूर हो जाती है। इसी प्रकार विजातीय द्रव्य का संयोग हटते ही सब आत्माओं का ज्ञान और सभी आत्माएं समान हो जाती हैं। उनमें किसी प्रकार की विलक्षणता नहीं रहती।

गौतम स्वामी शुद्ध आत्मस्वरूप के अधिकारी बन गए। हमें भी आत्म-चिन्तन द्वारा आत्मा को शुद्ध स्वरूप में परिणत करना है। गौतम के शुद्धि से हमें सीख लेनी है। ज्ञान के द्वारा अपने निज गुणों को शुद्ध बनाना है। यह शुद्धता सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है।

बन्धुओ, सत्पुरुषों का जीवन प्रदीप के समान है जो स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है। साधारण मानव मिथ्या धारणाओं और गलत शक्तियों के उपयोग के कारण यों ही समाप्त हो जाता है। आयु का तेल पाकर जीवन की बत्ती जलती रहती है, मगर कोई-कोई बत्ती होली का काम कर जाती है। दीपक फटाके, बीड़ी, सिगरेट अथवा दूसरों की वस्तुओं को जलाने के काम भी आ सकता है, किन्तु दीपक का यह सही उपयोग नहीं है। वह दूसरों को जला कर स्वयं भी खत्म हो जाता है। एक दीपक वह भी होता है जो पठन-पाठन में और पथिकों को पथ दिखलाने में काम आता है। वह दीपक बुझ जाता है तो पथिक उसे याद करते हैं कि रात में भी उसने दिन के समान सुविधा दी। यह जीवन भी जलते दीपक के समान है। इससे प्रकाश प्राप्त करना चाहिए—अपने लिए तथा औरों के लिए।

भगवान महावीर 'लोकप्रदीप' थे। वे स्वयं प्रकाशमय थे और समस्त जगत् को प्रकाश देने वाले थे। उस लोकोत्तर प्रदीप ने संसार को सन्मार्ग प्रदर्शित किया, कुमार्ग पर जाने से रोका और अज्ञान के अंधकार का निवारण किया। किन्तु वह प्रदीप इस लोक में नहीं रहा, उसकी स्मृति ही हमारे लिए शेष रह गई है।

वासना और विकार की आंधी से प्रभावित दीप बुझ जायेंगे। वही दीपक अमर रहेगा जिसे वासना की आंधी स्पर्श नहीं कर सकती।

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के जो प्रश्नोत्तर विद्यमान हैं, वे हमारे लिए प्रकाशपुंज हैं। भगवान् ने न केवल वाणी द्वारा बल्कि करणी द्वारा भी शिक्षा दी है। जो चल चुका है और पहुँच चुका है उसे चरण चिह्न नहीं देखने पड़ते। पीछे चलने वालों को चरण चिह्न देखने पड़ते हैं। अगर हम उनके चरण चिह्नों को देख कर उनके मार्ग पर चलेंगे जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की है या जो आत्मोत्थान के पथ के पथिक हैं तो जो सिद्धि गौतम को मिली वह हमें भी मिल सकती है। भले ही विघ्न आएं, बाधाएं हमें रुकने को मजबूर करें, कालक्षेप हो किन्तु जिसका संकल्प अचल है और जो उस मार्ग से न हटने का निश्चय कर चुका है, उसे सिद्धि प्राप्त हो कर ही रहेगी।

दीपावली के प्रसंग पर व्यापारी हानि-लाभ का हिसाब निकालते हैं। लाभ देखकर प्रसन्न और हानि देखकर विषण्ण होते हैं। हानि है तो आगे उसे लाभ में परिणत करने का संकल्प करते हैं और दुगना काम करते हैं। जीवन के इस महान व्यवसाय में भी यही नीति अपनानी चाहिए। उसकी भी चिन्ता करनी चाहिए। आर्थिक लाभ और हानि का सम्बन्ध सिर्फ वर्त्तमान जीवन तक ही सीमित है, मगर जीवन व्यापार का सम्बन्ध अनन्त भविष्य के साथ है। यदि साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका दीवाली की रात्रि में, वर्ष में एक बार भी शुद्ध हृदय से गहरा विचार करें तो उन्हें लाभ होगा।

व्यापारी चांदी के टुकड़ों का हिसाब रखता है जिनमें कोई स्थायित्व नहीं है तो साधक को भी अपने जीवन का, अपनी साधना, अपने सद्‌गुणों के लाभा लाभ का हिसाब रखना चाहिये। बिना हिसाब वाला, रामभरोसे

रहने वाला व्यापारी जैसे धोखा खा सकता है, उसी प्रकार व्रती साधक को आध्यात्मिक लेखा-जोखा न रखने से खतरे का सामना करना पड़ सकता है।

साधक अपने जीवन को ज्ञान ज्योति से आलोकित रक्खे, ज्ञान-आलोक में जीवन को निर्मलता की ओर अग्रसर करे और सम्पूर्ण रूप से ज्योतिर्मय बन जाए, यही दीपावली का संदेश है। इस संदेश को समझ कर जो आचरण करेगा उसका भविष्य आलोकमय बन जाएगा।

———

पात्रता

कोई भव्यजीव जब वास्तविक सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर लेता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझ लेता है, संसार की असारता को विदित कर लेता है परिग्रह को समस्त दुःखों का मूल समझ लेता है और यह सब जान लेने के पश्चात् आत्मस्वरूप में निराकुलतापूर्वक रमण करने के लिए संसार से विमुख हो जाता है, तब जगत का विशालतम वैभव भी तुच्छ प्रतीत होने लगता है। राजसी भोग उसे भुजंगम के समान प्रतीत होने लगते हैं। तब वह मुनिधर्म की साधना में तत्पर हो जाता है। ऐसा साधक शनैः शनैः कदम उठाने की अपेक्षा एक साथ शक्तिशाली कदम उठाना ही उचित मानता है।

कुछ साधक ऐसे भी होते हैं जो धीरे २ अग्रसर होते हैं। अन्तर में ज्ञान की चिनगारी प्रज्वलित होते ही वे अकर्मण्य न रह कर जितना सम्भव हो उतना ही साधन करते हैं। वह देश विरति को अंगीकार करते हैं। कुछ भी न करने की अपेक्षा थोड़ा करना बेहतर है। अंग्रेजी में एक उक्ति प्रसिद्ध है—Something is better than nothing. हमें कह सकते हैं—'अकरणान्मन्द करणं श्रेयः।

इस प्रकार देशविरति अविरति से श्रेष्ठ है। आनन्द सर्वविरति को अंगीकार करने में समर्थ नहीं हो सका, अतः उसने देशविरति ग्रहण की। इस प्रसंग में आठवें व्रत सामायिक के अतिचारों का निरूपण किया जा चुका है। बतलाया गया था कि सामायिक की अवस्था में मन, वचन और काम का व्यापार अप्रशस्त नहीं होना चाहिए। जिस व्यापार से समभाव का विघात

हो, वह सब व्यापार अप्रशस्त कहलाता है। साथ ही उस समय 'मैं सामायिक व्रत की आराधना कर रहा हूँ' यह बात भूलना नहीं चाहिए। यह सामायिक का भूषण है, क्योंकि जिसे निरन्तर यह ध्यान रहेगा कि मैं इस समय सामायिक में हूँ, वह इस व्रत के विपरीत कोई प्रवृति नहीं करेगा। इसके विपरीत सामायिक का मान न रहना दूषण है। सामायिक के समय भी वैसा ही बोलना जैसा अन्य समय में बोला जाता है या अन्य कार्य करना, यह अनुचित है। इसी प्रकार सामायिक व्रत का आराधन व्यवस्थित रूप से करना श्रावक का परम कर्त्तव्य है। इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक व्रत में जिन मर्यादाओं का पालन करना आवश्यक है, उन्हें पूरी तरह ध्यान में रक्खा जाय और पालन किया जाय।

सामायिक के उक्त पांचों दोषों से ठीक तरह बचाया जाय और भावपूर्वक, विधि के साथ, सामायिक का आराधन किया जाय तो जीवन में समभाव की वृद्धि होगी और जितनी समभाव की वृद्धि होगी उतनी ही निराकुलता एवं शान्ति बढ़ेगी।

श्रावक का नौवां व्रत देशावकाशिक है। यह व्रत एक प्रकार से दिग्व्रत में की हुई मर्यादाओं के संक्षिप्तीकरण से सम्बन्ध रखता है। दिग्व्रत में श्रावक ने जीवन भर के लिए जिस-जिस दिशा में जितनी-जितनी दूर तक आवागमन करने का नियम लिया था, उसे नियतकाल के लिए सिकोड़ लेना देशावकाशिक व्रत है। उदाहरणार्थ—किसी श्रावक ने पूर्व दिशा में पांच सौ मील तक जाने की मर्यादा रक्खी है। किन्तु आज वह मर्यादा करता है कि मैं बारह घन्टों तक पचास मील से अधिक नहीं जाऊंगा- तो यह देशावकाशिक व्रत कहलाएगा।

इस व्रत का उद्देश्य है आशा-तृष्णा को घटाना और पापों से बचना। की हुई मर्यादा से बाहर के प्रदेश में हिंसा आदि पापों का परित्याग स्वतः हो जाता है और वहां व्यापार आदि करने का त्याग हो जाने के कारण तृष्णा का भी त्याग हो जाता है।

पहले बतलाया जा चुका है कि व्रत को सोच-समझ कर दृढ़ संकल्प के साथ अंगीकार करना चाहिए और अंगीकार करने के पश्चात् हर कीमत पर उसका पालन करना चाहिए। व्रत को स्वीकार कर लेना सरल है मगर पालना कठिन होता है। किन्तु जिसका संकल्प सुदृढ़ है उसके लिए व्रत पालन में कोई बड़ी कठिनाई नहीं होती। हां, यह आवश्यक है कि व्रत के स्वरूप को और उसके अतिचारों को भली-भांति समझ लिया जाए और अतिचारों से बचने का सदा ध्यान रखा जाए। इस व्रत के भी पांच अतिचार जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं है। वे इस प्रकार हैं—

(१) **आनयन प्रयोग**—मनुष्य के मन में कभी-कभी दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है। किसी प्रकार का व्रत की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला आकर्षण पैदा हो जाता है। उस समय वह कोई रास्ता निकालने की सोचता है। मर्यादित क्षेत्र से बाहर उसे जाना नहीं है मगर वहां की किसी चीज की आवश्यकता उसे महसूस होती है। ऐसी स्थिति में स्वयं न जाकर किसी दूसरे से कोई वस्तु मंगवा लेना, यह अतिचार है। इस प्रकार के प्रयोग से व्रत का मूल उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

(२) **प्रेष्य प्रयोगः**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी को भेज कर काम करवा लेना भी अतिचार है। किसी श्रावक ने सैलाना की सीमा में ही व्यापार करने का नियम लिया है, किन्तु इन्दौर या रतलाम में बिशेष लाभ देखकर पुत्र या मुनीम को भेजकर व्यापार करना, यह भी इस व्रत का अतिचार है। ऐसा करने से भी व्रत के उद्देश्य में बाधा आती है।

(३) **शब्दानुपातः**—आवाज देकर किसी को मर्यादित क्षेत्र के भीतर बुला लेना और बाहर जाकर जो काम करना था वह उसी क्षेत्र में कर लेना शब्दानुपात नामक अतिचार है। मान लीजिए किसी साधक ने पौषधशाला से बाहर न जाने का व्रत लिया। अचानक उसे बाहर का कोई काम पड़ गया। ऐसी स्थिति में वह स्वयं बाहर न जाकर किसी को आवाज देकर पौषधशाला

में ही बुला लेता है तो अपने स्वीकृत व्रत का अतिक्रमण करता है क्योंकि ऐसा करने से व्रत का उद्देश्य भंग होता है।

(४) रूपानुपातः—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के किसी व्यक्ति को बुलाने के अभिप्राय से अपना रूप-चेहरा दिखलाना भी अतिचार है। किसी प्रकार का इशारा करके काम करवा लेना भी इसीमें सम्मिलित है। पौषधशाला में बिस्तर नहीं आया या पानी नहीं आया। उसे मंगवाने के अभिप्राय से अपने आपको दिखलाना या संकेत करना रूपानुपात है।

(५) पुद्गल प्रक्षेपः:—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कंकर, पत्थर, रूमाल या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु फेंकना और बाहर की वस्तु मंगवाकर काम में लाना भी अतिचार है। यद्यपि वह बाहर गया नहीं किन्तु बाहर जाने का जो प्रयोजन था उसे उसने पूरा कर लिया। ऐसा करने से व्रत के मूल उद्देश्य में बाधा उपस्थित हुई। अतएव व्रत का आंशिक खण्डन हो गया।

उल्लिखित पाँच अतिचारों से बचने से ही देशावकाशिक व्रत को निर्मल रूप से पाला जा सकता है। इस व्रत का दायरा बहुत विशाल है। इसके अनेक रूप जो हो गए हैं, उसी से इसकी विशालता का अनुमान किया जा सकता है।

देशावकाशिक और सामायिक व्रत में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधक कार्यों का—आरम्भ समारम्भ का त्याग इस व्रत में अनिवार्य नहीं है। इस व्रत को धारण करने वाला साधक अपने मर्यादित क्षेत्र के बाहर आरम्भ आदि का त्यागी होता है किन्तु मर्यादित क्षेत्र के भीतर आरम्भ का त्याग करना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। सामायिक व्रत का पालन करने वाले साधक के लिए सावद्य योग का त्याग करना आवश्यक है। उसमें सम्पूर्ण पाप के त्याग का लक्ष्य होता है। सामायिक में देश सम्बन्धी कोई मर्यादा नहीं होती। सामायिक व्रत की आराधना के विषय में कहा गया है—

सामाइयंमि उ कडे, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥

सामायिक करने की अवस्था में श्रावक भी साधु के समान हो जाता है, इस कारण श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह बार-बार सामायिक करे।

तात्पर्य यह है कि आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग करके और सावद्य कार्यों का त्याग करके एक मुहूर्त्त पर्यन्त जो समताभाव धारण किया जाता है, वह सामायिक व्रत कहलाता है। स्पष्ट है कि सामायिक में किसी प्रकार के सावद्य व्यापार की छूट नहीं है। किन्तु देशावकाशिक व्रत में यह बात नहीं होती। उसका पालन करने वाला श्रावक मर्यादा के भीतर सावद्य व्यापार का त्यागी नहीं होता।

सामायिक करना एक प्रकार से साधुत्व का अभ्यास है। अतएव सामायिक का आराधन करने से आगे की भूमिका तैयार होती है।

इन दोनों व्रतों के स्वरूप में किंचित् अन्तर होने पर भी यह नहीं समझना चाहिए कि इनमें किसी प्रकार का साम्य ही नहीं है। आखिर तो दोनों ही व्रत अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार श्रावक के जीवन को संयम की ओर अग्रसर करने के लिए ही हैं। श्रावक किस प्रकार पूर्ण संयम के निकट पहुँचे, इस उद्द श्य की पूर्त्ति में दोनों व्रत सहायक हैं। श्रावक के जो तीन मनोरथ कहे गए हैं उनमें एक मनोरथ यह भी है कि कब वह सुदिन उदित होगा जब मैं आरम्भ-परिग्रह को त्याग कर अनगार धर्म को अंगीकार करूँगा? इसी मनोरथ को लक्ष्य में रख कर श्रावक को प्रत्येक प्रवृत्ति करनी चाहिए और जिसका लक्ष्य ऐसा उदात्त और पवित्र होगा वह सदा संयम परायण सत्पुरुषों का गुणगान करेगा।

आनन्द ने श्रावक व्रत की साधना स्वीकार की और अपने जीवन की कृतार्थता की ओर कुछ और कदम बढ़ाए। श्रावकों के लिए आनन्द का जीवन चरित सदा आदर्श रहेगा।

कई दिनों से जो कथानक रुक गया है, उस ओर भी ध्यान देना है। बतलाया जा चुका था कि आचार्य संभूतिविजय का स्वर्गवास हो गया और दुस्संवाद सुनकर महामुनि भद्रबाहु नेपाल से लौट आए। स्थूलभद्र भी साथ आए। उनकी सातों भगिनियाँ स्थूलभद्र के दर्शनार्थ आईं। वे एकान्त में साधना कर रहे थे। उस समय आचार्य भद्रबाहु ने कहा—चाहो तो उनके दर्शन कर सकती हो।

भगिनियाँ तो दर्शन करने के लिए उत्कंठित थीं ही, साथ ही उन्हें यह जानने की भी बड़ी अभिलाषा थी कि देखें मुनिराज स्थूलभद्र कैसी साधना कर रहे हैं? अब तक उन्होंने क्या अभ्यास किया है? क्या स्थिति है उनकी? इस प्रकार की उत्कंठा और प्रेरणा से वे स्थूलभद्र के पास पहुँचीं।

उधर स्थूलभद्र ने अपनी भगिनियों को आती देख विचार किया—इन्हें कुछ चमत्कार दिखलाना चाहिए। मैंने जो कुछ प्राप्त किया है, उसमें से जो कुछ दिखलाने योग्य है, उसकी बानगी दिखला देना चाहिए। अन्यथा इन्हें कैसे पता चलेगा कि नेपाल जैसे दूर देश में जाकर मैंने क्या प्राप्त किया है? इस प्रकार विचार करके स्थूलभद्र सिंह का रूप धारण करके गुफा के द्वार पर बैठ गए।

भगिनियाँ बड़ी उत्कंठा के साथ महासाधक स्थूलभद्र के दर्शन को जा रही थीं। एकान्त, भयानक एवं जनहीन वन्य प्रदेश था। मगर तपोव्रती जिस वन प्रदेश में निवास करता है उसकी भयानकता कम हो जाती है, यहां तक कि एक बालक भी वहां जा सकता है। साध्वियां निर्भय होकर उसी ओर चली जा रही थीं।

योगसाधना का सब . बड़ा विघ्न लोकैषणा है। योग की साधना करते-करते साधक में अनेक प्रकार की विस्मयजनक शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। योग शास्त्र के कर्ता आचार्य हेमचन्द्र ने योग के माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशुः शितः।
अमूलमन्त्रतन्त्रञ्च, कार्मणं निर्वृत्तिश्रियः॥
भूयांसोऽपि पाप्मानः, प्रलयं यान्ति योगतः।
चण्डवाताद् घनघटना, घनाघनघटा इव॥
कफविप्रुण्मलामर्श—सर्वौषधमहर्द्धयः।
संभिन्नश्रोतोलब्धिश्च, यौगं ताण्डवडम्बरम्॥

अर्थात्—योग समस्त विपत्तिरूपी लताओं के वितान को छेदन करने वाला तीक्ष्ण कुल्हाड़ा है और मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वशीभूत करने के लिए बिना मंत्र-तंत्र का कामरण है। योग के प्रभाव से सम्पूर्ण पापों का विनाश हो जाता है जैसे तेज आंधी से मेघों की सघन-घटाएँ तितर-बितर हो जाती हैं। योग के अद्भुत प्रभाव से किसी-किसी योगी को ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो जाती है कि उसका कफ सब रोगों के लिए औषध का काम करता है, किसी के मल में और मूत्र में रोगों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। किसी के स्पर्श मात्र से ही रोग दूर हो जाते हैं। किसी के मल, मूत्र आदि सभी व्याधि विनाशक हो जाते हैं। योग के प्रभाव से संभिन्नश्रोतोलब्धि भी प्राप्त होती है। जिसके प्राप्त होने पर किसी भी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों का काम लिया जा सकता है। जीभ से सूंघा जा सकता है, आंख से चखा जा सकता है, कान से देखा जाता है, इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य समस्त लब्धियां भी योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं।

नाना प्रकार की प्राप्त होने वाली लब्धियां योग का प्रधान फल नहीं है। अध्यात्मनिष्ठ योगी इन्हें प्राप्त करने के लिए योग की साधना नहीं करता। ये आनुषंगिक फल हैं। जैसे कृषक धान्य प्राप्त करने के लिए कृषि-कार्य करता है किन्तु धान्य के साथ उसे भूसा (खाखला) भी मिलता है, उसी प्रकार योगी मुक्ति के लिए साधना करता है परन्तु उक्त लब्धियाँ भी अनायास ही उसे प्राप्त हो जाती हैं।

गौतम स्वामी 'लब्धितणा भण्डार' थे किन्तु उन्होंने अपनी किसी लब्धि का उपयोग लोकों को चमत्कार दिखलाने के लिए नहीं किया। किन्तु सभी साधक समान नहीं होते। चमत्कार जनक शक्ति के प्राप्त होने पर भी उसका उपयोग न करने का धैर्य विरले साधक में ही होता है। दुर्बल हृदय मार्ग चूक जाते हैं। वे लोकैषणा के वशीभूत होकर चमत्कार दिखलाने में प्रवृत्त हो जाते हैं और यदि शीघ्र ही उस प्रवृत्ति से विमुख न हुए तो आत्मकल्याण के मार्ग से विमुख हो जाते हैं। सिद्धान्त का कथन है कि लब्धि के प्रयोग से संयम-चारित्र मलीन होता है।

स्थूलभद्र महान् साधक मुनि थे, किन्तु इस समय उनके चित्त में दुर्बलता उत्पन्न हो गई। उन्होंने विचार किया—ये भगिनी साध्वियां मेरे दर्शन के लिए आ रही हैं। वे छोटे-मोटे अंग-उपांग श्रुत को जानकर साधना कर रही हैं और दृष्टिवाद अंग के माहात्म्य को नहीं जानती हैं। क्यों न उन्हें उस महान् श्रुत का परिचय दिया जाय !

प्रायः प्रत्येक मनुष्य में अपनी महत्ता प्रदर्शित करने की अभिलाषा होती है। स्थूलभद्र जैसे उच्चकोटि के साधक भी इससे बच नहीं पाए।

विज्ञान के द्वारा आज अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक आविष्कार हुए हैं किन्तु यौगिक शक्ति के चमत्कारों की तुलना में वे नगण्य हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध और परिपूर्ण था। द्वादशांगी में बारहवां अंग दृष्टिवाद बहुत विशाल था। खेद है कि आज वह उपलब्ध नहीं है। तथापि उसमें वर्णित विषयों का कुछ-कुछ परिचय अन्य शास्त्रों से मिलता है। उससे पता चलता है कि ज्ञान-विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नहीं जिसका दृष्टिवाद में विवेचन न किया गया हो।

भूवलय नामक ग्रन्थ के विषय में आपने सुना होगा। वह एक अद्भुत ग्रन्थ है। वह अठारह भाषाओं में पढ़ा जा सकता है और संसार की समस्त विद्याएँ उसमें समाहित हैं, ऐसा दावा किया जाता है। कुछ वर्ष पूर्व भूतपूर्व

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी आदि को वह दिखलाया गया था। वह एक जैनाचार्य की असाधारण प्रतिभा का प्रतीक है। कर्नाटक प्रान्त के एक जैन विद्वान् उसका परिशीलन कर रहे थे। उसके मुद्रण की योजना भी उन्होंने बनाई थी। किन्तु अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण वह योजना अभी तक कार्यान्वित नहीं हो सकी। इस ग्रंथ के लेखक आचार्य का दिमाग कितना उर्वर और ज्ञान कितना व्यापक रहा होगा। यह ग्रन्थ अङ्क-लिपि में है। दृष्टिवाद को न जानने वाले आचार्य का एक ग्रन्थ जब संसार को चकित कर सकता है तो दृष्टिवाद के ज्ञाता के ज्ञान की विशालता का क्या कहना है। वास्तव में ज्ञान असीम है, उसकी गरिमा का पार नहीं है।

हाँ, तो स्थूलभद्र के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि दर्शनार्थ आने वाली साध्वियों को क्या चमत्कार दिखलाया जाय। आखिर रूप परिवर्त्तन की विद्या का प्रयोग करके उन्होंने सिंह का रूप धारण कर लिया।

साध्वियां मुनिराज के दर्शन के लिए पहुँचीं, मगर मुनिराज के दर्शन नहीं हुए। गुफा के द्वार पर एक सिंह दृष्टिगोचर हुआ। साध्वियां उसे देखकर पीछे हट गईं और वापिस लौट कर आचार्य भद्रबाहु के समीप पहुँचीं। उन्होंने बतलाया-जान पड़ता है मुनिराज स्थूलभद्र कहीं अन्यत्र विहार कर गए हैं। जिस गुफा में वे साधना करते थे वहां तो एक सिंह बैठा दिखाई दिया।

आचार्य इस घटना के रहस्य को समझ गए। सोचने लगे—क्या स्थूलभद्र दृष्टिवाद के ज्ञान के पात्र हैं? उनको दृष्टिवाद का ज्ञान देना उचित है? जैसे कच्चे घड़े में पानी भरने से घड़ा गल जाता है—विनष्ट हो जाता है और जल की भी हानि होती है, उसी प्रकार अपात्र को ज्ञान देने से उसका और दूसरों का अकल्याण होता है। प्राचीन काल में इस बात का बहुत विचार किया जाता था।

आचार्य भद्रबाहु इस विषय में क्या निर्णय करते हैं, यह यथावसर विदित होगा। अगर हम भी पात्रता प्राप्त कर गरिमामय ज्ञान प्राप्त करने की साधना करेंगे तो इहलोक और परलोक में परम कल्याण होगा। ●

पोषधव्रत के अतिचार

अहिंसा धर्म का प्रधान अंग है और संसार के समस्त धर्म सम्प्रदाय एक स्वर से अहिंसा की महिमा को स्वीकार करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि जब तक जीव और अजीव की पूरी जानकारी न हो जाय तब तक अहिंसा के परिपूर्ण स्वरूप को समझना और उसका आचरण करना संभव नहीं है, और इसके लिए विशिष्ट लोकोत्तर ज्ञान की अपेक्षा रहती है। तथापि जिसने जिस रूप में जीवतत्व को पहचाना, उसी रूप में अहिंसा का समर्थन और अनुमोदन किया है। हिंसा को धर्म मानने वाला कोई सम्प्रदाय या पंथ नहीं है। ज हिंसा के विधायक हैं वे भी उस हिंसा को अहिंसा समझ कर ही विधान करते हैं।

जैन धर्म के प्रवर्त्तक सर्वज्ञ थे, अतएव उन्होंने सूक्ष्म और स्थूल, दृष्य और अदृश्य, सभी प्रकार के जीवों को समझ कर पूर्ण अहिंसा का उपदेश दिया है। श्रीमद् आचारांग सूत्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है। इस सूत्र में पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के जीवों की रक्षा करना मुनिधर्म है, यह अत्यन्त सुन्दर और सुगम ढंग से समझाया गया है। चलते-फिरते त्रस जीवों की अहिंसा का विधान तो है ही।

अहिंसा का जो उपदेश दिया गया है, उसका प्रधान उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। जब तक अन्तःकरण में पूर्णरूपेण मैत्री और करुणा की भावना उदित नहीं होती तब तक आत्मा में कालिमा बनी रहती है और शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकट नहीं होता। उस कालिमा को हटा कर आत्मा को निर्मल बनाना और

आत्मा की सहज स्वाभाविक शक्तियों को प्रकाश में लाना, यही अहिंसा के आचरण का लक्ष्य है।

साधारण जन हिंसा के स्थूल रूप को अर्थात् जीव के घात को ही हिंसा समझते हैं, परन्तु ज्ञानी जनों का कथन है कि हिंसा का स्वरूप यहां तक सीमित नहीं है। आत्मिक विशुद्धि का विघात करने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति हिंसा है। इस दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि प्रत्येक पापाचरण हिंसा का ही रूप है। असत्य भाषण करना हिंसा है, अदत्त वस्तु को ग्रहण करना हिंसा है, अब्रह्मचर्य का सेवन हिंसा है और ममता या आसक्ति का भाव भी हिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

आत्मपरिणाम हिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवल मुदाहृतं शिष्यबोधाय॥

तात्पर्य यह है कि असत्य भाषण, अदत्तादान आदि सभी पाप वस्तुतः हिंसा रूप ही हैं, क्योंकि उनसे आत्मा के परिणाम का अर्थात् शुद्ध उपयोग का घात होता है। फिर भी असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को हिंसा से पृथक् जो निर्दिष्ट किया गया है, उसका प्रयोजन केवल शिष्यों को समझाना ही है। साधारण जन भी सरलता से समझ सकें, इसी उद्देश्य से हिंसा का पृथक्करण किया गया है।

आगे यही आचार्य कहते हैं—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेव।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

जिनागम का परिमाण बहुत विशाल है और पूरी तरह उसे समझना बहुत कठिन है। उसके लिए असीम धैर्य, गहरी लगन और ज्वलन्त पुरुषार्थ चाहिये। किन्तु सम्पूर्ण जिनागम का सार यदि कम से कम शब्दों में समझना हो तो वह यह है—'रागादि कषाय भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है एवं रागादि का उत्पन्न न होना अहिंसा है।'

इस प्रसंग में वैदिक धर्म का कथन भी हमें स्मरण हो आता है जो इससे बहुत अंशों में मिलता-जुलता है। वह है—

> अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनंद्वयम्।
> परोपकारः पुण्याय, पापाय परिपीड़नम्॥

लम्बे-चौड़े अठारह पुराणों में व्यासजी ने मूल दो ही बातों का विस्तार किया है। वे दो बातें हैं—

(१) परोपकार से पुण्य होता है।

(२) पर को पीड़ा उपजाना पाप है।

इस प्रकार अहिंसा धर्म है और हिंसा पाप है, इस कथन में जैन शास्त्र और वैदिक शास्त्र का सार समाहित हो जाता है। दोनों के कथन के अनुसार शेष समस्त धार्मिक क्रियाकाण्ड अहिंसा के ही पोषक, सहायक का समर्थक हैं, यह निर्विवाद है।

भारत वर्ष के दो प्रधान धर्मों के जो उल्लेख आपके समक्ष उपस्थित किये गये हैं, उनमें अत्यन्त समानता तो स्पष्ट है ही किन्तु थोड़ा-सा अभिप्राय-भेद भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत हुए बिना नहीं रहता। व्यासजी ने पर पीड़ा को पाप कहा है, मगर पर को पीड़ा पहुंचाना एक बाह्य क्रिया है। पर बाहर की क्रिया किससे प्रेरित होती है? उसका मूल क्या है! इस प्रश्न का उनके कथन में उत्तर नहीं मिलता। व्यासजी ने इस बारीकी का विश्लेषण नहीं किया। मगर आचार्य अमृतचन्द्र ने उस ओर ध्यान दिया है। अन्तःकरण में राग-द्वेष रूप विकार जब उत्पन्न होता है तभी मनुष्य दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है। इस कारण आचार्यजी ने रागादि को हिंसा कहा है। इस कथन की विशेषता यह है कि कदाचित् परपीड़ा उत्पन्न न होने पर भी रागादि के उदय से जो भावहिंसा होती है, उसका भी इसमें समावेश हो जाता है। इस प्रकार जैनागम की दृष्टि मूल-स्पर्शिनी और गम्भीर है।

इतने विवेचन से आप समझ गए होंगे कि मूल पाप हिंसा है। असत्य, स्नेह आदि उसकी शाखाएं अथवा प्रशाखाएं हैं। शास्त्रकार अत्यन्त दयालु और सर्वहितकारी होते हैं। वे तत्त्व को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि सभी स्तरों के मुमुक्षु साधक उसे हृदयंगम कर सकें और जो आचरण करने योग्य है उसे आचरण में ला सकें। अतएव आचरण की सुविधा के लिए विभिन्न व्रतों का पृथक-पृथक नामकरण किया गया है। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का एक मात्र लक्ष्य यही है कि आराधक असंयम से बच सके और स्वात्म रमण की ओर अग्रसर हो सके।

इसी उद्देश्य से यहां भी व्रतों और उनके अतिचारों का विवेचन किया जा रहा है। ये सभी व्रत आत्मा का पोषण करने वाले हैं, अतएव पोषध हैं, किन्तु पोषध शब्द ग्यारहवें व्रत के लिए रूढ़ है।

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या, यह विशिष्ट दिन (पर्व) समझे जाते हैं। इनमें उपवास आदि तपस्या करना, समस्त पाप-क्रियाओं का परिहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शारीरिक श्रृंगार का त्याग करना पोषधव्रत कहलाता है। इसे 'पोषधोपवास' भी कहते हैं। 'पोषध' और 'उपवास' इन दो शब्दों के मिलने से 'पोषधोपवास' शब्द निष्पन्न होता हैं। 'उप—समीपे वसनं उपवासः' अर्थात् अपनी आत्मा एवं परमात्मा के समीप वास करना और सांसारिक प्रपंचों से विरत हो जाना उपवास कहा गया है। खाना—पीना आदि क्रियाओं में समय नष्ट न करके त्यागभाव से रहना, अपने स्वभाव के पास आना है। राग-द्वेष की परिणति से रहित होकर अपने स्वभाव में रमण करने का यह अभ्यास है। उपवास का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लङ्घनकं विदुः॥

क्रोध आदि कषायों का, इन्द्रियों के विषयों के सेवन का और आहार

का त्याग करना सच्चा उपवास है। कषायों और विषयों का त्याग न करके सिर्फ आहार का त्याग करना उपवास नहीं कहलाता—वह तो लंघन मात्र है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पोषध का अर्थ है—आत्मिक गुणों का पोषण करने वाली क्रिया। जिस-जिस क्रिया से आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों का विकास करने में समर्थ बने, विभाव परिणति से दूर हो और आत्म-स्वरूप के सन्निकट आए, वही पोषध है।

पोषधव्रत अंगीकार करते समय निम्नोक्त चार बातों का त्याग आवश्यक है—

(१) आहार का त्याग।

(२) शरीर के सत्कार या संस्कार का त्याग, जैसे केशों का प्रसाधन, स्नान, चटकीले-भड़कीले वस्त्रों का पहिनना, अन्य प्रकार से शरीर को सुशोभन बनाना।

(३) अब्रह्म का त्याग।

(४) पापमय व्यापार का त्याग।

मन को सर्वथा निर्व्यापार बना लेना संभव नहीं है। उसका कुछ न कुछ व्यापार होता ही रहता है। तन का व्यापार भी चलेगा और वचन के व्यापार का विसर्जन कर देना भी इस व्रत के पालन के लिए अनिवार्य नहीं है। ध्यान यह रखना चाहिए कि ये सब व्यापार व्रत के उद्देश्य में बाधक न बन जाएं। विष भी शोधन कर लेने पर औषध बन जाता है, इसी प्रकार मन बचन और काम के व्यापार में आत्मिक गुणों का घात करने की जो शक्ति है उसे नष्ट कर दिया जाय तो वह भी अमृत बन सकता है। तेरहवें गुणस्थान में पहुंचे हुए सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान् के भी तीनों योग विद्यमान रहते हैं, किन्तु वे उनकी परमात्म दशा में बाधक नहीं होते। इसी प्रकार सामान्य साधक का यौगिक व्यापार यदि चालू रहे किन्तु वह पापमय न हो तो व्रत की साधना में बाधक नहीं होता।

वास्तविकता यह है कि बाह्य प्रवृत्ति मात्र से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। नेत्र देखते हैं, कान सुनते हैं, अन्य इन्द्रियां अपना-अपना कार्य करती हैं। इन्द्रियदमन का अर्थ कई लोग उनकी बाहरी प्रवृत्ति को रोक देना समझते हैं। आँखें फोड़ लेना चक्षुरिन्द्रिय का दमन है, ऐसी किसी-किसी की समझ है। किन्तु भगवान् महावीर इसे इन्द्रियदमन नहीं कहते। अपने-अपने विषय को इन्द्रियां भले ग्रहण करती रहें मगर उस विषय ग्रहण में राग द्वेष के विष का अम्मिश्रण नहीं होना चाहिए। किसी वस्तु को देख लेना ही पाप नहीं है, किन्तु उस वस्तु को हम अपने मन से सुन्दर अथवा असुन्दर रूप देकर उसके प्रति रागभाव और द्वेषभाव धारण करते हैं, यह पाप है।

किन्तु यहां एक बात ध्यान में रखनी होगी। उक्त कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिये कि इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और यह मान कर कि राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होने दिया जायगा, उन्हें किसी भी विषय में प्रवृत्त होने दिया जाय। राग-द्वेष की परिणति निमित्त पाकर उभर आती है। अतएव जब तक मन पूर्ण रूप से संयत न बन जाए, मन पर पूरा काबू न पा लिया जाय, तब तक साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह राग-द्वेष आदि विकारों को उत्पन्न करने वाले निमित्तों से भी बचे।

क्या हमारे मन में इतनी वीतरागता आ गई है कि उत्तम से उत्तम भोजन करते हुए भी लेशमात्र प्रीति का भाव उत्पन्न न हो? क्या हम ऐसा समभाव प्राप्त कर चुके हैं कि खराब से खराब भोजन पाकर भी अप्रीति का अनुभव न करें? क्या मनोहर और वीभत्स रूप को देखकर हमारा चित्त किसी भी प्रकार के विकार का अनुभव नहीं करता? इत्यादि प्रश्नों को अपनी आत्मा से पूछिये। यदि आपकी आत्मा सचाई के साथ उत्तर देती है कि अभी ऐसी उदासीन भावना नहीं आई है तो आपको इन्द्रियों के विषयों के सेवन से भी बचना चाहिए और विकार वर्धक निमित्तों से दूर रहना चाहिए। साधारण साधक में इस प्रकार का वीतराग भाव उदित नहीं हो पाता। इसी कारण

(२) **आसन को भलीभांति देखे बिना बैठना**—यह भी इस व्रत का अतिचार है। इसके सेवन से भी वही हानि होती है जो बिस्तर को न देखने से होती है।

(३) **भूमि देखे बिना लघुशंका–दीर्घशंका करना**—मल-मूत्र का त्याग करने से पहले भूमि का भलीभांति निरीक्षण कर लेना आवश्यक है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भूमि में रंध्र, छिद्र, दरार या बिल आदि न हों तथा छोटे-मोटे जीव-जन्तु न हों। बहुत बार जमीन पोली होती है और कई जन्तु सर्दी गर्मी या भय से बचने के लिए उसके भीतर आश्रय लेकर स्थित होते हैं। उन्हें किसी प्रकार अपनी ओर से बाधा न पहुँचे, इस बात की सावधानी रखना पोषधव्रती का कर्त्तव्य है।

(४) **पोषधव्रत का सम्यक् प्रकार से विधिपूर्वक पालन न करना**—यह भी व्रत की मर्यादा को भंग करना है, अतएव यह भी अतिचारों में परिगणित है।

(५) **निद्रा आदि प्रमाद में समय नष्ट करना**--यह भी अतिचार है। इस व्रत के अतिचारों पर विचार करने से स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि श्रावक की चर्या किस प्रकार की होनी चाहिए। जीवन के क्या छोटे और क्या बड़े, सभी व्यवहारों में उसे सावधान रहना चाहिए और ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि उसके द्वारा किसी भी प्राणी को निरर्थक पीड़ा नपचे। हुँ जो छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं की रक्षा करने की सावधानी रक्खेगा और उन्हें भी पीड़ा पहुँचाने से बचेगा, वह अधिक विकसित बड़े जीवों की हिंसा कदापि नहीं करेगा। कतिपय लोग जिन्होंने जैन धर्म में प्रतिपादित आचार पद्धति का और विशेषतः अहिंसा का अध्ययन नहीं किया है, ऐसा समझते हैं कि जैनधर्म में कीड़ी–मकोड़े की दया पर अधिक जोर दिया गया है, किन्तु जो आनन्द श्रावक के द्वारा ग्रहीत व्रतों का विवरण पढ़ेंगे और उसे समझने का प्रयत्न करेंगे, उन्हें स्पष्ट विदित होगा कि इस आरोप में लेश मात्र भी सचाई नहीं है। जैनाचार के प्रणेताओं ने अपनी दीर्घ और सूक्ष्म दृष्टि से बहुत सुन्दर

आगम में 'चित्तभित्ति न निज्झाए' अर्थात् दीवाल पर बने हुए विकारजनक चित्रों को भी न देखे, इस प्रकार के शिक्षा वाक्य दिये गए हैं।

पोषधव्रत में भी विकार विवर्धक विषयों से बचने की आवश्यकता है।

साधना जब एक धारा से चले तब उसमें पूर्ण-अपूर्ण का प्रश्न नहीं उठता, किन्तु मानसिक दुर्बलता ने प्रभाव डाला तो पूर्ण और अपूर्ण का भेद किया गया। पूर्वकाल में सबल मन वाले साधक थे, अतएव उनका तप निर्जल के रूप में चलता था। अभी तक के शास्त्रों के आलोडन से इसमें कहीं अपवाद दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किन्तु पोषधव्रत में विभाग करने की आवश्यकता जब हुई तो आचार्यों ने उसे दो भागों में विभक्त कर दिया—देशपोषध और सर्व-पोषध। देश-आहार त्याग और पूर्ण-आहार त्याग नाम प्रदान किये गये। देशपोषध को दशम पोषध कहा जाने लगा। दशम पोषध का क्षेत्र काफी बड़ा है।

यद्यपि पूर्वाचार्यों ने शारीरिक सत्त्व की कमी आदि कारणों से प्रशस्त इरादे से ही छूट दी किन्तु वह छूट क्रमशः बढ़ती ही चली गई। मानव स्वभाव की यह दुर्बलता सर्व-विदित है कि छूट जब मिलती है तो शिथिलता बढ़ती ही जाती है।

पोषधव्रत के भी पांच अतिचार हैं, जिन्हें जानकर त्यागना चाहिए। वे इस प्रकार हैं:—

(१) **बिस्तर अच्छी तरह देखे बिना सोना**—पूर्वकाल में राज-घराने के लोग और श्रीमन्तजन भी घास आदि पर सोया करते थे। उसे देखने-भालने की विशेष आवश्यकता रहती है। ठीक तरह देख-भाल न करने से सूक्ष्म जन्तुओं के कुचल जाने की और मर जाने की संभावना रहती है। अतएव बिस्तर पर लेटने और सोने से पूर्व उसे सावधानी के साथ देख लेना प्रत्येक दयाप्रेमी का कर्त्तव्य है। जो इस कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा करता है वह अपने पोषधव्रत को दूषित करता है।

और सुसम्बद्ध आचार योजना की है। इसके अनुसार जीवन यापन करने वाला मनुष्य अपने जीवन को पूर्ण रूप से सुखमय, शान्तिमय और फलमय बना सकता है और उसके किसी भी लौकिक कार्य में व्याघात नहीं होता।

आचार का मूल विवेक है। चाहे कोई श्रमण हो अथवा श्रमणोपासक, उसकी प्रत्येक क्रिया विवेकयुत होनी चाहिए जो विवेक का प्रदीप सामने रख-कर चलेगा, उसे गलत रास्ते पर चल कर या ठोकर खाकर भटकना नहीं पड़ेगा। वह द्रुतगति से चले या मन्दगति से, पर कभी न कभी लक्ष्य तक पहुँच ही जाएगा।

पोषधव्रत की आराधना एक प्रकार का अभ्यास है जिसे साधक अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाने का प्रयत्न करता है। अतएव पोषध को शारी-रिक विश्रान्ति का साधन सहीं समझना चाहिए। निष्क्रिय होकर प्रमाद में समय व्यतीत करना अथवा निरर्थक बातें करना पोषध व्रत का सम्यक् पालन नहीं है। इस व्रत के समय तो प्रतिक्षण आत्मा के प्रति सजगता होनी चाहिए। दूसरा कोई देखने वाला हो अथवा न हो, फिर भी व्रत की आराधना आन्तरिक श्रद्धा और प्रीति के साथ करना चाहिए। ऐसा किये बिना रसानुभूति नहीं होगी। रसानुभूति तो विधिपूर्वक भीतरी लगन के साथ पालन करने से ही होगी। साधना में आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए। जब आनन्द की अनुभूति होने लगती है तो मनुष्य साधना करने के लिए बार-बार उत्साहित और उत्कण्ठित होता है।

गृहस्थ आनन्द ने महावीर स्वामी के चरणों में उपस्थित होकर अंगी-कार किये व्रतों के अतिक्रमणों को समझ लिया और दृढ़ संकल्प किया कि मुझे इन सब से बचना है।

यदि पूरी वस्तु प्राप्त न हो सके तो आधी में सन्तोष किया जाता है, किन्तु जिसे पूरी प्राप्त हो वह आधी के लिए क्यों ललचाएगा? गृहस्थ पर्व-दिवसों में विशिष्ट साधना को अपना कर आनन्द पाता है, किन्तु पूर्ण साधना

में निरत मुनि के लिए तो यावज्जीवन पूर्ण साधना ही रहती है। उनका जीवन सर्वविरति साधना में लगा रहता है।

मुनि आराधना के तीन वर्ग बना लेते हैं—(१) ज्ञान (२) दर्शन और (३) चारित्र। वे इन तीनों की साधना में अपनी समग्र शक्ति लगा देते हैं। विराधना से उनके मन में हलचल पैदा हो जाती है।

आचार्य भद्रबाहु स्वयं ज्ञान और चारित्र की आराधना कर रहे हैं तथा दूसरे आराधकों का पथ-प्रदर्शन भी कर रहे हैं। मुनि स्थूलभद्र प्रधान रूप से श्रुत की आराधना में संलग्न हैं।

पहले बतलाया जा चुका है कि आचार्य भद्रबाहु से श्रुत का अभ्यास करने के लिए कई साधु नैपाल तक गए थे, परन्तु एक स्थूलभद्र के सिवाय सभी लौट आए थे। जितेन्द्रिय स्थूलभद्र विघ्नबाधाओं को सहन करते हुए डटे रहे उनके मनमें निर्बलता नहीं आई। उत्साह उनका भग्न नहीं हुआ वे धैर्य रख कर अभ्यास करते रहे।

किन्तु मन बड़ा दगाबाज़ है। इसे कितना ही थाम कर रक्खा जाय, कभी न कभी उच्छृंखल हो उठता है। इसी कारण साधकों को सावधान किया गया है कि मन पर सदैव अंकुश रक्खो। इसे क्षणभर भी छुट्टी मत दो। जरा-सी असावधानी हुई कि चपल मन अवांच्छित दिशा में भाग खड़ा होता है। मन बड़ा धृष्ट एवं साहसी है। वह बड़ी कठिनाई से काबू में आता है और सदैव सावधान रहे बिना काबू में रहता नहीं है।

स्थूलभद्र का जो मन रूपकोषा के रंगमहल में हिमालय के समान अविचलित रहा और नैपाल तक जाकर विशिष्ट श्रुत के अभ्यास आदि की कठिनाइयों में भी दुर्बल न बना, वही मन लोकैषणा के मोह में पड़ कर मलीन हो गया। सातों साध्वियों के पहुँचने पर एक घटना घटित हो गई। स्थूलभद्र अपनी अपूर्ण सिद्धि को पचा न सके। वे गिरि-गुफा के द्वार पर सिंह का रूप धारण करके बैठ गए।

आचार्य को जब इस घटना का पता चला तब एक नयी विचार-धारा उनके मानस में उत्पन्न हुई। उनका समुद्र के समान विशाल और गम्भीर हृदय भी क्षुब्ध हो उठा। वे सोचने लगे-मैंने बालक को तलवार पकड़ा दी। स्थूलभद्र में जिस ज्ञान की पात्रता नहीं थी, वह ज्ञान उन्हें दे दिया। अपात्रगत ज्ञान अनर्थकारी होता है। स्थूलभद्र अपनी साधना की सफलता को प्रकट करने के लोभ का संवरण न कर सके। वे अपनी भगिनियों के समक्ष अपनी विशिष्टता को प्रदर्शित करने के मोह को न जीत सके।

स्थूलभद्र की मानसिक स्थिति आचार्य भद्रबाहु से छिपी न रही। वे उनकी आत्म प्रकाशन वृत्ति से आहत हुए। स्थूलभद्र की इस स्खलना से उनका गिरि सदृश हृदय भी कम्पित हो गया। वह सोचने लगे—साधु का जीवन अखण्ड संयममय होता है। यदि समुद्र की जलराशि भी छलकने लगी और उसमें भी बाढ़ आने लगी तो अन्य जलाशयों जा क्या हाल होगा? साधु के लिए तो अपेक्षित है कि जो कुछ वह जानता है उसे गोपन कर के रक्खें और कोई न जान सके कि वह कितना जानता है। मगर स्थूलभद्र में भी यह गोपन-क्षमता नहीं। अभी क्या हुआ है? आगे तो बड़ी अद्‌भुत विद्याएँ आने वाली हैं। मगर स्थूलभद्र को क्या दोष दिया जाय, यह काल का विषम प्रभाव है। आगे और अधिक बुरा समय आने वाला है।

गोपनीय विद्या के लिए सुपात्र होना चाहिए। अपात्र को देना ऐसा ही है जैसे वच्चे वे हाथ में नंगी तलवार या गोली-भरा रिवाल्वर देना। इससे स्व पर दोनों की हानि होतो है—विद्यावान् की भी तथा दूसरों की भी अतएव गोपनीय विद्याओं को अत्यन्त सुरक्षित रक्खा जाता है। आज का विज्ञान अपात्रों के हाथ में पड़ कर जगत को प्रलय की ओर ले जा रहा है। अनार्यों के हाथ लगा भौतिक विज्ञान विध्वंसक कार्यों में प्रयुक्त हो रहा है। भौतिक तत्त्व के समान अगर कुछ अद्‌भुत विद्याएँ भी उन्हें मिलजाएँ तो अतीव हानिजनक सिद्ध हो सकती हैं। अतएव पात्र देख कर ही विद्या दी जानी चाहिए। अपात्र विद्या प्राप्त कर के या तो उसे अपना पेट भरने का साधन बना लेगा या

दूसरों को आतंकित करेगा, सताएगा इसी कारण सत्पुरुष विद्या को गोपनीय धन कहते हैं और फिर अतिशय उच्च कोटि की विद्या तो विशेष रूप से गोपनीय होती है।

आचार्य भद्रबाहु चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। उनके मन में लहर उठी-क्या पूर्वों का ज्ञान देना बंद कर देना चाहिए ? एक विद्या, जीवन को ऊँचा उठाने के लिए जिस किसी को भी दी जा सकती है। श्रोता चाहे सजग हो या न हो, चाहे क्रियाशील हो या निष्क्रिय हो, सभी को दी जा सकती है। मोक्ष-साधना सम्बन्धी ज्ञान देने में पात्र-अपात्र का विचार नहीं किया जाता। किन्तु ज्ञेय विषयों का ज्ञान देने का जहाँ प्रश्न हो, वहाँ पात्र-अपात्र की परीक्षा करना आवश्यक है। जो पात्र हो और उस ज्ञान को पचा सकता हो उसी को वह ज्ञान देना चाहिए । बालक को गरिष्ठ भोजन खिलाना उस के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है। इससे उसे लाभ नहीं होता, रोग हो जाता है। इसी प्रकार अपात्र को अज्ञेय विषयक विद्या देना उसके लिए अहित कर है और दूसरों के लिए भी।

ज्ञान एक रसायन है, जिससे आत्मा की शक्ति बढ़ती है इस परलोक में परम कल्याण होता है। जो पात्रता प्राप्त कर के ज्ञान-रसायन का सेवन करेंगे, निश्चय ही उनका अक्षय कल्याण होगा।

———

विष से अमृत

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अर्थात् मंगलमय कार्यों में अनेक विघ्न आया करते हैं। इस उक्ति के अनुसार साधना में भी अनेक बाधाओं का आना स्वाभाविक है, क्योंकि आध्यात्मिक साधना महान् मंगलकारी है, बल्कि कहना चाहिए कि संसार में आत्मसाधना से बढ़ कर या उसके बराबर मांगलिक कार्य दूसरा नहीं है। जो साधक प्रबल वैराग्य और सुदृढ़ साहस के साथ इस क्षेत्र में अग्रसर होते हैं वे अनुकूल और प्रतिकूल बाधाओं के आने पर भी विचलित नहीं होते। बाधाएं उन्हें पराजित नहीं कर सकतीं। वे अप्रमत्त भाव से जागरण की स्थिति में रहते हैं और आने वाली बाधाओं को अपने आत्मिक सामर्थ्य के प्रकट होने में सहायक समझते हैं। आने वाली प्रत्येक विघ्नबाधा उनकी साधना को आगे ही बढ़ाती है।

शास्त्रों का पारायण कीजिए तो विदित होगा कि घोर से घोर संकट आने पर भी सच्चे साधक सन्त अपने पथ से चलायमान नहीं हुए, बल्कि उस संकट की आग में तप कर वे और अधिक उज्ज्वल हो गए। जिस कष्ट की कल्पना मात्र ही साधारण मनुष्य के हृदय को थर्रा देती है, उस कष्ट को वे सहज भाव से सहन कर सके। आखिर इस अद्भुत साहस और धैर्य का रहस्य क्या है? किस प्रकार उनमें ऐसी दृढ़ता आ सकी? इसके अनेक कारण हैं। उनके विवेचन का यहां अवकाश नहीं तथापि इतना कह देना आवश्यक है कि आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र का साधक-योगी इस तथ्य को भलीभांति समझता है कि आत्मा और देह एक नहीं है। यों जानने को तो आप भी जानते हैं कि दोनों में भेद है किन्तु योगी जनों का जानना उनकी जीती-जागती अनुभूति

बन जाती है। इस अनुभूति के कारण वे आत्मा को देह से पृथक् अनन्त आनन्दमय चिन्मय तत्त्व समझते हैं और दैहिक कष्टों को आत्मा के कष्ट नहीं समझते। दैहिक अध्यास से अतीत हो जाने के कारण वे देह में स्थित होते हुए भी देहातीत अवस्था का अनुभव करते हैं।

इस दशा में पहुँचना और निरन्तर इसी अनुभूति में रमण करना आसान नहीं है। इसके लिए दीर्घकालीन अभ्यास की आवश्यकता है। वह अभ्यास वर्त्तमान जीवन का भी हो सकता है और पूर्वभवों का संचित भी हो सकता है। गजसुकुमार मुनि ने भीषणतम उपसर्ग सहन करने में जो विस्मयजनक दृढ़ता प्रदर्शित की, वह उनके पूर्वार्जित संस्कारों का ही परिणाम कहा जा सकता है। प्रत्येक आस्तिक इस तथ्य को स्वीकार करता है कि किसी भी जीव का जब जन्म होता है तो वह जन्म-जन्मातरों के संस्कार साथ लेकर ही जन्मता है। आत्मा की जो यात्रा अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए जारी है, एक-एक जन्म उसका एक-एक पड़ाव ही समझना चाहिए।

इन्हीं सब तथ्यों को सन्मुख रख कर महापुरुषों ने आचार-शास्त्र की योजना की है। पोषधोपवास भी इसी योजना की एक कड़ी है। परिमितकालीन पोषधोपवास की साधना भी आत्मा के पूर्वोक्त संस्कार को सबल बनाती है और देहाध्यास ऊपर उठाने में सहायक होती है। इस प्रकार आत्मा के गुणों को पुष्ट करने वाले सभी साधन पोषध हैं।

भगवान् महावीर ने पोषधोपवास के पांच अतिचार आनन्द को बतलाए और उनसे बचते रह कर साधना करने की प्रतिज्ञा की।

यह सत्य है कि आत्मा शरीर से पृथक् है, मगर यह भी असत्य नहीं कि आत्मा जब तक अपने असली रूप में न आ जावे तब तक शरीर के साथ ही, बल्कि उसके सहारे ही रहता है और शरीर का आधार अन्न-पानी है। 'अन्नं वै प्राणाः' अर्थात् अन्न ही प्राण हैं—अन्न के अभाव में जीवन लम्बे समय तक कायम नहीं रह सकता। कोई भी जीवधारी सदा अन्न के बिना काम नहीं चला

सकता। भगवान् ने अन्न ग्रहण करने का निषेध भी नहीं किया है, अलबत्ता यह कहा है कि इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि जीवन खाने के लिए ही न बन जाए और खाने में आसक्ति न रक्खी जाय।

जब आहार ग्रहण करने की स्थिति साधक के समक्ष आती है तो वह खुराक में संविभाग करता है। इसे अतिथि संविभाग या आहार संविभाग कहते हैं।

पोषध व्रत का काल समाप्त होने के पश्चात् जब आहार ग्रहण करने को उद्यत होता है तब आराधक की यह अभिलाषा होती है कि महात्माओं को कुछ दान करके खाऊं तो मेरा खाना भी श्रेयस्कर हो जाय। अवसर के अनुसार इस अभिलाषा को पूर्ण करना अतिथि संविभाग है।

पति, पुत्र, पुत्री, जामाता आदि के आने का काल निश्चित होता है। प्रायः ये पर्व आदि के समय हैं, किन्तु त्यागी महात्माओं के आने की कोई तिथि नियत नहीं होती, अतएव उन्हें अतिथि कहा गया है। जिसने संसार के समस्त पदार्थों की ममता तज दी है, जो सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह से विमुक्त हो चुका है और संयममय जीवन यापन करता है, वह अतिथि कहलाता है। कहा भी है—

हिरण्ये वा सुवर्णे वा, धने धान्ये तथैव च।
अतिथिं तं विजानीयाद्यस्य लोभो न विद्यते॥

× × × ×

सत्यार्जवदयायुक्तं, पापारम्भविवर्जितम्।
उग्रतपस्समायुक्त-मतिथिं विद्धि तादृशम्॥

अर्थात् हिरण्य, स्वर्ण, धन और धान्य आदि पदार्थों में जिसकी ममता नहीं है, जो जागतिक वस्तुओं के प्रलोभन से ऊपर उठ गया है, वह अतिथि है।

जिसके जीवन में सत्य, सरलता और दया घुल-मिल गए हैं, जिसने समस्त पापमय व्यापारों का त्याग कर दिया है और जो तीव्र तपश्चर्या करके आत्मा को निर्मल बनाने में संलग्न है, वही अतिथि कहलाने योग्य है।

अपने निमित्त खाने और पहनने आदि के लिए जो सामग्री जुटाई हो उसमें से कुछ भाग अतिथि को अर्पित करना संविभाग कहलाता है। सहज रूप में अपने लिए बनाये या रक्खे हुए पदार्थों के अतिरिक्त त्यागियों के उद्देश्य से ही कोई वस्तु तैयार करना, खरीदना या रख छोड़ना उचित नहीं।

कई लोग यह सोचते हैं कि जैसा दगे वैसा पाएंगे; किन्तु यह दृष्टि भी ठीक नहीं है। भुने चने देने से चने ही मिलेंगे और हलुआ देने से हलुआ ही मिलेगा, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। दान में देय वस्तु के कारण ही विशेषता नहीं आती। वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषद्तद्विशेषः।

दान के फल में जो विशेषता आती है, उसके चार कारण हैं:—

(१) विधि (२) देय द्रव्य (३) दाता की भावना और (४) लेने वाला पात्र। जहां यह चारों उत्कृष्ट होते हैं, वहां दान का फल भी उत्कृष्ट होता है। किन्तु इन चारों कारणों में भी दाता की भावना ही सर्वोपरि है। अगर दाता निर्धन होने के कारण सरस एवं बहुमूल्य भोजन नहीं दे सकता, किन्तु उत्कृष्ट भक्ति-भावना के साथ निष्काम भाव से देता है तो निस्सन्देह वह उत्तम फल का भागी होता है। पवित्र भाव से समय पर दी गई सामान्य वस्तु भी कल्पवृक्ष है। अगर यह मान लिया जाय कि चिकना देने वाला चिकना पाएगा और रूखा देने वाला रूखा ही पाएगा, तो फिर भावका का मूल्य ही क्या रहा?

चन्दनबाला तेले की पारणा करने को उद्यत थी। पारणा के लिए उसे उड़द के बाकले मिले थे। राजकुमारी होकर भी वह बड़ी विषम परिस्थितियों के चक्कर में पड़ गई थी। मूला सेठानी अत्यन्त ईर्षालु एवं कर्कशा स्वभाव की

थी। उसकी बदौलत चन्दनबाला पर गहरा संकट था। पारणा के लिए प्राप्त बाकले उसके सामने थे। फिर भी वह प्रतीक्षा कर रही थी कि कोई सन्त-महात्मा इधर पधार जाएँ और कुछ भाग ग्रहण करलें तो मेरी तपस्या में चार चांद लग जाएं, मैं तिर जाऊं। उसका पुण्य अत्यन्त प्रवल था कि तीर्थनाथ भगवान् महावीर स्वयं ही पधार गए।

हथकड़ियों और बेड़ियों से जकड़ी चन्दनबाला द्वार पर बैठी प्रतीक्षा कर रही थी। उसका एक पैर द्वार के बाहर और एक पैर भीतर था। संकट-ग्रस्त अवस्था में थी। फिर भी भगवान् को देख कर उसका रोम-रोम उल्लसित हो उठा। चित्त प्रफुल्लित हो गया। चेहरे पर दीप्ति चमक उठी। परन्तु यह क्या हुआ? भगवान् चन्दनबाला के निकट तक आकर उल्टे पांव वापिस लौट पड़े। शारीरिक ताड़ना, तीन दिन की भूख, शिरोमुण्डन, तिरस्कार और जघन्य लांछना से भी जो हृदय द्रवित नहीं हुआ था और वज्र के समान कठोरता धारण किये था, वह भगभान् को भिक्षा लिये बिना वापिस लौटते देख धैर्य न धारण कर सका। चन्दना की आंखों से मोती बरसने लगे। भगवान् की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और उन्होंने पुनः लौट कर चन्दना के हाथों से बाकला ग्रहण किए। देवों ने सुवर्ण की वृष्टि की और 'अहो दानम्, अहो दानम्' की ध्वनि से गगनमण्डल गूंज उठा।

उड़द के छिलकों का दान और उसकी इतनी कद्र हुई! देवताओं ने उस दान की प्रशंसा की। यह सब उदात्त भक्तिभाव का प्रभाव था। वास्तव में मूल्य वस्तु का नहीं, भक्ति-भावना का है। अतएव यह आवश्यक नहीं कि सत्पात्र को मूल्यवान् वस्तु दी जाय, मगर आवश्यक यह है कि गहरी भक्ति और प्रीति के साथ निर्दोष वस्तु दी जाय। अलबत्ता विवेकवान् दाता इस बात का ध्यान अवश्य रक्खेगा कि देश और काल कैसा है? मेरे दान से महात्मा को साता तो पहुँचेगी? तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट भक्ति के साथ, विधिपूर्वक उत्कृष्ट पात्र को दिया गया दान उत्कृष्ट फलदायक होता है।

जिसने भोजन पकाना, पकवाना, खरीदना, खरीदवाना आदि आरम्भ सर्वथा त्याग दिया है, जो निरन्तर तप-संयम की आराधना में निरत है, जो संयम-पालन के हेतु ही देह धारण के लिए आहार ग्रहण करता है, जिसने पक्षी के समान संग्रह एवं संचय की इच्छा का भी त्याग कर दिया है, जो लाभ-अलाभ में समभाव रखता है और अपने आदर्श जीवन एवं वचनों से जगत् को शाश्वत कल्याण का पथ प्रदर्शित करता है, वह दान का उत्कृष्ट पात्र है। ऐसा सत्पात्र जिसे मिल जाए वह महान् भाग्यशाली है।

सुपात्र को दान देना विष में से अमृत निकालना है। गृहस्थ आरम्भ-समारम्भ करके दोष का भागी होता है किन्तु अपने निज के लिए किया हुआ वह दोष भी साधु को दान देने से महान् लाभ का परम्परा कारण बन जाता है। इस दृष्टि से बारहवें व्रत का विशेष महत्व है।

बारहवें व्रत के भी पांच अतिचार हैं, जिनसे बचने पर ही व्रत का पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सकता है। वे अतिचार निम्नलिखित हैं, जो ज्ञेय हैं पर आचरणीय नहीं—

(१) देय वस्तु को सचित्त पदार्थ पर रख देना—त्यागी जन पूर्ण अहिंसा परायण और आरम्भ के त्यागी होने के कारण ऐसी किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करते जिनसे किसी भी छोटे या मोटे जीव की विराधना होती हो। अतएव दान देते समय दाता को विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। गृहस्थ विवेकशील न होगा तो वस्तु के विद्यमान होने पर भी दान का लाभ नहीं प्राप्त कर सकेगा। सचित्त फल, फूल, पत्र, पानी आदि के ऊपर यदि खाद्य पदार्थ रख दिया जाता है तो उसे साधु नहीं ग्रहण करते, क्योंकि उससे एकेन्द्रिय जीवों को आघात पहुँचता है। अतएव ऐसा करना साधु के लिए अन्तराय का कारण हो जाता है। गृहस्थ को हल्दी, मिर्च, धनिया आदि बहुत-सी चीजें रखनी पड़ती हैं पर सचित्त के साथ उन्हें नहीं रखना चाहिए। साधु को सोंठ चाहिए, वह सोंठ यदि सचित्त पदार्थ के साथ रक्खी है तो साधु के लिए अन्तराय

होगा। अतएव जो गृहस्थ और विशेषतः श्राविका विवेकवान् है उसे सचित्त एवं अचित्त पदार्थों को मिला कर नहीं रखना चाहिए। ऐसा करने से उसे साधु को दान देने का अवसर मिल सकता है और सहज ही लाभ कमाया जा सकता है।

(२) सचित्त से ढक देना—अचित्त वस्तु पर कोई भी सचित्त वस्तु रख देना भी इस व्रत का अतिचार है। ऐसा करने से भी वही हानि होती है जो प्रथम अतिचार से होती है अर्थात् गृहस्थ दान से और दान के फल से वंचित रह जाएगा।

(३) कालातिक्रम—उचित समय पर अतिथि के आगमन की भावना करनी चाहिए। जो सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पूर्व आहार ग्रहण नहीं करते,उनके लिए ऐसे समय में आने की भावना करने से क्या लाभ ? दान देने से बचने के लिए काल का अतिक्रमण करके आगे-पीछे भोजन बनाना भी इस अतिचार में सम्मिलित माना गया है। वस्तु की दृष्टि से भी कालातिक्रम या कालातिक्रान्त अतिचार का विचार किया जा सकता है। जो वस्तु अपनी कालिक सीमा लांघ चुकी हो, उसे देना भी अतिचार है, चाहे वह जल हो, अन्न हो या कुछ अन्य हो। प्रत्येक खाद्य पदार्थ, चाहे वह पक्का अर्थात् तला हुआ हो या कच्चा हो, एक नियत समय तक ही ठीक हालत में रहता है। उसके बाद उसमें विकृति आ जाती है। वह सड़-गल जाता है और उसमें जीवों की उत्पत्ति भी हो जाती है। उस हालत में वह न खाने योग्य रहता है, न देने योग्य ही।

बहुत-सी बहिनें अज्ञान और लालच के वशीभूत होकर खाने-पीने की चीजें जमा कर रखती हैं और जब वे विकृत होती हैं तब उन्हें काम में लाती हैं। यह आदत लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से हानिकारक है। विकृत पदार्थों के खाने से स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है और हिंसा के पाप से आत्मा का भी अकल्याण होता है। कई बार तो आज की रोटी कल ही बिगड़

जाती है। उसे तोड़ा जाय तो उसमें से एक तार-सा निकलता है। कहा जाता है कि वह तार वास्तव में 'लार' नामक द्वीन्द्रिय जीव है। आम आदि फल भी जब कालातिक्रान्त हो जाते हैं तो उनमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बड़े होने पर वे बिल-बिलाते नजर आने लगते हैं मगर प्रारंभिक अवस्था में उत्पन्न होने पर भी दिखाई नहीं देते। उनके सेवन से हिंसा का घोर पाप होता है। अतएव महिलाओं को तथा भाइयों को भी इस ओर पूरा ध्यान रखना चाहिए और कालातिक्रान्त–सड़ी, गली, घुनी वस्तुओं को खाने-पीने के काम में नहीं लेना चाहिए।

जो बहिनें विवेकशालिनी हैं वे आवश्यकता के अंदाज से ही भोज्य पदार्थ बनाती हैं। किसी भी वस्तु को इतना अधिक नहीं राँध रखना चाहिए कि वह कई दिनों तक काम आवे। कौन रोज-रोज रांधे, एक दिन रांध लिया और कई रोज तक काम में लाते रहें, यह प्रमाद की भावना पाप का कारण है। ताजा बनी चीज स्वाद युक्त एवं स्वास्थ्यकर होती है। थोड़े-से श्रम से बचने के लिए उसे बासी करके खाना-खिलाना गुड़ को गोबर बनाकर खाना-खिलाना है। इससे निरर्थक पाप उत्पन्न होता है। बहिनें प्रमाद का त्याग करें तो सहज ही इस पाप से बच सकती हैं।

कोई वस्तु बिगड़ गई है या नहीं, यह परीक्षा करना कठिन नहीं है। बिगाड़ होने पर वस्तु के रूप-रंग, रस, गंध में परिवर्तन हो जाता है। उस परिवर्तन को देखकर उसके कालातिक्रान्त होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

शासन के कानून के अनुसार औषध निर्माताओं को इंजेक्शन आदि औषधों की शीशियों पर उसकी कालिक मर्यादा अंकित करनी पड़ती है और यह जाहिर करना पड़ता है कि यह औषध अमुक तारीख तक ही काम में लाई जा सकती है, उसके बाद नहीं। इसी प्रकार धर्म शासन के अनुसार भोज्य पदार्थों को भी विकृत होने के पश्चात् काम में नहीं लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि यदि वस्तु ठीक न हो तथा भावना दूषित हो तो उसके दान से लाभ नहीं होगा। वही दान विशेष लाभप्रद होता है जिसमें चित्त, वित्त और पात्र की अनुकूल स्थिति हो।

गृहस्थ साधक की भावना सदा दान देने की रहती है। वह चौदह प्रकार की चीजें अतिथियों को देने की इच्छा करता है। इसी को मनोरथ भी कहते हैं। ये वस्तुएं हैं—

चार प्रकार का आहार अर्थात्—(१) अशन (२) पान (३) पक्वान्न आदि खाद्य (४) मुखवास आदि स्वाद्य तथा (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) रजोहरण (९) पीठ-चौकी-बाजौठ (१०) पाट (११) सोंठ, लवंग आदि औषधि (१२) भैषज्य-बनी हुई दवा (१३) शय्या-मकान और (१४) संस्तारक अर्थात् पराल आदि घास।

उल्लिखित पदार्थों की दो श्रेणियां हैं—नित्य देने-लेने के पदार्थ और किसी विशेष प्रसंग पर देने-लेने योग्य।

यह सभी वस्तुएं साधुओं को गृहस्थ के घर से ही प्राप्त हो सकती हैं और गृहस्थ के यहां से तभी मिल सकती हैं जब वह स्वयं इनका प्रयोग करता हो। श्रावक का कर्तव्य है कि वह साधु की संयमसाधना में सहायक बने। राग के वशीभूत होकर ऐसा कोई कार्य न करे या ऐसी कोई वस्तु देने का प्रयत्न न करे जिससे साधु का संयम खतरे में पड़ता हो। यदि गृहस्थ सभी रंगीन दुशाला ओढ़ने वाले हों तो साधुओं को श्वेत वस्त्र कहां से देंगे? साधु तीन प्रकार के पात्र ही ग्रहण कर सकते हैं-तूम्बे के, मिट्टी के या काष्ठ के। अभिप्राय यह है कि श्रावक यदि विवेकशील हों तो साधुओं के व्रत का ठीक तरह पालन हो सकता है।

(४) मात्सर्य-मत्सरभाव दान देना भी अतिचार है। मेरे पड़ौसी ने ऐसा दान दिया है, मैं उससे क्या हीन हूं! इस प्रकार ईर्षा से प्रेरित होकर दान देना उचित नहीं।

(५) परव्ययदेश—यह वस्तु मेरी नहीं पराई है, इस प्रकार का बहाना करना भी अतिचार है। यह मलीन भावना का द्योतक है। गृहस्थ को सरल भाव से, कर्मनिर्जरा के हेतु ही दान देना चाहिए। उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना अथवा लोकैषणा नहीं होनी चाहिए। तभी दान के उत्तम फल की प्राप्ति होती है। एक कवि ने कहा है—

बहु आदर बहु प्रिय वचन, रोमांचित बहु मान।
देह करे अनुमोदना, ये भूषण परमान॥

रत्नत्रय की साधना करने वाले के प्रति गहरी प्रीति एवं आदर का भाव होना चाहिए। साधु का घर में पांव पड़ना कल्पवृक्ष का आंगन में आना है। ऐसा समझ कर श्रद्धा और भक्ति के साथ निर्दोष पदार्थों का दान करना चाहिए। जो अनारंभी जीवन याचन कर रहा है वह गुणों की ज्योति को जगाता है। उसे आदर दिया ही जाना चाहिए।

अतिथि संविभाग व्रत शिक्षाव्रतों में अन्तिम और बारह व्रतों में भी अन्तिम है। इन सब व्रतों के स्वरूप एवं अतिचारों को भलीभांति समझकर पालन करने वाला श्रमणोपासक अपने वर्तमान जीवन को एवं भविष्य को मंगलमय बनाता है।

आनन्द सौभाग्यशाली था कि उसे साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का समागम मिला। किन्तु इस भरत क्षेत्र में, महाविदेह की तरह तीर्थंकर सदा काल विद्यमान नहीं रहते हैं। आज तीर्थंकर नहीं हैं मगर तीर्थंकर की वाणी विद्यमान है। उनके मार्ग पर यथाशक्ति चलने वाले उनके प्रतिनिधि भी मौजूद हैं। वीतराग के प्रतिनिधियों की वाणी से भी अनेकों ने अपना जीवन ऊँचा उठा लिया। वीतराग न हों, उनके प्रतिनिधि भी न हों, फिर भी उनकी वाणी का अध्ययन करने वालों में से हजारों उसके अनुसार आचरण करके तिर गए। आज भी उस वाणी का चिन्तन-मनन करने वाले अपना कल्याण कर सकते हैं।

वीतराग के उपदेश का सुधाप्रवाह दीर्घकाल तक प्रवाहित होता रहे और भव्य जीव उसमें अवगाहन करके अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर सकें, जन्म-जरा-मरण के घोर सन्ताप को शान्त कर सकें, और अपनी आन्तरिक प्यास बुझा सकें, इस महान् और प्रशस्त विचार से प्रेरित होकर आचार्यों ने उस वाणी का संकलन, संग्रह और रक्षण किया। भगवान् महावीर की वाणी सुरक्षित रही तो वह लोगों को कल्याणमार्ग की ओर प्रेरित करती रहेगी। माध्यम कोई न कोई मिल ही जाएगा। इसी उच्च भावना से मुनियों ने उसके संकलन का भरसक प्रयत्न किया।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। महामुनि स्थूलभद्र उनके शिष्य बने। किन्तु उनकी एक स्खलना ने ज्ञानार्जन में गतिरोध उत्पन्न कर दिया। दस पूर्वों के अभ्यास को वे समाप्त कर चुके थे।

वाचना का नियत समय हुआ। प्रतिदिन की भाँति स्थूलभद्र मुनि गुरु के चरणों में उपस्थित हुए। किन्तु आचार्य महाराज ने कहा—वाचना पूर्ण होगई, अब मनन करो।

आचार्य का यह कथन सुनकर आचार्य चौंक उठे। उन्होंने देखा—आज आचार्य का मन बदला हुआ है। उनके मुख पर नित्य की सी वात्सल्य की छाया दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। आज आचार्य अनमने हैं।

स्थूलभद्र विचार में पड़ गए। क्या कारण है कि आचार्य ने बीच में ही वाचना प्रदान करना रोक दिया। अभी तो चार पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करना शेष है। किन्तु उन्हें अपनी भूल समझने में देरी न लगी। वे अपने प्रमाद को स्मरण करके चौंक उठे। साध्वियों को चमत्कार दिखलाना ही इसका कारण है, यह उन्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगा। मगर अब क्या ? जो तीर हाथ से छूट गया, वह क्या वापिस हाथ आने वाला है ?

स्थूलभद्र बड़े ही असमंजस में पड़े थे। उन्होंने लज्जित होते हुए, हाथ जोड़ कर आचार्य से निवेदन किया—देव, भूल हो गई है किन्तु भविष्य में

पुनः उसकी आवृत्ति नहीं होगी। अपराध क्षमा करें और यदि उचित प्रतीत हो तो आगे की वाचना चालू रक्खें। आचार्य संभूति विजय ने मुझे आपका शिष्यत्व स्वीकार करने का आदेश दिया था। उनकी दिवंगत आत्मा को वाचना पूर्ण होने से सन्तोष प्राप्त होगा।

स्थूलभद्र यद्यपि थोड़ी देर के लिए प्रमाद के अधीन होगए थे तथापि सावधान साधक थे। उन्होंने आत्मालोचन किया और अपने ही दोष पर उनकी दृष्टि गई। सच्चे साधक का यही लक्षण है। वह अपने दोष के लिए दूसरे को उत्तरदायी नहीं ठहराता। अपनी भूल दूसरे के गले नहीं मढ़ता। उसका अन्तःकरण इतना ऋजु एवं निश्शल्य होता है कि कृत अपराध को छिपाने का विचार भी उसके मनमें नहीं आता। पैर में चुभे कांटे और फोड़े में पैदा हुए मवाद के बाहर निकलने पर ही जैसे शान्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार सच्चा साधक अपने दोष का आलोचन और प्रतिक्रमण करके ही शान्ति का अनुभव करता है। इसके विपरीत जो प्रायश्चित्त के भय से अथवा लोकापवाद के भय से अपने दुष्कृत को दबाने का प्रयत्न करता है, वह जिनागम के अनुसार आराधक नहीं, विराधक है।

पूर्वगत श्रुत का ज्ञान वास्तव में सिंहनी का दूध है। उसे पचाने के लिए बड़ी शक्ति चाहिए। साधारण मनोबल वाला व्यक्ति उसे पचा नहीं सकता और जिस खुराक को पचा न सके, उसे वह खुराक देना उसका अहित करना है। इसी विचार से विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों ने पात्र-अपात्र की विवेचना की है।

स्थूलभद्र के मनोबल में आगे के पूर्वाध्ययन के योग्य दृढ़ता की मात्रा पर्याप्त न पाकर आचार्य भद्रबाहु ने वाचना बंद कर दी। अन्य साधुओं ने भी देखा कि आचार्य निर्बाध रूप से ज्ञानामृत की जो वर्षा कर रहे थे, वह अब बंद होगई है। सुधा का वह प्रवाह रुक गया है। यह देखकर समस्त संघ को भी दुःख हुआ। इसका कारण भी प्रकाश में आगया। श्रुत की संरक्षा का महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित था, अतएव संघ अत्यन्त चिन्तित हुआ।

इसके पश्चात् क्या घटना घटित होती है, यह आगे सुनने से विदित होगा। जैन साहित्य के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है जिसने भविष्य पर गहरा प्रभाव डाला है।

बन्धुओ! जैसे उस समय का संघ ज्ञान-गंगा के विस्तार के लिए यत्नशील था, उसी प्रकार आज का संघ भी यत्नशील हो और युग की विशेषता का ध्यान रखते हुए ज्ञान-प्रचार में सहयोग दे तो सम्पूर्ण जगत् का महान् उपकार और कल्याण होगा।

———

श्रुतपंचमी

दशवैकालिक सूत्र प्रधानतः श्रमण निर्ग्रन्थ के आचार का प्रतिपादन करता है किन्तु जैन धर्म या दर्शन में कहीं भी एकान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। यही कारण है कि आचार के प्रतिपादक शास्त्र में भी अत्यन्त प्रभाव पूर्ण शब्दों में ज्ञान का महत्व प्रदर्शित किया है। प्रारंभ में कहा है—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।

सभी संयमवान् पुरुष पहले वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप में समझते हैं और फिर तदनुसार आचरण करते हैं। यहां 'दया' शब्द समग्र आचार को उपलक्षित करता है।

दशवैकालिक में अन्यत्र कहा गया है—

अण्णाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावगं।

अज्ञानी बेचारा कर ही क्या सकता है। उसे भले-बुरे का विवेक कैसे प्राप्त हो सकता है ?

यह अत्यन्त विराट दिखलाई देने वाला जगत् वस्तुतः दो ही तत्त्वों का विस्तार है। इसके मूल में जीव और अजीव तत्त्व ही हैं। अतएव समीचीन रूप से जीव और अजीव को जान लेना सम्पूर्ण सृष्टि के स्वरूप को समझ लेना है। मगर यही ज्ञान बहुतों को नहीं होता। कुछ दार्शनिक इस भ्रम में रहे हैं कि जगत् में एक जीव तत्त्व ही है, उससे भिन्न किसी तत्त्व का सत्त्व नहीं है। इससे एकदम विपरीत कतिपय लोगों की भ्रान्त धारणा है कि जीव

कोई तत्त्व नहीं है—सब कुछ अजीव ही अजीव है अर्थात् जड़ भूतों के सिवाय चेतन तत्त्व की सत्ता नहीं है। कोई दोनों तत्त्वों की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए भी अज्ञान के कारण जीव को सही रूप में नहीं समझ पाते और अव्यक्त चेतना वाले जीवों को जीव ही नहीं समझते। ईसाइयों के मतानुसार गाय जैसे समझदार पशु में भी आत्मा नहीं है। बौद्ध आदि वृक्ष आदि वनस्पति को अचेतन कहते हैं। इस थोड़े से उल्लेख से ही आप समझ सकेंगे कि जीव और अजीव की समझ में भी कितना भ्रम फैला हुआ है!

जीव सम्बन्धी अज्ञान का प्रभाव आचार पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जो जीव को जीव ही नहीं समझेगा, वह उसकी रक्षा किस प्रकार कर सकता है? वैदिक सम्प्रदाय के त्यागी वर्गों में कोई पंचाग्नि तप कर अग्निकाय का घोर आरंभ करते हैं, कोई कन्द-मूल-फल-फूल खाने में तपश्चर्या मानते हैं। यह सब जीव तत्त्व को न समझने का फल है। वे जीव को अजीव समझते हैं, अतएव संयम के वास्तविक स्वरूप से भी अनभिज्ञ रहते हैं। नतीजा यह होता है कि संयम के नाम पर असंयम का आचरण किया जाता है।

इससे आप समझ गए होंगे कि ज्ञान और आचार का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि वीतराग भगवान् ने ज्ञान और चारित्र दोनों को मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य बतलाया है। ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् चारित्र ही नहीं हो सकता और चारित्र के अभाव में ज्ञान निष्फल ठहरता है। ज्ञान एक दिव्य एवं आन्तरिक ज्योति है जिसके द्वारा मुमुक्षु का गन्तव्य पथ आलोकित होता है। जिसे यह आलोक प्राप्त नहीं है वह गति करेगा तो अंधकार में भटकने के सिवाय अन्य क्या होगा? इसी कारण मोक्षमार्ग में ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है। शास्त्र में कहा है—

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥

प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी जगह पर महिमा है। एक गुण दूसरे गुण से सापेक्ष है। परस्पर सापेक्ष सभी गुणों की यथावत् आयोजना करनेवाला ही अपने जीवन को ऊंचा उठाने में समर्थ हो सकता है। हेय, ज्ञेय, और उपादेय का ज्ञान हो जाने पर भी यदि कोई उस पर श्रद्धा नहीं करेगा तो वह वैसा ही है जैसे कोई खाकर पचा न सके। इससे रस नहीं बनेगा। वह ज्ञान जो श्रद्धा का रूप धारण नहीं करेगा, टिक नहीं सकेगा। श्रद्धा सम्पन्न ज्ञान की विद्यमानता में भी यदि चारित्र गुण का विकास नहीं होगा तो वह ज्ञान व्यर्थ है। ज्ञान के प्रकाश में जब चारित्र गुण का विकास होता है तो वह पापकर्म को रोक देता है। फिर कुशील, हिंसा, असत्य आदि पाप नहीं आ पाते। तप का काम है शुद्धि करना वह संचित पापकर्म को नष्ट करता है।

कर्मों को निश्शेष करने का उपाय यही है कि संयम का आचरण करके नवीन कर्मों के बन्ध को निरुद्ध कर दिया जाय और तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को नष्ट किया जाय। इस तरह दोहरे कर्त्तव्य से समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं और आत्मा अपनी स्वाभाविक मूल अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यही मुक्ति कहलाती है।

ज्ञान वही मुक्ति का कारण होता है जो सम्यक् हो। यों तो ज्ञान का आविर्भाव ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से होता है, मगर सम्यग् ज्ञान के लिए मिथ्यात्व मोह के क्षय, क्षयोपशम या उपशम की भी आवश्यकता होती है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम कितना ही हो जाय, यदि मिथ्यात्व मोह का उदय हुआ तो वह ज्ञान मोक्ष की दृष्टि से कुज्ञान ही रहेगा।

अनन्त काल से यह आत्मा संसार में भ्रमण कर रही है। अब तक उसने अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पाया। जब बाह्य और अन्तरंग निमित्त मिलते हैं तब सम्यग्ज्ञान, दर्शन आदि की प्राप्ति होती है और जिसे प्राप्ति होती है उसका परम कल्याण हो जाता है।

बाह्य निमित्त किसी भाव की जागृति में किस प्रकार कारण बनता है,

यह समझ लेना आवश्यक है। सोने की डली लोभ रूप विकार की उत्पत्ति में कारण है। किन्तु सोने और चांदी की राशि कर दी जाय और कोई गाय या बैल वहां से निकले तो उस राशि के प्रति उनके मन में लोभ नहीं जागेगा। वे उसे पैरों तले कुचल देंगे या बिखेर देंगे। इसके विपरीत घास, फल, सब्जी, खली आदि वस्तुएं पड़ी हों तो गाय-बैल के मन में लोभ उत्पन्न होगा और वे उन्हें खा जाएंगे। इस प्रकार घास आदि उनके लोभ को जगाने में निमित्त बने, मगर सोने की डली निमित्त नहीं बनी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य कारण एकान्त कारण नहीं है। इसी प्रकार अन्तरंग कारण भी अकेला कार्यजनक नहीं होता। दोनों का समुचित समन्वय ही कार्य को उत्पन्न करता है।

गृहस्थ आनन्द को राह चलते-चलते सोने, चांदी, हीरे, जवाहरात की ढेरी मिल जाती तो उसके मन में लोभ न होता। ये वस्तुएं उसके मन को विकृत नहीं कर सकती थीं। मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए मोह को क्षीण करना आवश्यक है। इसके लिए ज्ञानाचार की आवश्यकता है। आचार पांच माने गए हैं। उनमें प्रथम ज्ञानाचार और अन्तिम वीर्याचार है। ज्ञान यदि विधिपूर्वक-आचार के साथ प्राप्त किया जाय तो वह जीवनशोधक बनेगा। अगर ज्ञान की आराधना के बदले विराधना की जाय तो अशान्ति होगी और अन्धकार में भटकना होगा। ज्ञान की आराधना सिखलाई जाती है, विराधना नहीं। विराधना से बचने का उपाय बतलाया जाता है। विक्षेप, अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, कलह आदि से विराधना होती है।

भरतखण्ड में अजितसेन राजा का वरदत्त नामक एक पुत्र था। वह राजा का अत्यन्त दुलारा था। उसका बोध नहीं बढ़ पाया। अच्छे कलाविदों के पास रखने पर भी वह ज्ञानवान् नहीं बन सका। उसकी यह स्थिति देखकर राजा बहुत खिन्न रहता। सोचता-मूर्ख रहने पर यह प्रजा का पालन किस प्रकार करेगा।

पिता बनजाना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है अपने पितृत्व का निर्वाह करना। पितृत्व का निर्वाह किस प्रकार किया जाता है, यह बात प्रत्येक पुरुष

को पिता बनने से पहले ही सीख लेना चाहिए। जो पिता बन कर भी पिता के कर्त्तव्य को नहीं समझते अथवा प्रभाव वश उस कर्त्तव्य का पालन नहीं करते वे वस्तुतः अपनी सन्तान के घोर शत्रु हैं और समाज तथा देश के प्रति भी अन्याय करते हैं। सन्तान को सुशिक्षित और सुसंस्कारी बनाना पितृत्व के उत्तर-दायित्व को निभाना है। सन्तान में नैतिकता का भाव हो, धर्म प्रेम हो, गुणों के प्रति आदरभाव हो, कुल की मर्यादा का भान हो। तभी सन्तान सुसंस्कारी कहलाएगी। मगर केवल उपदेश देने से ही सन्तान में इन सद्गुणों का विकास नहीं हो सकता ! पिता और माता को अपने व्यवहार के द्वारा इनको शिक्षा देना चाहिए। जो पिता अपनी सन्तान को नीति-धर्म का उपदेश देता है पर अनीति और अधर्म का आचरण करता है, उसकी सन्तान दंभी बनती है, नीति-धर्म उसके जीवन में शायद ही आते हैं।

इस प्रकार आदर्श पिता बनने के लिए भी पुरुष को साधना की आवश्य-कता है। माता को भी आदर्श गृहिणी बनना चाहिए। इसके बिना किसी भी पुरुष या स्त्री को पिता एवं माता बनने का नैतिक अधिकार नहीं।

राजा अजितसेन ने सोचा-मैंने पुत्र उत्पन्न करके उसके जीवन निर्माण का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया है। अगर इस उत्तरदायित्व को मैं न निभा सका तो पाप का भागी होऊंगा। इस प्रकार सोच कर राजा ने पुरस्कार देने की घोषणा करवाई जो राजकुमार को शिक्षित कर देगा उसे यथेष्ट पुरस्कार दिया जाएगा। मगर राजकुमार कुछ न सीख सका। उसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर ही रहा।

शिक्षा के अभाव के साथ उसका शारीरिक स्वास्थ्य भी खतरे में पड़ गया। उसे कोढ़ का रोग लग गया। लोग घृणा की दृष्टि से देखने लगे। सैंकड़ों दवाएं चलीं पर कोढ़ न गया। ऐसी स्थिति में विवाह-सम्बन्ध कैसे हो सकता था ? कौन अपनी लड़की देने को तैयार होता ?

एक सेठ की लड़की को भी दैवयोग से ऐसा ही रोग लग गया। तिलक-

मंजरी की लड़की गुणमंजरी भी कोढ़ से ग्रस्त हो गई। वह लड़की गूंगी थी। उस काल में, आज के समान गूंगों, बहरों और अंधों की शिक्षा की सुविधा नहीं थी। कोई लड़का इस लड़की के साथ संबंध करने को तैयार नहीं हुआ। गूंगी और सदा बीमार रहने वाली लड़की को भला कौन अपनाता ?

एक बार भ्रमण करते हुए विजयसेन नामक आचार्य वहां पहुँचे। वे विशिष्ट ज्ञानवान् थे और दुःख का मूल कारण बतलाने में समर्थ थे। वे नगर के बाहर एक उपवन में ठहरे। ज्ञान की महिमा के विषय में उनका प्रवचन प्रारंभ हुआ। उन्होंने कहा-सभी दुःखों का कारण अज्ञान और मोह है। जीवन के मंगल के लिए इन का विसर्जन होना अनिवार्य है। कहा गया है—

अज्ञान से दुख दूना होता,
अज्ञानी धीरज खो देता।

मन के अज्ञान को दूर करो,
स्वाध्याय करो स्वाध्याय करो।

कई लोग भयंकर विपत्ति आ पड़ने पर भी धीरज नहीं खोते तो कई साधारण ज्वर आते ही बेटी, बेटे और दामाद को तार-टेलीफोन करने लगते हैं। मृत्यु की विकराल छाया उन्हें अपने कल्पना-नेत्रों से नजर आने लगती है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपने शारीरिक, मानसिक एवं कुटुम्ब संबंधी दुःखों को बढ़ा लेता है। इससे बचने का मुख्य उपाय यही है कि ज्ञानाराधना की जाय। ज्ञान ही समस्त बुराइयों को दूर करने का कारण है। ज्ञानाराधना से अपूर्व शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है सच्चे ज्ञान की ज्योति जब जगती है तो दुःखों के उलूक ठहर नहीं सकते। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, अतएव ज्यों-ज्यों उसका विकास होता है त्यों-त्यों विभाव-परिणति विलीन होती जाती है।

कई लोगों में ज्ञानाराधना में विघ्न डालने की वृत्ति पायी जाती है। कई लोग स्वाध्याय करने वालों का उपहास करते हैं, मगर ताश, शतरंज और चौपड़ खेलने में समय नष्ट करने वालों की हंसी नहीं करते। किन्तु स्मरण

रखिए कि ज्ञान के मार्ग में बाधा डालने या रुकावट डालने से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और सेवा करने वाले लोग मन्दमति, गूंगे बहिरे आदि होते हैं। ज्ञानार्जन में विघ्न उपस्थित करना ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध का कारण है।

आचार्य माहाराज की देशना पूरी हुई। सिंहदास श्रेष्ठी ने उनसे प्रश्न किया-महाराज, मेरी पुत्री की इस अवस्था का क्या कारण है? किस कर्म के उदय से यह स्थिति उत्पन्न हुई है?

आचार्य ने उत्तर में बतलाया-इसने पूर्वजन्म में ज्ञानावरणीय कर्म का गाढ़ बन्धन किया है। वृत्तान्त इस प्रकार है-जिन देव की पत्नी सुन्दरी थी। वह पांच लड़कों और पांच लड़कियों की माता थी। सब से बड़ी लड़की का नाम लीलावती था। घर में सम्पत्ति की कमी नहीं थी। उसने अपने बच्चों पर इतना दुलार किया कि वे ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके।

विवेकहीन श्रीमन्त अपनी सन्तति को आमोद-प्रमोद में इतना निरत बना देते हैं कि पठन-पाठन की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। सत्समागम के अभाव में वे आवारा हो जाते हैं। आवारा लोग उन्हें घेर लेते हैं और कुपथ की ओर ले जाकर उनके जीवन को नष्ट करके अपना उल्लू सीधा करते हैं। आगे चलकर ऐसे लोग अपने कुल को कलंकित करें तो आश्चर्य की बात ही क्या।

अपनी सन्तति के जीवन को उच्च, निर्मल और मर्यादित बनाने के लिए माता-पिता को सजग रहना चाहिए। उन्हें देखना चाहिए कि वे कैसे लोगों की संगति में रहते हैं और क्या सीखते हैं: इस प्रकार की सावधानी रख कर कुसंगति से बचाने वाले माता-पिता ही अपनी सन्तान के प्रति न्याय कर सकते हैं।

सुन्दरी सेठानी के बच्चे समय पर पढ़ते नहीं थे। बहानेबाजी किया करते और अध्यापक को उलटा त्रास देते थे। जब अध्यापक उन्हें उपालम्भ देता और डांटता तो सेठानी उस पर चिढ़ जाती। एक दिन विद्याशाला में किसी बच्चे को सजा दी गई तो सेठानी ने चण्डी का रूप धारण कर लिया। पुस्तकें चूल्हे में

झौंक दीं और दूसरी सामग्री नष्ट भ्रष्ट कर दी। उसने बच्चों को सीख दी-शिक्षक इधर आवे तो लकड़ी से उसकी पूजा करना। हमारे यहां किस चीज की कमी है जो पोथियों के साथ मथापच्ची की जाय ? कोई आवश्यकता नहीं है पढ़ने-लिखने की।

अनेक श्रीमन्तों के यहां ऐसा ही होता है। पिता सन्तान को पढ़ाना चाहता है तो मां रोक देती है। मां पढ़ाना चाहती है तो रुकावट डालता है। मैथिलीशरण ने ठीक लिखा है——

श्रीमान् शिक्षा दें उन्हें तो श्रीमती कहती-नहीं,
घेरो न लल्ला को हमारे नौकरी करनी नहीं।

शिक्षे ! तुम्हारा नाश हो तू नौकरी के हित बनी,
लो मूर्खते ! जीती रहो रक्षक तुम्हारे है धनी।

कई अज्ञान ज्ञानाराधना का विरोध एवं उपहास करते हुए कहते हैं-'जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, ना पढ़तव्यं सो मरतव्यं, दांत कटाकट कि कर्त्तव्यं, यों मरतव्यं त्यों मरतव्यां' कोई कहते हैं—

अणभणिया घोड़े चढ़े, भणिया मांगे भीख

अपढ़ लोगों ने राज्यों की स्थापना की है ! पढ़ाई-लिखाई में क्या धरा है, होता वही है जो कपाल में लिखा है। इस प्रकार इतिहास, तर्क और दर्शन शास्त्र तक का सहारा लिया जाता है मूर्खता के समर्थन के लिए।

भारतवर्ष में अज्ञानवादी अत्यन्त प्राचीनकाल में भी थे। वे अज्ञान को ही कल्याणकारी मानते थे और ज्ञान को अनर्थों का मूल ! उनके मत से अज्ञान ही मुक्ति का मूल था। आज व्यवस्थित रूप में यह अज्ञानवादी सम्प्रदाय भले ही न हो, तथापि उसके बिखरे हुए विचार आज भी कई लोगों के दिमाग में घर किये हुये हैं। अज्ञानवाद का प्रभाव किसी न किसी रूप में आज भी मौजूद है। मगर अज्ञानवादियों को सोचना चाहिए कि वे अज्ञान की श्रेष्ठता की स्थापना

ान पूर्वक करते हैं या अज्ञानपूर्वक ? अगर ज्ञान पूर्वक करते हैं तो फिर ज्ञान ही उपयोगी और उत्तम ठहरा जिसके द्वारा अज्ञानवाद का समर्थन किया जाता है। यदि अज्ञान पूर्वक अज्ञानवाद का समर्थन किया जाय तो उसका मूल्य ही कुछ नहीं रहता। विवेकी जन उसे स्वीकार नहीं कर सकते।

हां तो सेठानी के कहने से लड़के पढ़ने नहीं गए। दो-चार दिन बीत गए। शिक्षक ने इस बात की सूचना दी तो सेठ ने सेठानी से पूछा। सेठानी आगबबूला हो गई। बोली—'मुझे क्यों लांछन लगाते हो! लड़के तुम्हारे, लड़किया तुम्हारी! तुम जानो तुम्हारा काम जाने!'

पति-पत्नी के बीच इस बात को लेकर खींचतान बढ़ गई। खींचतान ने कलह का रूप धारण किया और फिर पत्नी ने अपने पति पर कुंडी से प्रहार किया।

आचार्य बोले—गुणमंजरी वही सुन्दरी है। ज्ञान के प्रति तिरस्कार का भाव होने से यह गूंगी के रूप में जन्मी है।

राजा अजितसेन ने भी अपने पुत्र वरदत्त का पूर्व वृतान्त पूछा। कहा भगवान् : अनुग्रह करके बतलाइए कि राजकुल में उत्पन्न होकर भी यह निरक्षर और कोढ़ी क्यों है ?

आचार्य ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर कहा:- वरदत्त ने भी ज्ञान के प्रति दुर्भावना रक्खी थी। इसके पूर्व जीवन में ज्ञान के प्रति घोर उदासीनता का वृति थी। श्रीपुर नगर में वसु नामका सेठ था। उसके दो पुत्र थे- वसुसार और वसुदेव। वे कुसंगति में पड़कर दुर्व्यसनी हो गए। शिकार करने लगे। वन में विचरण करने वाले और निरपराध जीवों की हत्या करने में आनन्द मानने लगे। एक वार वन में सहसा उन्हें एक मुनिराज के दर्शन हो गए। पूर्व संचित पुण्य का उदय आया और सन्त का समागम हुआ। इन कारणों से दोनों भाइयों के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया। दोनों पिता की अनुमति प्राप्त करके दीक्षित हो गए दोनों चरित्र की आराधना करने लगे।

शुद्ध चारित्र के पालन के साथ वसुदेव के हृदय में अपने गुरु के प्रति श्रद्धाभाव था। उसने ज्ञानार्जन कर लिया। कुछ समय पश्चात् गुरूजी का स्वर्गवास होने पर वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो गया। शासन सूत्र उसके हाथ में आ गया।

उधर वसुसार की आत्मा में मिथ्यात्व का उदय हो गया। उसने एक नवीन मनगढन्त सिद्धान्त का आविष्कार किया। 'निद्रा में सब पापों की निवृति हो जाती है' इस प्रकार की प्ररूपणा करने लगा। निद्रा के समय मनुष्य न झूठ बोलता है, न चोरी करता है, अब्रह्म का सेवन करता है, न क्रोधादि करता है, अतएव सभी पापों से बच जाता है, इस प्रकार की भ्रान्त धारणा उसके मन में पैठ गई।

वसुसार अपना अधिक से अधिक समय निद्रा में व्यतीत करने लगा और कहने लगा-सुषुप्ति से मन वचन काय की सुन्दर गुप्ति होती है। जागरण की स्थिति में योगों का संवरण नहीं होता। ज्ञानोपासना आदि सभी साधनाओं में खटपट होती है, अतएव शयन साधना ही सर्वोतम है। अतएव मैं अधिक से अधिक समय निद्रा में व्यतीत करना हितकर समझता हूं।

वसुदेव ने गुरुभक्ति के कारण गंभीर तत्वज्ञान प्राप्त किया था। वह आचार्य पद पर आसीन हो गए थे। अतएव जिज्ञासु सन्त उन्हे घेरे रहते थे। कभी कोई वाचना लेने के लिए आता तो कोई शंका के समाधान के लिए। उन्हें क्षण भर भी अवकाश न मिलता। प्रातःकाल से लेकर सोने के समय तक ज्ञानराधक साधु-सन्तो की भीड़ लगी रहती। मानसिक और शारीरिक श्रम के कारण वसुदेव थक कर चूर हो जाते थे।

बात सही है, सीखा हुआ तोता बांधा जाता है, बगुले और कौए को कौन पूछता है? ज्ञानी सदा परेशान रहता है, मूर्ख निश्चिन्त रहकर मजे उठाता है। वसुसार की यही विचारधारा थी। कवि ने कहा है—

'निश्चिन्तो बहुभोज कोऽति मुखरो, रात्रिं दिवा स्वप्नभाक्,
कार्याकार्य विचारणान्ध्वबधिरो, मानापमाने समः।
प्रोयनामयवर्जितो दृढवपुः मूर्खः सुखं जीवति।'

अपने आठ गुणों के कारण मूर्ख मनुष्य आराम से अपनी जिंदगी व्यतीत करता है। वे गुण ये हैं— (१) निश्चिन्तता (२) बहुभोजन (३) अति मुखरता-बड़बड़ाना (५) करणीय-अकरणीय पर विचार न करना। जो धुन में जंचे सो करते जाना और कोई भलाई की बात कहे तो बहिरे के समान उसे अनसुनी कर देना (६) मान-अपमान की परवाह न करना (७) रोग रहित होना और (८) बेफिक्री के कारण हट्टा कट्टा होना।

बुद्धिमान् और ज्ञानी व्यक्ति कोई भी वक्तव्य देने को सहसा तैयार नहीं होगा-जो बोलेगा, सोच-समझ कर ही बोलेगा। मूर्ख को सोचने—समझने की आवश्यकता नहीं होती। वह बहुत बोलेगा। और शुद्धि-अशुद्धि या सत्य-असत्य की चिन्ता नहीं करेगा। निद्रा देवी की दया मूर्खराज पर सदा बनी रहती है। वह गधे की सवारी करने पर भी अपमान अनुभव करके लज्जित नहीं होगा।

कर्मोदय के कारण वसुसार के अन्तःकरण में दुर्भावना आ गई। उसने ज्ञान की विराधना की। इस प्रकार दीक्षा एवं तपस्या के प्रभाव से उसने राजकुल में जन्म तो लिया किन्तु ज्ञान की विराधना करने से कोढी और निरक्षर हुआ।

आज कार्तिक शुक्ला पंचमी है। यह पंचमी श्रुतपंचमी और ज्ञानपंचमी भी कहलाती है। इसकी विधिवत् आराधना करने से कोढ़ नष्ट हो गया।

श्रुत पंचमी संदेश देती है कि ज्ञान के प्रतिदुर्भाव रखने से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। अतएव हमें ज्ञान की महिमा को हृदयांगम करके उसकी आराधना करनी चाहिए। यथा शक्ति ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। और दूसरों के पठन-पाठन में योग देना चाहिए। वह योग कई प्रकार से दिया जा सकता है। निर्धन विद्यार्थियों को श्रुतग्रंथ देना

आर्थिक सहयोग देना, धार्मिक ग्रंथों का सर्वसाधारण में वितरण करना, पाठशालाएं चलाना, चलाने वालों को सहयोग देना, स्वयं प्राप्त ज्ञान का दूसरों को लाभ देना आदि। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण हैं।

विचारणीय है कि जब लौकिक ज्ञान प्राप्ति में बाधा पहुंचाने वाली गुणमंजरी को गूंगी बनाना पड़ा तो धार्मिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान में बाधा डालने वाले को कितना प्रगाढ़ कर्मबन्ध होगा ! उसे कितना भयानक फल भुगतना पड़ेगा ! इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—हे मानव ! तू अज्ञान के चक्र बाहर निकल और ज्ञान की आराधना में लग ! ज्ञान ही तेरा असली स्वरूप है। उसे भूलकर क्यों पर-रूप में भूल रहा है ! जो अपने स्वरूप को नहीं जानता उसका बाहरी ज्ञान निरर्थक है।

यह ज्ञानपंचमी पर्व श्रुतज्ञान के अभ्युदय और विकास को प्रेरणा देने के लिए है। आज के दिन श्रुत के अभ्यास, प्रचार और प्रसार का संकल्प करना चाहिये। द्रव्य और भाव, दोनों प्रकार से श्रुत की रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिए। आज ज्ञान के प्रति जो आदर वृत्ति मन्द पड़ी हुई है, उसे जाग्रत करना चाहिये और द्रव्य से ज्ञान दान करना चाहिए। ऐसा करने से इह-परलोक में आत्मा को अपूर्व ज्योति प्राप्त होगी और शासन एवं समाज का अभ्युदय होगा।

किसी ग्रन्थ, शास्त्र या पोथी की सवारी निकाल देना सामाजिक प्रदर्शन है इससे केवल मानसिक सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है। असली लाभ तो ज्ञान के प्रचार से होगा। ज्ञानपंचमी के दिन श्रुत की पूजा कर लेना, ज्ञानमन्दिरों के पट खोल कर पुस्तकों के प्रदर्शन कर लेना और फिर वर्ष भर के लिये उन्हें ताले में बन्द कर देना श्रुतभक्ति नहीं है। ज्ञानी महापुरुषों ने जिस महान उद्देश्य को सामने रख कर श्रुत का निर्माण किया, उस उद्देश्य को स्मरण करके उसकी पूर्ति करना हमारा कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है।

मैंने शरणार्थियों के एक मोहल्ले में एक बार देखा–गुरुद्वारा से गुरु ग्रन्थ साहब की सवारी निकाली जा रही है। ग्रन्थ साहब को जरी के कपड़े में लपेट कर एक सरदार अपने मस्तक पर रख कर ले जा रहे हैं इस प्रकार मस्तक पर रख कर अथवा हाथी के होदे पर सवार करके जुलूस निकालना वास्तविक श्रुतपूजा नहीं है। इससे तो यही प्रदर्शित होता है कि समाज की उस ग्रन्थ के प्रति कैसी भावना है, यह दूसरे भाइयों के चित्त को उस ओर खींचने का साधन है किसी भी ग्रन्थ की सच्ची भक्ति तो उसके सम्यक् पठन-पाठन में है।

भारतीय जैन-जैनेतर साहित्य के संरक्षण में जैन समाज का असाधारण योग रहा है। उन्होंने ज्ञानोपासना की गहरी लगन से साहित्य भंडार बनाये और सहस्त्रों ग्रंथों को नष्ट होने से बचाया है। किन्तु आज जैनों में भी पहले के समान भीतरी और बाहरी शास्त्र संरक्षण का भाव नहीं दीख पड़ता। यह स्थिति चिन्तनीय है।

श्रुत के विनय चार हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) सूत्र की वाचना करना।

(२) सूत्र की अर्थ के साथ वाचना करना।

(३) हित रूप वाचना करना।

(४) श्रुत के कल्याण रूप का चिन्तन-मनन करना।

आज जैन समाज को श्रुत के प्रचार और प्रसार की ओर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है। जैन शास्त्रों में जो उच्चकोटि का, तर्क विज्ञान सम्मत और कल्याणकारी तत्वज्ञान निहित है, उसका परिचय बहुत कम लोगों को है। शास्त्रों के लोकभाषाओं में अनुवाद भी पूरे उपलब्ध नहीं हैं। आधुनिक ढंग के सुन्दर मूल-प्रकाशन भी नहीं मिलते हैं। जिज्ञासुजनों की प्यास बुझाने की पर्याप्त सामग्री हम प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। यह खेद की बात है। इतने सुन्दर

और समृद्ध साहित्य को भी हम आज उचित तरीके से लोगों के हाथों में न पहुँचा सकें तो हमारी ज्ञानाराधना ही क्या हुई।

ज्ञानपंचमी के इस पर्व पर आपको निश्चय करना चाहिए कि हम अपनी पूर्व संचित विपुल ज्ञाननिधि को जगत् में फैलाएँगे, स्वयं ज्ञान के अपूर्व आलोक में विचरण करेंगे और दूसरों को आलोक में लाने का प्रयत्न करेंगे। आप ऐसा करेंगे तो पूर्वज महापुरुषों के ऋण से मुक्त होंगे और स्वपर के परम कल्याण के भागी बनेंगे।

जीवनसुधार से ही मरणसुधार

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी द्रव्य है। न इसकी आदि है, न अन्त। न जन्म है, न मृत्यु है। किन्तु जब तक इसने अपने निज रूप को उपलब्ध नहीं किया है और जब तक इसके साथ पौद्गलिक शरीर का संयोग है, तब तक शरीर के संयोग-वियोग के कारण आत्मा का जन्म-मरण कहा जाता है। वर्तमान स्थूल शरीर से वियोग होना मरण और नूतन स्थूल शरीर का ग्रहण जन्म कहलाता है। जन्म से लेकर मरण तक का रूप जीवन है। इस प्रकार जन्म, जीवन और मरण, यह तीन स्थितियां प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ लगी हुई हैं।

आत्मा के जो निज गुण हैं, उनका विकास आत्मसुधार कहलाता है। आत्मसुधार का प्रथम सोपान जीवनसुधार है। जीवनसुधार का तात्पर्य है जीवन को निर्मल बनाना। जीवन में निर्मलता सद्गुणों और सद्भावनाओं से उत्पन्न होती है।

जीवनसुधार से मरणसुधार होता है। जिसने अपने जीवन को दिव्य और भव्य रूप में व्यतीत किया है, जिसका जीवन निष्कलंक रहा है और विरोधी लोग भी जिसके जीवन के विषय में उंगली नहीं उठा सकते, वास्तव में उसका जीवन प्रशस्त है। जिसने अपने को ही नहीं, अपने पड़ौसियों को, अपने समाज को, अपने राष्ट्र को और समग्र विश्व को ऊंचा उठाने का निरन्तर प्रयत्न किया, किसी को कष्ट नहीं दिया मगर कष्ट से उबारने का ही प्रयत्न किया, जिसने अपने सद्विचारों एवं सद्आचार से जगत् के समक्ष

स्पृहणीय आदर्श उपस्थित किया, उसने अपने जीवन को फलवान् बनाया है। इस प्रकार जो अपने जीवन को सुधारता है, वह अपनी मृत्यु को भी सुधारने में समर्थ बनता है। जिसका जीवन आदर्श होता है, उसका मरण भी आदर्श होता है।

कई लोग समझते हैं कि अन्तिम जीवन को संवार लेने से हमारा मरण संवर जाएगा; मगर स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के संस्कार मरण के समय उभर कर आगे आते हैं। जिसका समग्र जीवन मलीन, पापमय और कलुषित रहा है, वह मृत्यु के ऐन मौके पर पवित्रता की चादर ओढ़ लेगा, यह संभव नहीं है। अतएव जो पवित्र जीवन यापन करेगा। वही पवित्र मरण को वरण कर सकेगा और जो पवित्र मरण को वरण करेगा उसीका आगामी जीवन आनन्दपूर्ण बन सकेगा।

जीवनसुधार के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी स्थिति के अनुकूल व्रतों को अंगीकार करके प्रामाणिकता के साथ उनका पालन करे। जो संसार से उपरत हो चुके हैं और जिनके चित्त में वैराग्य की ऊर्मियां प्रबल हो उठी हैं, वे गृहत्यागी बनकर महाव्रतों का पालन करते हैं। जिनमें इतना सामर्थ्य विकसित नहीं हे पाया या जिनका मनोबल पूरी तरह जागृत नहीं हुआ वे गृहस्थ में रहते हुए श्रावकधर्म का परिपालन करते हैं। व्रतसाधना ही जीवन सुधार का अमोघ उपाय है। मरणसुधार जीवनसुधार की चरम परिणति है।

शास्त्र में चार प्रकार के विश्राम बतलाए गए हैं। उदाहरण के द्वारा उन्हें समझने में सुविधा होगी–एक लकड़हारा जंगल से जलाऊ लकड़ी काट कर लाता है। लकड़ियों का भारा बनाकर और उसे सिर पर रखकर वह लम्बी दूर तय करता है। बोझ और चाल के कारण उसका शरीर थक जाता है। भारा उसके सिर के लिए दुस्सह हो जाता है। तब वह सिर के भारे को कंधे पर रख लेता है। जब उस कंधे में दर्द होने लगता है तो उसे दूसरे कंधे पर रखता है। यह उस लकड़हारे का पहला विश्राम है।

सिर का भार हल्का करने के लिए वह भार को ऊँचा उठा लेता है या लघुशंका करने बैठ जाता है तो यह उसका दूसरा विश्राम कहलाता है। यह भी अस्थायी विश्राम है।

कुछ और आगे चलने पर जब अधिक थक जाता है तो किसी चबूतरे पर या देवस्थान पर भारा टिकाकर खड़े-खड़े विश्राम लेता है। भार को वह वहाँ सुनियोजित भी कर लेता है। यदि भार बिक्रय के लिए है तो वह एक के दो कर लेता है या बड़ा सा दिखलाने के लिए उसे विशेष तरीके से जमाता है। यह उसका तीसरा विश्राम है।

अपनी मंजिल तक पहुँचने पर या किसी को बेच देने पर उसे चौथा विश्राम मिलता है। यह द्रव्यविश्रान्ति का रूप है।

सांसारिक जीवों के लिए भी इसी प्रकार के चार विश्रान्तिस्थल हैं। चौबीसों घंटे आरम्भ-समारम्भ का भार लाद कर चलने वाला मानव सौभाग्य से जब सत्संग पा लेता है तो वह कंधा बदलने के समान पहला विश्रान्तिस्थान है। इस स्थिति में शारीरिक और वाचनिक व्यापार का भार उतर जाता है, सिर्फ मन पर भार लदा रहता है। सन्त समागम की दशा में भी संसारी जीव के मन की कड़ी पर आरम्भ-समारम्भ का भार अटका रहता है। इस पर भी उसे किंचित् विश्राम मिलता है। इस पर श्रमणों के सानिध्य में उपाश्रय में आकर बैठने से गृहस्थ को पहला विश्राम मिलता है।

सामायिक व्रत को अंगीकार करना या देशावकाशिक व्रत धारण करना और कुछ पापों का निरोध करना दूसरा विश्रामस्थल है। इन व्रतों को धारण करने से अशान्त मन को कुछ शान्ति मिलती है।

समस्त आरंभ-समारंभ को चौबीस घंटे के लिए त्याग कर पौषध व्रत धारण करना तीसरा विश्रामस्थल है।

दिन-रात अमर्याद जीवन-लालच, तृष्णा एवं असंयम के कारण सन्तप्त रहने वाला मनुष्य जब बारह व्रतों को धारण करता है जो परिग्रह आदि की मर्यादा के अन्तर्गत हो जाने से अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव करने लगता है। उसकी असीम कामनाएँ सीमित हो जाती हैं, अनियंत्रित मन नियंत्रित हो जाता है, बिना किसी लगाम के स्वच्छन्द विचरण करने वाली इन्द्रिय संयत हो जाती हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानों माथे का बोझा उतर गया है।

यदि शासन यह नियम बना दे कि किसी भी मजदूर से बीस सेर से अधिक बोझ न उठवाया जाय तो मजदूरों को प्रसन्नता होगी। मजदूर के सिर की गठरी अगर मालिक रखले तो भी उसे प्रसन्नता का अनुभव होगा। भार हल्का होने से प्रसन्नता होती है, शान्ति मिलती है, यह अनुभव सिद्ध तथ्य है।

भगवान महावीर कहते हैं—पाप की गठरी को उतार फेंको तो तुम्हें शान्ति मिलेगी। नहीं उतार सकते तो उसे हल्की ही करलो। यह शान्ति प्राप्त करने का उपाय है, मगर संसारी जीव की बुद्धि विपरीत दिशा में चलती है। वह भार लादने का कुछ ऐसा अभ्यासी हो गया है कि भारहीन दशा के सुख की कल्पना ही उसके मन में उदित नहीं हो पाती। परिणाम स्वरूप वह जिस भारयुक्त स्थिति में है उसी में मगन रहना चाहता है। किन्तु जो भारहीन या परिमित भारवाली दशा को अंगीकार कर लेते हैं वे अपूर्व शान्ति अनुभव करने लगते हैं। उनका मन निराकुल हो जाता है।

जिसका मानस मूढ़ बन गया है वह भार को भार नहीं समझ पाता और भारहीन दशा में आने से झिझकता है। मगर समय-समय पर पापों की गठरी को इधर-उधर रखकर मनुष्य को शान्ति प्राप्त करना चाहिए।

अनादिकाल से आत्मा भाराक्रान्त है। भाराक्रान्त होने से अशान्त है और अशान्ति में उसे सच्चे आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती। महावीर स्वामी ने श्रमणोपासक आनन्द को सच्चा आनन्द-मार्ग प्रदर्शित किया और

आनन्द के माध्यम से जगत् के समस्त सन्तप्त प्राणियों को वह मार्ग दिखलाया।

निसर्ग के नियम को कौन टाल सकता है? प्रतिदिन सुनहरा प्रभात उदित होता हैं तो सन्ध्या भी अवश्य आती है। प्रभात हो किन्तु सन्ध्या न आए, यह कदापि संभव नहीं है। प्राणी के जीवन में भी प्रभात और सन्ध्या का आगमन होता है। जन्म प्रभात है तो मरण संध्यावेला है।

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

जिसने जन्म ग्रहण किया है, उसका मरण अनिवार्य है और जो मरण शरण हुआ है उसका जन्म भी निश्चित है।

पशु-पक्षी और कीट-पतंग की तरह मरना जन्म-मरण के बन्धन को बढ़ाना है! भगवान् महावीर ने कहा—मानव! तू मरने की कला सीख! मृत्यु जब सत्य है तो उसे शिव और सुन्दर भी बना! उसके विकराल रूप की कल्पना करके तू मृत्यु के नाम से भी थर्रा उठता है, मगर उसके शिव-सुन्दर स्वरूप को क्यों नहीं देखता?

कहा जा सकता है कि मृत्यु विनाश है, संहार है, जीवन का अन्त है। उसमें शिवत्व और सौन्दर्य कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि अज्ञानी जीव प्रायः प्रत्येक वस्तु की काली बाजू ही देखा करते हैं। शुक्ल पक्ष उन्हें दृष्टिगत नहीं होता। मृत्यु यदि विनाश है तो क्या नवजीवन का निर्माण नहीं है? संहार है तो क्या सृष्टि नहीं है? जीवन का अन्त है तो क्या नूतन जीवन की आदि नहीं है? क्या मृत्यु के बिना नवजीवन की भेंट किसी को हो सकती है?

ज्ञानी और अज्ञानी की विचारणा में बहुत अन्तर होता है। ज्ञानीजन कहते हैं—

कृमिजाल शताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
भिद्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञान विग्रहः॥

हे आत्मन्! सैकड़ों कीड़ों से व्याप्त और जर्जर यह देह रूपी पींजरा अगर भेद को प्राप्त होता है तो होने दे। इसमें भयभीत होने की क्या बात है। जैसे पक्षी के लिए पींजरा होता है वैसे ही तेरे लिए यह देह है। यह तेरी असली देह नही है। तेरी असली देह तो चेतना है जो तुझसे कदापि पृथक् नहीं हो सकती।

ज्ञानी जन मृत्यु को मित्र मानकर उससे भेंटने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। मृत्यु उनके लिए विषाद का कारण नहीं होती। वे समझते हैं कि हमने जीवन भर जो पुण्य-धर्म किया है, उसका फल तो मृत्यु के माध्यम से ही प्राप्त होता है। तो फिर मृत्यु से भयभीत क्यों होना चाहिए? शरीर के कारागार से मुक्त करने वाली मृत्यु भयावह कैसे हो सकती है?

मगर अज्ञानी और अधर्मी जन मृत्यु की कल्पना से सिहर उठते हैं। वे समझते हैं कि वर्तमान जीवन में किये हुए पापों का दुष्फल अब भुगतना पड़ेगा।

तो मृत्यु को और उसके पश्चात् के जीवन को सुन्दर और सुखद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस जीवन को उज्ज्वल और पवित्र बनाया जाय, जीवन में पाप का स्पर्श न होने दिया जाय। जिसने इस प्रकार की सावधानी रक्खी उसके लिए मृत्यु मंगल है, महोत्सव है, शिव है, सुन्दर है और सुखद है।

भगवान ने आनन्द को मृत्यु के दो भेद बतलाये —

(१) पश्चिम मरण	(२) अपश्चिममरण
बालमरण	पण्डित मरण
असमाधिमरण	समाधिमरण.

प्रथम प्रकार के मरण के लिए कला की आवश्यकता नहीं। रेल की पटरी पर सो जाना, विषपान कर लेना, फांसी लगा लेना या कुंए में कूद जाना

उसके सरल साधन हैं। कषाय-पूर्वक मरना और हाय-हाय करते हुए मरना
भी वालमरण है। आत्म हत्या के रुप में वालमरण की घटनाएं आज कल
वहुत बढ़ गई हैं। सौराष्ट्र प्रान्त में तो ऐसी घटनाएं इतनी अधिक होती है
कि वहाँ के मुख्य मंत्री के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई हैं। ग्रह कलह और
घोर निराशा आदि इसके कारण होते हैं। पति के विछोह में पत्नी की और
पुत्र के वियोग में पिता की मृत्यु होना भी वालमरण है। भारत में पहले
प्रचलित सती प्रथा भी वालमरण का ही भयानक रूप था। इस प्रकार अनेक
रूपों में यह वालमरण आज प्रचलित है। यह मरण कलाविहीन मरण है और पाप
का कारण हैं। भगवान् महावीर ने कहा-मृत्यु को कलात्मक स्वरुप प्रदान करना
मानव का सर्व श्रेष्ठ कौशल है। जीवनगत विकारों को समाप्त करके, जीवन
का शोधन करके और माया-ममता से अलग होकर जो हंसते-हंसते मरता है,
वह जीवन की कला जानता है।

किसी सन्त का शिष्य बड़ा तपस्वी था तप करते-करते उसका शरीर
क्षीण होगया अतएव उसने समाधिमरण अंगीकार करने का निर्णय किया।
गुरु से समाधिमरण की अनुमति मांगी। गुरु ने कहा-अभी समय नहीं आया है।
शिष्य पुनः तप में निरत हो गया। उसने शरीर सुखा दिया। अस्थियां ही शेष
रह गई। तब वह फिर गुरु के पास पहुँचा और समाधिमरण की अनुमति मांगी।
गुरु बोले-अभी अवसर नहीं आया है।

शिष्य फिर कठिन तपस्या करने लगा। अब उसे चलने फिरने
में उठने-बैठने में यहाँ तक कि बोलने में भी कठिनाई होने लगी। उसने
फिर गुरु से अनुमति मांगी। गुरु ने कहा अभी अवसर नहीं आया है।
संलेखना करो!

गुरु को वही पुराना उत्तर सुन कर शिष्य को इस वार रोष हो आया।
उसने अपनी उंगली तोड़ कर बतलाया कि-देखिये, मेरे शरीर में रुधिर नहीं
रह गया है!

गुरु ने शान्ति और वात्सल्य से समझाया कि संलेखना करने का अर्थ कषाय को त्याग करना है। काय का त्याग करने पर भी कषाय का त्याग किये बिना आत्महित नहीं होता।

शिष्य समझ गया। उसे अपनी भूल मालूम होगई। वास्तव में मृत्यु-कलाविद् वही है जो वीतराग दशा में सम्भाव पूर्वक शरीर का उत्सर्ग करता है!

कषाय को कृश करना संलेखना है। कषाय को कृश कर देने पर मृत्यु का अनिष्ट रुप नहीं रह जाता। उस समय मृत्यु कलात्मक मृत्यु बन जाती है, जिसे समाधिमरण कहते हैं। हजारों-लाखों में कोई विरला ही व्यक्ति समाधिमरण का अधिकारी होता है। अधिकांश लोग तो कषायों से ग्रस्त होकर हाय-हाय करते ही मरते है। जिनका जीवन साधना में व्यतीत हुआ, जिन्होंने काले कारनामों से अपना मुँह मोड़ लिया या जिनके जीवन में उज्ज्वलता रही, उन्हीं को मृत्यु सुधार का अवसर मिलता है। उनकी भूमिका तैयार होती है, अतएव कोई गड़बड़ पैदा कर देने वाला निमित्त न मिल गया तो उनकी मृत्यु सुधर जाती है।

परीक्षा में उत्तीर्ण होना या अनुत्तीर्ण होना तीन घंटे के कतृत्व पर निर्भर है। जिसने तीन घंटों में सही-सही उत्तर लिख दिये उसे सफलता अवश्य मिलती है। मगर सही उत्तर वही लिख सकेगा जिसने पहले अभ्यास कर रक्खा हो पूर्वाभ्यास के अभाव में केवल तीन घंटे के श्रम से उत्तीर्णता प्राप्त करना संभव नहीं है। इसी प्रकार समाधिमरण भी एक कठोर परीक्षा है। इसमें उत्तीर्ण होने के लिए जीवन व्यापी अभ्यास की आवश्कता है। अतएव जो अपनी मृत्यु को सुधारना चाहते हों उन्हें अपना जीवन सुधारना होगा। जीवन को सुधारे बिना मृत्यु को सुधारने की आशा रखने वालों को निराश होना पडेगा।

आई. ए. एस. जैसी परीक्षाओं में साक्षात्कार-परीक्षा भी होती है। उसमें प्रत्येक प्रत्याशी को संक्षिप्त मौखिक परीक्षा देनी पड़ती है जिसे अंग्रेजी

भाषा में इंटरव्यू कहते हैं। इंटरव्यू में दस-पन्द्रह मिनट में ही पास फेल होने का खेल समाप्त हो जाता है। उस समय क्या पूछा जाएगा पता नहीं रहता। मगर प्रत्याशी अगर अभ्यासशील हो और उस समय अपना मानसिक सन्तुलन कायम रक्खे तो सफलता प्राप्त करता है। इसी प्रकार मरण के समय यदि मानसिक सन्तुलन रहा तो मुमुक्षु को सफलता प्राप्त होती है। यदि उस समय मोह ममता जाग उठी तो अनुत्तीर्ण हो जायेगा।

भगवान महावीर ने व्रताराधना के बाद आनन्द को मरणसुधार का उपाय बतलाया। मरणसुधार करने वालों को विकारों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। उग्र से उग्र भय कष्ट आदि आने पर भी सावधान साधक ज्ञान बल द्वारा विकारों को उत्पन्न नहीं होने देता।

विकारो के शमन के लिए अध्यात्म ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता होती है। ऊँचे से ऊँचा अन्य ज्ञान प्राप्त करने वाले ने भी यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त नहीं किया तो सब व्यर्थ है? विद्वान् पुरुष से यदि बोलते समय स्खलना हो जाय तो उसका उपहास नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक छद्मस्थ स्खलना का पात्र है।

स्थूलभद्र ने आचार्य भद्रबाहु से दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया किन्तु अपने प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए साध्वियों के समक्ष सिंह का रूप धारण किया। इस घटना को जानकर आचार्य भद्रबाहु को खेद हुआ और उन्होंने आगे का अभ्यास बन्द कर दिया। अहंभाव आने पर आगे की साधना के समक्ष दीवाल खड़ी हो जाती है।

आचार्य भविष्य का विचार करके चौकन्ने हो गए। उन्होंने सोचा-इस गहरे पात्र में जब छलकन आगई तो इससे अधिक का समावेश कैसे हो सकेगा? अब अभ्यास को रोक देना ही उचित है। आचार्य ने यह निर्णय कर लिया। ज्ञानी पुरुष अपनी भूल को जल्दी समझ लेता है, स्वीकार कर लेता है और उसका प्रतीकार करने में भी विलम्ब नहीं करता।

एक घुड़सवार घोड़े से गिर पड़ा। किसी ने उससे कहा—क्या भाई, गिर पड़े ? उसने लजाते हुए कहा—नहीं, कहां गिरा हूँ ! उसका पांव तो पायदान में लटक रहा था, तथापि उपहास के भय से उसने प्रत्यक्ष गिरने को भी स्वीकार नहीं किया।

भूल होना कोई असाधारण बात नहीं। प्रत्येक छद्मस्थ प्राणी से कभी न कभी भूल हो ही जाती है। मगर उस भूल को स्वीकार न करना और छिपाने का प्रयत्न करना भूल पर भूल करना है। ऐसा करने वाले के सुधार की संभावना बहुत कम होती है। अतएव प्रत्येक समझदार व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह खूब सोच-समझकर ही कोई कार्य करे और भूल न होने दे तथापि कदाचित् भूल हो जाय तो उसे स्वीकार करने और सुधारने में आनाकानी न करे। भूल को स्वीकार करना दुर्बलता का नहीं बलवान् होने का लक्षण है। भगवान् महावीर का कथन है कि अपनी भूल को गुरु के समक्ष निश्छल भाव से निवेदन कर देने वाला ही आराधक होता है। ऐसे साधक की साधना ही सफल होती है।

अपनी भूल को छिपाना ऐसा ही है जैसे शरीर में उत्पन्न हुए फोड़े को छिपाना। फोड़े को छिपाने से वह बढ़ जाता है, उसमें जहर उत्पन्न हो जाता है और अन्त में वह प्राणों को भी ले बैठता है। उसे उत्पन्न होते ही चिकित्सक को दिखला देना बुद्धिमत्ता है। इसी प्रकार जो भूल हो गई है, कोई दुष्कृत्य हो गया है, उसे गुरुजन के सामने प्रकट न करना अपने साधना जीवन को विषाक्त बनाना है।

मुनि स्थूलभद्र महान् साधक थे। उन्होंने अपनी भूल को स्वीकार करने में तनिक भी आनाकानी नहीं की। संघ ने भी उनकी सिफारिश की। संघ ने कहा—एक बार की चूक के कारण ज्ञान देने का कार्य बंद नहीं होना चाहिए। मुनिमंडल ने आचार्य के चरणों में प्रार्थना की—भगवन् ! महामुनि स्थूलभद्र से स्खलना होगई है। उसकी हम अनुमोदना नहीं करते, किन्तु चलने वाले से

स्खलना हो ही जाती है। उसका परिमाजन किया जाय। भगवान् महावीर रूपी हिमाचल से प्रवाहित होता चला आने वाला श्रुत-गंगा का यह परमपावन प्रवाह आपके साथ समाप्त नहीं हो जाना चाहिए। मुनि स्थूलभद्र को आप अपनी ज्ञाननिधि अवश्य दीजिए। वे संघ के प्रतिनिधि हैं, अतएव स्थूलभद्र को ज्ञान देना साधारण व्यक्ति को ज्ञान देना नहीं है, वरन् संघ को ज्ञान देना है। अनुग्रह करके उनकी एक भूल को क्षमा की आंखों से देखिए और उन्हें चौदह पूर्वों का ज्ञान अवश्य दीजिए।

आचार्य भद्रबाहु महान् थे किन्तु संघ को वे सर्वोपरि मानते थे। जिन शासन में संघ का स्थान बहुत ऊंचा है। अतएव संघ के आग्रह को अस्वीकार करने की कोई गुंजाइश न थी। उधर भद्रबाहु के मन में असन्तोष था। वे सोचते थे कि काल के प्रभाव से मुनियों के मन में भी उतनी सबलता नहीं रहने वाली है। अतएव यह ज्ञान उनके लिए भी हानिकारक ही सिद्ध होगा। इस प्रकार एक ओर संघ का आग्रह और दूसरी ओर अन्तःकरण का आदेश था। आचार्य दुविधा में पड़ गए। सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने मध्यम मार्ग ग्रहण किया। अपना निर्णय घोषित कर दिया कि अवशेष श्रुत का ज्ञान देंगे किन्तु सूत्र रूप में ही वह ज्ञान दिया जाएगा, अर्थ रूप में नहीं। इस निर्णय को सबने मान्य किया।

आगम के दो रूप होते हैं—सूत्र और अर्थ। सूत्र मूल सामग्री रूप है और अर्थ उससे बनने वाला विविध प्रकार का भोजन। मूल सामग्री से नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ तैयार किये जा सकते हैं। सबल एवं नीरोग व्यक्ति बाफला जैसे गरिष्ठ भोजन को पचा सकता है किन्तु बालक और क्षीणशक्ति व्यक्ति नहीं पचा सकता है। अर्थागम को पचाने के लिए विशेष मनोबल की आवश्यकता होती है। वह न हुआ तो अनेक प्रकार के अनर्थों की संभावना रहती है। अध्येता अगर व्यवहार दृष्टि को निश्चय दृष्टि समझ ले या निश्चय दृष्टि को व्यवहार दृष्टि समझ ले तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। उत्सर्ग को अपवाद या अपवाद को उत्सर्ग समझ लेने से भी अनेक प्रकार की भ्रमणाएं फैल सकती हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, इस कथन में सत्यता है, मगर इसका अर्थ यदि यह समझ लिया जाय कि धन, पुत्र, कलत्र आदि के प्रति आसक्ति रखने से भी आत्मा में किसी प्रकार की विकृति नहीं हो सकती तो यह अनर्थ होगा।

स्थानांग सूत्र का प्रथम वाक्य है—'एगे आया।' यदि इसका आशय वही समझा जाय जैसाकि आत्माद्वैतवादी वेदान्ती कहते हैं, अर्थात् समस्त विश्व में, सभी शरीरों में, एक ही आत्मा है—प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्मा नहीं हैं, तो कितना अनर्थ होगा।

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध एवं सिद्धस्वरूप है, यह निरुपण आपने सुना होगा। क्या इसका आशय यह है कि किसी को साधना करने की आवश्यकता नहीं है?

तात्पर्य यह है कि सूत्र के सही अर्थ को समझने के लिए नय दृष्टि की आवश्यकता होती है। जिन प्रवचन का एक भी वाक्य नयनिरपेक्ष नहीं होता। जिस नय से जो बात कही गई है, उसे उसी नय की अपेक्षा समझना चाहिए। दूसरे नय की दृष्टि को सर्वथा सर्व ओझल नहीं कर देना चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो घोर अनर्थ होगा। आज जिन शासन में भी अनेक प्रकार के जो वितंडावाद चल पड़ते हैं और विभिन्न प्रकार के साम्प्रदायिक मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं, उनका आधार अपेक्षा, नयदृष्टि या विवक्षाभेद को न समझना ही है। गहराई के साथ नयदृष्टि को न समझने से कलह का बीजारोपण होता है। अतएव निष्पक्षभाव से, शुद्ध बुद्धि से आगम के अर्थ को इस प्रकार समझना चाहिए जिससे लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो।

सुधासिंचन

धर्म और धर्म साधना के सम्बन्ध में साधारण लोगों में अनेक प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणाएं फैली हैं। बहुतों की समझ है कि धर्मस्थान में जाकर अपनी परम्परा के अनुकूल अमुक विधि विधान या क्रिया कर लेने मात्र से धर्म साधना की इति श्री हो जाती है। अधिकांश लोग ऐसा ही करते हैं और अपने मन को सन्तुष्ट कर लेते हैं। इनकी समझ के अनुसार धर्मस्थान से बाहर के व्यवहार के साथ धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं। गार्हस्थिक व्यवहार और व्यापार में धर्म का कोई स्थान नहीं है।

ज्ञानी जनों का कथन है कि इस प्रकार की धारणा बहुत ही भ्रमपूर्ण है। धर्म साधना जीवन के प्रत्येक व्यवहार का विषय है। जिसके चित्त में धर्म की महत्ता समा गई है, जिसके रोम-रोम में धर्म व्याप गया है और जिसने धर्म को परम मंगलकारी समझ लिया है, वह क्षण भर के लिए भी धर्म को विस्मृत नहीं करेगा। उसके समस्त लौकिक कहलाने वाले कार्यों में भी धर्म का पुट रहेगा ही। जब वह व्यापार करेगा तो भाव-ताव करने में असत्य का प्रयोग नहीं करेगा। अबोध बालक को भी ठगने का प्रयत्न नहीं करेगा। अच्छी वस्तु दिखला कर खराब नहीं देगा। किसी भी वस्तु में मेल-सेल नहीं करेगा। कम नापने-तोलने में पाप समझेगा। विवाह करेगा तो उसका उद्देश्य भोग विलास की स्वच्छन्दता प्राप्त करना नहीं होगा वरन् अपने जीवन को मर्यादित करना होगा। परस्त्रियों को माता-बहिन समझकर बर्ताव करना होगा। इस प्रकार सभी कार्यों में उसका दृष्टिकोण धर्मयुक्त होगा।

ऐसा धार्मिक व्यक्ति धर्मस्थान में अवश्य जाएगा और वहां विशिष्ट साधना भी करेगा, मगर यही सोचेगा कि धर्मस्थान में प्राप्त की हुई प्रेरणा मेरे जीवन व्यवहार में काम आनी चाहिए। अगर जीवन के व्यवहार अधर्म-मय बने रहे तो धर्मस्थान में ली हुई शिक्षा किस काम की? वह शिक्षा जीवन में ओत-प्रोत हो जानी चाहिए।

जिसने धर्म के मर्म को पहचान लिया है, उसकी दृष्टि निरन्तर आत्म-तत्व पर टिकी रहती है। वह कोई भी कार्य करे मगर आत्मा को विस्मृत नहीं करता। वह इस तथ्य को पूरी तरह हृदयंगम कर लेता है कि मानव जीवन का सर्वोपरि साध्य आत्महित है। अगर हम आत्मा के हिताहित का विचार न कर सके, आत्मोत्थान और आत्मपतन के कारणों को न समझ सके तो हमारी विचार शक्ति की सार्थकता ही क्या हुई? जड़ जगत के विचार में जो इतना मग्न हो जाता है कि आत्मा का विचार ही नहीं कर पाता, उसका विचार चाहे जितना गंभीर और सूक्ष्म क्यों न हो, सार्थक नहीं है। विवेकवान् व्यक्ति के लिए तो आत्मा के स्वरूप का चिन्तन और संरक्षण करके निराकरण दशा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही उचित है। यही धर्म है। इस सम्बन्ध की कथा धर्म कथा कहलाती है।

अशुभ भाव से जब तक मन नहीं हटेगा तब तक शुभ कार्य में मन नहीं लगेगा। अशुभ फलों का कटुक फल बता कर तथा शुभ कर्मों का लाभ बतला कर धर्म के प्रति प्रीतिमान् बनाया जाता है।

जब तक बच्चे के अन्तःकरण में पढ़ाई के प्रति प्रीति नहीं उत्पन्न होती तब तक दण्ड आदि का भय उसे दिखलाया जाता है। किन्तु जब बालक स्वयं अन्तः प्रेरणा से ही पढ़ाई में रुचि लेने लगता है और पढ़ाई में उसे आनन्द का अनुभव होने लगता है तो उसे किसी प्रकार का भय दिखलाने की आवश्यकता नहीं होती। वह पढ़ाई के बिना रह नहीं सकता। सेठों को दुकान-दारी में प्रीति होती है। दुकानदारी के फेर में पड़ कर वे भोजन भी छोड़ देते हैं।

पाप के कटुक फल और उससे उत्पन्न होने वाली विषम यातनाएं बतला कर लोगों को पाप से मोड़ने की आवश्यकता है। पापाचार न केवल परलोक में ही वरन् इस लोक में भी दुःखों का कारण होता है। इस तथ्य को भगवान महावीर के मुख से जान कर श्रमणोपासक आनन्द ने बारह व्रतों को अंगीकार किया। तत्पश्चात् मृत्यु को सुधारने के लिए पांच दूषण से बचने का उपाय प्रभु ने आनन्द को बतलाया।

जब अन्तिम समय आया दिखाई दे तब समाधिमरण अंगीकार किया जाता है। समाधिमरण अंगीकार करने से पहले संलेखना की जाती है। संलेखना में सब प्रकार के कषायों को क्षीण करना होता है। 'सम्यक्काय कषाय लेखना सल्लेखना' अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषायों को कृश करना सल्लेखना या संलेखना है। इस प्रकार जब बाहर से काय को और भीतर से कषाय को कृश कर दिया जाता है तब साधक समाधिमरण को अंगीकार करता है। समाधिमरण संसार से सदा के लिए छुटकारा पाने का साधन है। कहा भी है—

एगम्मि भवग्गहणे, समाधि मरणेण जो मइदि जीवो।
ण हु हिंडदि बहुसो, सत्तट्ठ भवे पमोत्तूण ॥

अर्थात् एक भव में जो जीव समाधिमरण पूर्वक शरीर का त्याग करता है वह सात-आठ भवों से अधिक काल तक संसार में भ्रमण नहीं करता।

संलेखना समाधिमरण की भूमिका तैयार करता है। संलेखना करके साधक भूमिका का निर्माण कर लेता है, आहार का, अठारह प्रकार के पाप का एवं शरीर के प्रति ममता का परित्याग कर देता है। जिस शरीर का बड़े यत्न से पालन-पोषण किया था, सर्दी-गर्मी और रोगों से बचाया था, उसके प्रति मन में लेश मात्र भी ममत्व न धारण करते हुए शान्ति और समभाव से, आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसे त्याग देना पण्डित-मरण है।

समाधिमरण के पांच दूषण हैं, जिनसे साधक बचता है। वे इस प्रकार हैं—

(१) समाधिमरण की साधना अंगीकार करके पुत्र, कलत्र आदि की चिन्ता करना दोष है। इस लोक सम्बन्धी किसी भी प्रकार की आकांक्षा का उदय होने से यह दोष होता है।

(२) परलोक सम्बन्धी कामना करना भी दोष है। मुझे इन्द्र का पद प्राप्त हो जाए, मैं चक्रवर्ती बन जाऊं, यह अभिलाषा भी इस व्रत को दूषित करती है।

(३) समाधिमरण के समय आदर-सम्मान होते देख कर अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा करना भी दोष है।

(४) कष्ट से छुटकारा पाने के उद्देश्य से, घबरा कर शीघ्र मरण की इच्छा करना।

(५) अच्छा विस्तर चाहना, तेल आदि की मालिश करना, विषयों की आकांक्षा करना।

अभिप्राय यह है कि अपने अन्तिम समय में भावना को निर्मल बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी भी प्रकार की विकारयुक्त विचारधारा को पास भी नहीं फटकने देना चाहिये। पूरी तरह समभाव एवं विरक्तिभाव जागृत करना चाहिए। विवेकशाली व्रती जब साधना के मार्ग में सजग होकर कदम बढ़ाता है तो मरण के समय क्यों असावधानी बरतेगा? व्रती निरन्तर इस प्रकार की भावना में रमण करता है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

पद्य में ही इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

कोई बुरा कहो या अच्छा,
लक्ष्मी आवे या जावे।

लाखों वर्षों तक जीऊं या,
मृत्यु आज ही आ जावे।

अथवा कोई कैसा ही भय,
या लालच देने आवे।

तो भी न्यायमार्ग से मेरा,
कभी न पथ डिगने पावे॥

व्रत साधना मरण सुधार की सुदृढ़ भूमिका है, क्योंकि व्रत साधना के लिए पर्याप्त समय मिलता है। मरण के समय के क्षण थोड़े होते। अतएव उस समय प्रायः पूर्वकालिक साधना के संस्कार ही काम आते हैं। अतएव साधक को अपने व्रती जीवन में विशेष सावधान रहना चाहिए।

इन पांच अतिचारों की वृत्तियाँ जीवन में एवं व्रताराधन में मलीनता न उत्पन्न होने दें तो साधक महान् कल्याण का भागी होता है। एक बार की मृत्यु बिगाड़ने से जन्म-जन्मान्तर बिगड़ जाता है और मृत्यु सुधारने से मोक्ष का द्वार खुल जाता है। छात्र वर्ष भर मिहनत करके भी यदि परीक्षा के समय प्रमाद कर जाय और सावधान न रहे तो उसका सारा वर्ष बिगड़ जाता है। मरण के समय प्रमाद करने से इससे भी बहुत अधिक हानि उठानी पड़ती है। इसी कारण भगवान् ने पांच दोषों से बचने की प्रेरणा की है।

व्रतों के समस्त अतिचारों से बचने वाला व्रती गृहस्थ भी अपने जीवन को निर्मल बना सकता है। अतएव जो शाश्वतिक सुख के अभिलाषी हैं उन्हें निरतिचार व्रत पालन के लिए ही सचेष्ट रहना चाहिए।

बारह व्रतों और उनके अतिचारों को श्रवण कर आनन्द ने प्रभु की साक्षी से व्रतों को ग्रहण करने का संकल्प किया। व्रतों का पालन तो यों भी किया जा सकता है तथापि देव या गुरु के समक्ष यथाविधि संकल्प प्रकट करना ही उचित है। ऐसा करने से संकल्प में दृढ़ता आती है और अन्तःकरण के किसी कोने में कुछ दुर्बलता छिपी हो तो वह भी दूर हो जाती है। किसी नाजुक प्रसंग के आने पर भी उस संकल्प से विचलित न होने में सहायता मिलती है। अपने मन में ही व्रत पालन का विचार कर लेने से वह दृढ़ता नहीं उत्पन्न होती और समय पर विचलित होने की संभावना बनी रहती है। अतएवं जो भी व्रत अंगीकार किया जाय उसे गुरु की साक्षी से ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है। कदाचित् ऐसा योग न हो तो भी धर्मनिष्ठ बन्धुओं के समक्ष अपने संकल्प को प्रकट कर देना चाहिए।

आनन्द सोचता है कि मैं अत्यन्त सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे साक्षात् जिनेन्द्र देव तीर्थंकर के चरणों में अपने जीवनोत्थान आत्मकल्याण के लिए व्रतग्रहण का सुअवसर प्राप्त हो सका। यह सोच कर उसे अपूर्व प्रमोद हुआ। उसने निश्चय किया कि मैं अपने इस प्रमोद को अपने तक ही सीमित नहीं रक्खूंगा। मैं अपने मित्रों और बन्धुजनों को भी इस आनन्द का भागी बनाऊंगा। मैं उनके जीवन को भी सफल बनाने में सहायक बनूंगा।

साधक स्वयं ग्रहणीय बातों को गुरुजनों से ग्रहण कर के दूसरों में प्रचारित करता है। उसे वह धर्म की सच्ची प्रभावना मानता है। सच्चा साधक उन बातों का संरक्षण और संवर्द्धन करता है। यदि साधक सद्विचारों को अपने तक ही सीमित रखता है और उन्हें प्रचारित नहीं करता तो वे विचार वृद्धि नहीं पाते। भारत की अनेक विद्याएँ और औषधियों इसी कंजूसी के फलस्वरूप नष्ट हो गई और हो रही हैं।

धर्म सीमित और अधर्म विस्तृत हो जाता है तो वासना का दौर शुरू होता है। वासना सहज प्रवृत्ति है। मनुस्मृति में कहा है—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला।

प्रवृति प्रत्येक प्राणी के लिए सहज बनी हुई है, बच्चों को खुराक चबाने की कला नहीं सिखलानी पड़ती। भूख मिटाने के लिए खाना चाहिए, इस उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। बच्चे नौजवान होकर उदर-पूर्ति के साधन आवश्यकता होने पर जुटा लेते हैं। नौ जवानों को सुन्दर वस्त्र पहनने की शिक्षा नहीं दी जाती। ये सब बातें देखा देखी आप ही सीख ली जाती हैं।

सद्विचारों एवं धर्म को सुरक्षित रखने के लिए तथा देश की संस्कृति की रक्षा करने के लिए शस्त्रधारी सैनिकों से काम नहीं चलता। इसके लिये शास्त्रधारी सैनिक चाहिए। सन्त-महन्तों के नेतृत्व में शास्त्रधारी सैनिक देश की पवित्र संस्कृति की रक्षा करते थे। सन्तों को सदा चिन्ता रहती थी कि हमारी पावन और आध्यात्मिक संस्कृति अक्षुण्ण बनी रहे और उसमें अपावनता का सम्मिश्रण न होने पावे जिससे मानव सहज ही जीवन के उच्च आदर्शों तक पहुँच सके।

संभूति विजय का प्रयास था कि शास्त्रधारी सैनिकों की शक्ति कम न होने पावे। उनका प्रयास बहुत अंशों में सफल हुआ। सर्वांश में नहीं। स्थूल-भद्रजी की स्खलना ने उसमें बाधा डाल दी। संघ के अधिक आग्रह पर शेष चार पूर्वों को सूत्र रूप में देना ही उन्होंने स्वीकार किया। स्थूभद्र स्वयं इस विषय में कुछ अधिक नहीं कह सकते थे। उनकी स्खलना इतना विषम रूप धारण कर लेगी, इसकी उन्हें लेश मात्र भी कल्पना नहीं थी। इस विषम रूप को सामने आया देखकर उन्हें हार्दिक वेदना हुई, पश्चाताप हुआ। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि ज्ञानवान् साधक से जब भूल हो जाती है तो वह जल्दी उसे भूल नहीं सकता।

जैन शास्त्र में जाति शब्द का वह अर्थ नहीं लिया जाता जो आज कल लोक प्रचलित है। प्रचलित अर्थ तो अर्वाचीन है। शास्त्रों में मातृ पक्ष को जाति और पितृ पक्ष को कुल कहा गया है—

मातृपक्षो जातिः, पितृ पक्षः कुलम्।

जिसकी सात पीढ़ियां निर्मल रही हों वह कुलीन कहलाता था। जिस पुत्र का मातृ वंश और पितृ वंश निर्मल होगा वह कुलीन और जातिमान् कहलाएगा। किसी बालक में कोई दुर्गुण दीख पड़े तो उसके पितृ वंश के इतिहास की खोज करनी चाहिये। पता चल जाएगा कि उसके किसी पूर्वज में यह दोष अवश्य रहा होगा।

महागंगा की धारा को मोड़ना जैसे शक्य नहीं, उसी प्रकार भद्रबाहु की विचारधारा को मोड़ना भी शक्य नहीं था। उन्होंने स्थूलभद्र को चौदह पूर्व सिखा दिये किन्तु उन्हें यह आदेश भी दे दिया कि आगे चौदह पूर्व किसी को न सिखाना।

सिद्धसेन एक बड़े विद्वान् व्यक्ति थे। उनका कहना था कि मेरे मुकाबिले का कोई विद्वान् मिले तो उसके साथ शास्त्रार्थ करूँ; किन्तु कोई उनका सामना करने को तैयार नहीं होता था। उनकी विद्वत्ता की दुंदुभि बजने लगी। कहते हैं-उन्होंने अपने पेट पर पट्टा बांध रक्खा था। कोई पट्टा बांधने का कारण पूछता तो वे कहते—पट्टा न बांधू तो विद्या की अधिकता के कारण पेट फट जाएगा।

उसी समय वृद्धवादी नामक एक जैन विद्वान थे। किसी ने सिद्धसेन से पूछा-क्या आपने कभी वृद्धवादी से चर्चा की है? सिद्धसेन बोले-बूढ़े बैल की मेरे सामने क्या बिसात है। फिर भी देख लूंगा।

सिद्धसेन एक बार वृद्धवादी के पास पहुँचे। उन्होंने कहा-मैं उपदेश सुनने नहीं, वाद करने के लिए आया हूं। आचार्य वृद्धवादी ने उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा और अध्ययन करके कहा—वाद करना स्वीकार है, परन्तु मध्यस्थ चाहिये जो वाद के परिणाम (जय-पराजय) का निर्णय करे।

जंगल में दोनों विद्वानों की मुलाकात हुई थी। वहां इन दो महारथियों के वाद का निर्णय करने योग्य मध्यस्थ विद्वान् कहां मिलता? आखिर एक

ग्वाला मिल गया और उसे ही निर्णायक बनाया गया। व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त, द्वैताद्वैत की बातें चलीं। वृद्ध वादी अतिशय विद्वान् होने के साथ अत्यन्त लोक व्यवहार निपुण भी थे। उन्होंने लोकभाषा में संगीत सुनाया और सभी उपस्थित ग्वाले प्रसन्न हो गए। निर्णायक ग्वाले को भी प्रसन्नता हुई। उसने वाद का निर्णय कर दिया— आचार्य वृद्धवादी विजयी हुए।

भड़ोंच की राजसभा में वृद्धवादी ने सिद्धसेन को पुनः पराजित किया। सिद्धसेन वृद्धवादी के शिष्य बन गए।

सिद्धसेन अपने समय के प्रभावशाली विद्वान् थे। विक्रमादित्य ने उन्हें अपना राज पुरोहित बनाया। सिद्धसेन की विद्वता से सन्तुष्ट होकर विक्रमादित्य ने उनसे यथेष्ट वर मांगने को कहा। मगर त्यागी सिद्धसेन को अपने लिए कुछ मांगना नहीं था। उन्हें कोई अभिलाषा नहीं थी। अतएव उन्होंने प्रजा को ऋणमुक्त करने का वर मांगा।

राजपुरोहित होने के नाते सिद्धसेन पालकी में आने-जाने लगे। वृद्धवादी को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने सिद्धसेन को सही राह पर लाने का विचार किया। राजसी भोग भोगना साधु के लिए उचित नहीं है। इससे संयम दूषित हो जाता है। एक दिन वृद्धवादी छिने रूप में भार वाहक के रूप में वहाँ पहुँचे। जब सिद्धसेन पालकी में सवार हुए तो वृद्धवादी भी पालकी के उठाने वालों में सम्मिलित हो गए। सिद्धसेन उन्हें पहचान नहीं सके, मगर उनकी वृद्धावस्था देख कर सहानुभूति प्रकट करते हुए बोले।

भूरिभार भराक्रान्तः स्कन्धः किं बाधति तव ?

अर्थात् अधिक भार के कारण क्या कन्धा दुःख रहा है? सिद्धसेन के भाषा प्रयोग में व्याकरण संबंधी एक भूल थी। वृद्धवादी को वह बुरी तरह चुभी और उन्होंने चट उत्तर दिया—'भार के कारण कंधा उतना नहीं दुख

रहा जितना 'बांधते' के बदले तुम्हारा 'बाधति' प्रयोग हृदय में दुख रहा है।

सिद्धसेन यह उत्तर सुन कर चौक उठे! उन्होंने सोचा–मेरी भूल मेरे गुरू के सिवाय कौन बतला सकता है! हो न हो, भारवाहक के रूप में ये मेरे गुरूजी ही हैं!

सचमुच वे सिद्धसेन के गुरू ही थे। उन्होंने प्रकट होकर उन्हें उपदेश दिया—हम साधुओं का यह कर्त्तव्य नहीं है कि पालकी की सवारी करें और विलासमय जीवन व्यतीत करें। जिसे ऐसा जीवन बिताना है वह साधु का वेष धारण करके साधुता की महिमा को क्यों मलीन करे?

गुरू का उपदेश सुनते ही सिद्धसेन प्रतिबुद्ध हो गए। विद्वान् को इशारा ही पर्याप्त होता है। ज्ञानवान् पुरुष कर्मोदय से कदाचित गड़बडा जाय तो भी ज्ञान की लगाम रहने से शीघ्र सुधर जाता है। इसी कारण ज्ञान की विशेष महिमा है। सूर्य के प्रखर आलोक में जिसे सन्मार्ग दृष्टिगोचर हो रहा हो, वह कुपथ में जाकर भी शीघ्र लौट आता है, परन्तु अमावस्या की घोर अन्धकार–मयी रात्रि में, सुपथ पर आना चाहकर भी आना कठिन होता है। यही बात ज्ञानी और अज्ञानी के विषय में समझनी चाहिए। अज्ञान मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। अज्ञान के कारण मानव अपना शारीरिक और कौटुम्बिक दुःख बढ़ा लेता है। मगर ज्ञान भी वही श्रेयस्कर होता है जो सम्यक् श्रद्धा से युक्त होता है। वह ज्ञान, जो श्रद्धा का रूप धारण नहीं करता, टिक नहीं सकता। कदाचित्त टिका रहे तो भी विशेष उपयोगी नही होता। कभी–कभी तो श्रद्धा–हीन ज्ञान अज्ञान से भी अधिक अहितकर सिद्ध होता है। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि कुज्ञान से अज्ञान भला। अज्ञानी अपना ही अहित करता है परन्तु श्रद्धाहीन कुज्ञानी अपने कुतर्कों के बल से सैंकड़ों, हजारों और लाखों को गलत राह पर लेजा कर उनका अहित कर सकता है। धर्म के नाम पर नाना प्रकार के मिथ्या मतों के जो प्रवर्तक हुए हैं, वे इसी श्रेणी के थे, जिन्होंने अज्ञ जनों को कुमार्ग पर प्रेरित किया। अतएव वही ज्ञान कल्याणकारी है जो सम्यक्

श्रद्धा से यूत होता है। श्रद्धासम्पन्न ज्ञान की महिमा अपार है मगर उसका पूरा लाभ तभी प्राप्त होता है जब ज्ञान के अनुसार आचरण भी किया जाय। चारित्र गुण के विकास के अभाव में ज्ञान सफल नहीं होता।

जो मनुष्य ज्ञानोपासना में निरत रहता है, वह अपने संस्कारों में मानों अमृत का सिंचन करता है। अपनी भावी पीढ़ियों के सुसंस्कारों का बीजारोपण करता है। उसका इस लोक और परलोक में परम कल्याण होता है।

———

विराट जैन दर्शन

आचारांग सूत्र में अत्यन्त गम्भीरता और स्पष्टता के साथ साधक की जीवनचर्या का चित्रण किया गया है। उसमें आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की चर्चाएं अत्यन्त भावपूर्ण शैली में निरूपित की गई हैं। पहले बतलाया जा चुका है कि सदाचार का मूल आधार अहिंसा है। अहिंसा आचार का प्राणतत्व है। जहां अहिंसा है वहां सदाचार है और जहां अहिंसा नहीं वहां सदाचार नहीं।

आचारांग में दर्शाया गया है कि जीवों के प्रति अमैत्री भाव तथा अनात्म बुद्धि आत्मा को भारी बनाने वाली चीजें हैं। हिंसक जब अन्य जीवों का हनन करता है तो अपनी भी हिंसा करता है। पर हिंसा के निमित्त से आत्महिंसा अवश्य होती है। अगर आप गहराई से सोचेंगे तो समझ जायेंगे।

भगवान् महावीर ने कहा है—हे मानव ! संसार के सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। अतएव किसी जीव पर कुठाराघात करना अपने ही ऊपर कुठाराघात करना है। अपनी आत्मा में कषाय का भाव जागृत करने से बड़ी आत्महिंसा क्या हो सकती है ? अतएव सभी प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिए।

संसार के विविध व्यापार—आरम्भ-समारम्भ करने वाला पूरी तरह हिंसा से नहीं बच सकता, तथापि दृष्टि को शुद्ध रखना चाहिए। दृष्टि को

शुद्ध रखने का आशय यह है कि पाप को पाप समझना चाहिए—हिंसा को हिंसा मानना चाहिए और उससे बचने की भावना रखना चाहिए।

आज की स्थिति में कोई विरला ही होगा—जिसके मस्तक पर ऋण का भार न हो। यद्यपि ऋण के भार को कोई अच्छा नहीं समझता, फिर भी परिस्थिति विवश करती है और ऋण लेना पड़ता है। अगर कोई ऋण को बुरा नहीं समझता तो एक दिन ऐसा आएगा कि ऋण के भार से बुरी तरह दब जाएगा और उत्तराधिकारियों को अभिशाप बन कर जाएगा। कर्ज लेना क्या बुरा है, कर्ज तो सरकार भी लेती है, ऐसा समझने वाले की समझ उसी के लिए घातक है।

हिंसा करना भी कर्ज लेने के समान बुरा है। आर्थिक ऋण से मृत्यु छुटकारा दिला देती है किन्तु हिंसा का ऋण मृत्यु होने पर भी नहीं छूटता। वह परलोक में भी साथ रहता है और अनेकानेक भवों में बड़ी यातनाएं सहने पर ही उससे छुटकारा मिलता है।

बिना कर्ज लिए अपना काम चलाने वाले कम मिलेंगे, किन्तु यदि वे कर्ज की बुराई को बुराई समझते हैं तो वह बुराई भी उतनी भयानक नहीं होती। साधक हिंसा रूपी कर्ज को बुरा समझता है और सदैव हिंसा से बचने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति शुद्ध दृष्टि वाला कहा जाएगा।

आनन्द इसी प्रकार की शुद्ध दृष्टि से सम्पन्न सद्गृहस्थ था। उसने महाप्रभु महावीर की सेवा में उपस्थित होकर पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत तथा गुण व्रत अंगीकार किए। उसने भगवान की पावन देशना को श्रवण करने और उसकी अनुमोदना करने में ही अपनी कृतार्थता नहीं समझी, वरन् अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार उसका आचरण भी किया। अनुमोदन के साथ यदि आचरण न किया जाय तो पाप का भार कैसे कम होगा। कर्मबन्ध कैसे ढीला होगा। उसने व्रत ग्रहण करके भगवान के प्रति अपनी गाढ़ी निष्ठा प्रकट की।

आराध्य देव और अपने गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा होनी चाहिये। यदि आराध्य देव के प्रति श्रद्धा न हुई तो वह पापों का त्याग नहीं कर सकेगा। अलबत्ता मनुष्य को अपने निष्पक्ष विवेक से देव और गुरु के वास्तविक स्वरूप को समझ लेना चाहिये और निश्चय कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् अपने आध्यात्मिक जीवन की नौका उनके हाथों में सौंप देना चाहिये। ऐसा किये बिना कम से कम प्रारम्भिक दशा में तो काम नहीं चल सकता। गुरु मार्ग प्रदर्शक है। जिसने मुक्ति के मार्ग को जान लिया है, जो उस मार्ग पर चल चुका है, उस मार्ग में कठिनाइयों से परिचित है, उसकी सहायता लेकर चलनेवाला नवीन साधक सरलता से अपनी यात्रा में आगे बढ़ सकता है। वह अनेक प्रकार की बाधाओं से बच सकता है और सही मार्ग पर चल कर अपनी मंजिल तक पहुँच सकता है।

आनन्द अत्यन्त भाग्यवान् था। उसे साक्षात् भगवान ही गुरु के रूप में प्राप्त हुए थे। वह कहता है–मैंने समझ लिया है कि देव कौन है? जिन्हें परिपूर्ण ज्ञान और वीतरागता प्राप्त है, जो समस्त आन्तरिक विकारों से मुक्त हो चुके हैं, जो अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर परम-ब्रह्म परमात्मा बन गए हैं, वे ही मेरे लिए आराध्य हैं।

पतिव्रता नारी जिसे वरण कर लेती है, आजीवन उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखती है। वह अन्य पुरुष की कामना नहीं कर सकती है। वह अन्य पुरुष की कामना नहीं कर सकती। पति के प्रति निष्ठा न रखने वाली नारी कुशीला कहलाती है। साधक भी परीक्षा करने के पश्चात् सर्वज्ञ एवं वीतराग देव को अपने आराध्य देव के रूप में वरण कर लेता है और फिर उनके प्रति अनन्य निष्ठा रखता है। उसकी निष्ठा इतनी प्रगाढ़ होती है कि देवता और दानव भी उसे विचलित नहीं कर सकते।

जो वीतराग मार्ग का आराधक है, जो अनेकान्त दृष्टि का ज्ञाता है और आरम्भ-परिग्रहवान् नहीं है, उसकी श्रद्धा पक्की ही होगी। साधक को सौ टंच के सोने के समान खरा ही रहना चाहिये।

केशी का वेष अलग प्रकार का था, गौतम का अलग तरह का। प्रश्न खड़ा हुआ–दोनों का उद्देश्य एक है, मार्ग भी एक है, फिर यह भिन्नता क्यों है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए दोनों महामुनि परस्पर मिले। दोनों में वार्तालाप हुआ। उसी समय गौतमस्वामी ने स्पष्टीकरण किया–लिंग अर्थात् वेष को देखकर अन्यथा सोच-विचार नहीं करना चाहिये। द्रव्यलिंग का प्रयोजन लौकिक है। वह पहचान की सरलता के लिये है। कदाचित् द्रव्यलिंग अन्य का हो किन्तु भावलिंग अर्हदुपदिष्ट हो तो भी साधक मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

देव, गुरु और धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

सो धम्मो जत्थ दया, दसट्ठदोसा न जस्स सो देवो।
सो हु गुरू जो ताणी आरम्भ परिग्गहा विरओ॥

अर्थात्–जहां दया है वहां धर्म है। जिसमें दया का विधान नहीं है, वह पन्थ, सम्प्रदाय या मार्ग धर्म कहलाने योग्य नहीं। कबीरदास भी कहते हैं—

जहां दया तहं धर्म है, जहां लोभ तहँ पाप।
जहां क्रोध तहं पाप है, जहां छिमा तहं आप॥

आराध्य देव का क्या स्वरुप है ? इसका उत्तर यह है कि जिसमें अठारह दोष न हों वह देव पदवी का अधिकारी है। अठारह दोष इस प्रकार है— (१) मिथ्यात्व (२) अज्ञान (३) मद (४) क्रोध (५) माया (६) लोभ (७) रति (८) अरति (९) निद्रा (१०) शोक (११) असत्य भाषण (१२) चौर्य (१३) मत्सर (१४) भय (१५) हिंसा (१६) प्रेम (१७) क्रीड़ा और (१८) हास्य। इन दोषों का अभाव हो जाने से आत्मिक गुणों का आविर्भाव हो जाता है। अतएव जिस आत्मा में पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वीतरागता प्रकट हो गए हों, उसे ही देव कहते हैं। आदिनाथ, महावीर, राम, महापद्म आदि नाम कुछ भी हो, उनके गुणों में अन्तर नहीं होता। नाम तो संकेत के रूप में है, असल में तो

गुण ही वन्दनीय हैं। जिस में पूर्वोक्त दोषों के आत्यन्तिक क्षय से सर्वज्ञता एवं वीतरागता का पूर्ण विकास हो गया है, उसका नाम कुछ भी हो, देव के रूप में वह वन्दनीय है।

गुरु वह है जिसने विशिष्ट तत्त्व ज्ञान प्राप्त किया हो और जो आरम्भ तथा परिग्रह से सर्वथा विरत हो गया हो। पापयुक्त कार्य कलाप आरंभ कहलाता है और बाह्य पदार्थों का संग्रह एवं तज्जनित ममता को परिग्रह कहते हैं। जिसे आत्मतत्त्व का समीचीन ज्ञान नहीं है, उसे शोधन करने की साधना का ज्ञान नहीं है, जो संसार की झंझटो से ऊब कर या किसी के बहकावे में आकर या क्षणिक भावुकता के वशीभूत होकर घर छोड़ बैठा है, वह गुरु नहीं है।

यों तो ज्ञान अनन्त है, किन्तु गुरु कहलाने के लिए कम से कम इतना तो जानना चाहिए कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है ? आत्मा किन कारणों से कर्म बद्ध होता है ? बन्ध से छुटकारा पाने का उपाय क्या है। धर्म-अधर्म, हिंसा अहिंसा एवं हेय उपादेय क्या है ? जिसने जड़ और चेतन के पार्थक्य को पहचान लिया है, पुण्य-पाप के भेद को जान लिया है और कृत्य-अकृत्य को समझ लिया है, वह गुरु कहलाने के योग्य है, बशर्ते कि उसका व्यवहार उसके ज्ञान के अनुसार हो:—अर्थात् जिसने समस्त हिंसाकारी कार्यों से निवृत होकर मोह-माया को तिलांजली दे दी हो। जो ज्ञानी होकर भी आरंभ-परिग्रह का त्यागी नहीं है वह सन्त नहीं है।

अंबड़ नामक एक तापस था। वह सात सौ तापसों का नायक था। गेरुआ वस्त्र पहनता था। वह भगवान् महावीर के सम्पर्क में आया। उसने वस्तुतत्त्व को समझ लिया। उसका कहना था-जब तक मैं पूर्ण त्यागी न बन जाऊँ तब तक दुनिया से वन्दन करवाने योग्य नहीं हूँ। कम करूँ और अधिक दिखलाऊँ तो क्या लाभ ? ऐसा करने से तो आत्मा का पतन होता है वह कन्द मूल खाता था, किन्तु उसमें हिंसा नहीं है ऐसा नहीं समझता

था। वह मानता था कि कन्दमूल भक्षण में हिंसा अवश्य है। अंबड़ जल से दो बार स्नान करता था, मगर उसने जल की मर्यादा करली थी। अदत्तादान का ऐसा त्यागी था कि दूसरे के दिये बिना पानी भी ग्रहण नहीं करता था।

एक बार वह कहीं जा रहा था। सभी शिष्य उसके साथ थे। रास्ते में प्यास लगी। मार्ग में नदी भी मिली किन्तु जल ग्रहण करने की अनुज्ञा देने वाला कोई नहीं था। प्यास के मारे कंठ सूख गया, प्राण जाने का अवसर आ पहुँचा, फिर भी अदत्त जल ग्रहण नहीं किया। वह दुर्बल मनोवृत्ति का नहीं था। यद्यपि कहा जाता है -'आपत्काले मर्यादा नास्ति' अर्थात् विपदा आने पर मर्यादा भंग कर दी जाती है, परन्तु उसने इस छूट का लाभ नहीं लिया। अन्त में अनशन धारण करके समाधिमरण पूर्वक प्राण त्याग दिये, किन्तु प्रण का परित्याग नहीं किया। ऐसी दृढ़ मनोवृत्ति होनी चाहिए साधक की!

साधना यदि देशविरति की है और उसे सर्वविरति की मानी जाय तो यह दृष्टिदोष है। जो ज्ञानी हो और आरंभ तथा परिग्रह से विरत हो उसे गुरु बनाना चाहिए। साधना के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए साधक के हृदय में श्रद्धा की दृढ़ता तो चाहिए ही, गुरु का पथ प्रदर्शन भी आवश्यक है। गुरु के अभाव में अनेक प्रकार की भ्रमणाएँ घर कर सकती हैं जिनसे साधना अवरूद्ध हो जाती है और कभी-कभी विपरीत दिशा पकड़ लेती है।

जो व्यक्ति आनन्द की तरह व्रतों को ग्रहण करता है, उसकी मानसिक दुर्बलता दूर हो जाती है और वस्तु के सही रूप को समझने की कमजोरी भी निकल जाती है।

जैन सिद्धान्त की दृष्टि अत्यन्त व्यापक है। उसके उपदेष्टाओं की दृष्टि दिव्य थी, लोकोत्तर थी। अतएव सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सके। उन्होंने अपने अनुयायियों को 'सत्त्वेषु मैत्रीम्' अर्थात्

प्रत्येक प्राणी पर मैत्रीभाव रखने का आदेश दिया है और प्राणियों में त्रस तथा स्थावर जीवों की गणना की है। स्थावर जीवों में पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक आदि वे जीव भी परिगणित है जिन्हें अन्य धर्मों के उपदेष्टा अपनी स्थूल दृष्टि के कारण जीव ही नहीं समझ सके। विज्ञान का आज बहुत विकास हो चुका है, मगर जहां तक प्राणि शास्त्र का संबंध है, जैन दर्शन विज्ञान से आज भी बहुत आगे है। जैन महर्षि अपनी दिव्य दृष्टि के कारण जिस गहराई तक पहुँचे, विज्ञान को वहां तक पहुँचने में अगर कुछ शताब्दियां और लग जाएँ तो भी आश्चर्य की बात नहीं! अभी तक स्थावर जीवों में से विज्ञान ने सिर्फ वनस्पति कायिक जीवों को समझ पाया है, चार प्रकार के स्थावरों को समझना अभी शेष है।

परमाणु आदि अनेक जड़ पदार्थों के विषय में भी जैन साहित्य में ऐसी प्ररूपणाएँ उपलब्ध हैं जिन्हें वैज्ञानिक मान्यताओं से भी आगे की कहा जा सकता है। किन्तु इसके संबंध में यहाँ विवेचन करना प्रासंगिक नहीं।

हां, तो जैनागम की दृष्टि से जीवों का दायरा बहुत विशाल है। उन सब के प्रति मैत्री भावना रखने का जैनागम में विधान किया गया है। जिसकी मैत्री की परिधि प्राणि मात्र हो उसमें संकीर्णता नहीं आ सकती। चाहे कोई निकट-वर्त्ती हो अथवा दूर वर्त्ती, सभी को अहित से बचाने की बात सोचना है। उसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करना है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि किसी प्रकार के अनुचित साम्य को प्रश्रय दिया जाय। गुड़ और गोबर को एक-सा समझना समदर्शित्व नहीं है। जिनमें जो वास्तविक अन्तर हो, उसे तो स्वीकार करना ही चाहिए मगर उस अन्तर के कारण राग द्वेष नहीं करना चाहिए। विभिन्न मनुष्यों में गुण-धर्म के विकास की भिन्नता होती है, समभाव का यह तकाजा नहीं उस वास्तविक भिन्नता को अस्वीकार कर दिया जाय। क्षयोपशम के भेद से प्राणियों में ज्ञान की भिन्नता होती है। किसी में मिथ्याज्ञान और किसी में सम्यग्ज्ञान होता है। कोई सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है, कोई नहीं कर पाता। इस तथ्य को स्वीकार करना ही उचित है। सब औषधों को समान

समझ कर किसी भी रोग में किसी भी औषध का प्रयोग करने वाला बुद्धिमान नहीं गिना जाएगा। तात्पर्य यह है कि समभाव वहीं प्रशस्त है जो विवेकयुक्त हो। विवेकहीन समभाव गलत दृष्टि है। वृद्धता के नाते सेवनीय दृष्टि से एक साधारण वृद्ध में और वृद्ध माता-पिता में अन्तर नहीं है, परन्तु उपकार की दृष्टि से अन्तर है। माता-पिता का जो महान् उपकार है उसके प्रति कृतज्ञता का विशिष्ट भाव रहता ही है। इसे राग-द्वेष का रूप नहीं कहा जा सकता। यही बात अपने वन्दनीय देव और अन्य देवों के संबंध में भी समझना चाहिए। दूसरों के प्रति द्वेष न रखते हुए अपने आराध्य देव के प्रति पूर्ण निष्ठा तथा श्रद्धा-भक्ति रखी जा सकती है।

आनन्द श्रावक ने इन सब बातों की जानकारी प्राप्त की। किन अपवादों से छूट रखनी है, यह भी उसने समझ लिया।

साधु जगत् से निरपेक्ष होता है। किसी जाति, ग्राम या कुल के साथ उसका विशिष्ट सम्बन्ध नहीं रह जाता। साधना ही उसके सामने सब कुछ है। मगर गृहस्थ का मार्ग सापेक्ष है। उसे घर, परिवार, जाति, समाज आदि की अपेक्षा रखनी पड़ती है। उसे व्यवहार निभाना होता है। उनका सम्बन्ध केवल श्रमणवर्ग, संघ और अपने भगवान्–आराध्य देव के साथ होता है। जनरंजन के स्थान पर जिनरंजन करना उसका लक्ष्य होता है। जिनरंजन के मार्ग से गड़-बड़ाया कि उसके हृदय को बहुत क्षोभ होता है।

कभी-कभी जीवन में एक दुविधा आ खड़ी होती है। हम दूसरे को राजी रक्खें अथवा उसका हित करें ? राजी रखने से उसका हित नहीं होता और हित करने जाते हैं तो वह नाराज होता है ? ऐसी स्थिति में किसे प्रधानता देनी चाहिए ? जिसके अन्तःकरण में तीव्र करुणा भाव विद्यमान होगा, एवं अपना स्वार्थ साधन जिसके लिए प्रधान न होगा, वह दूसरे को राजी करने के बदले उसके हित को ही मुख्यता देगा। हाँ, जिसे दूसरे से अपना मतलब गांठना है वह उसके हित का ध्यान करके भी उसे राजी करने का प्रयत्न करता है, किन्तु

जो निस्पृह है और लौकिक लाभ को तुच्छ समझता है, वह ऐसा नहीं करेगा। आवश्यकता होने पर डाक्टर कडुवी दवा पिलाने में संकोच नहीं करता। भले ही रोगी को वह अप्रिय लगे तथापि उसका हित उसी में है।

भद्रबाहु स्वामी के विषय में यही घटित हुआ। वे सब को राजी नहीं रख सके। उन्होंने हित की बात को ही प्रधानता दी। अन्य लोगों ने भी उनके निर्णय को स्वीकार किया। स्थूलभद्र चौदह पूर्वों के ज्ञाता हो गए। भद्रबाहु स्वामी ने स्थूलभद्र को चौदह पूर्वों के ज्ञाता के रूप में उत्पन्न किया। व्यावहारिक दृष्टि से वे बृहत्कल्प के रचयिता कहे जाते हैं। व्यवहार सूत्र तथा दशाश्रुतस्कंध की रचना भी उन्होंने की।

इतिहास अतीत के गहन अंधकार में प्रकाश की किरणें फेंकने का प्रयास करता है। इतिहास के विषय में दुराग्रह को कतई स्थान नहीं होना चाहिए। आज जो सामग्री किसी विषय में उपलब्ध है, उसके आधार पर एक निष्कर्ष निकाला जाता है। कालान्तर में अन्य पुष्ट प्रमाण मिलने पर वह निष्कर्ष बदल भी सकता है। विभिन्न ग्रंथों में मिलने वाले उल्लेख, स्वतंत्र कृतियाँ, प्रशस्तियाँ, शिलालेख, सिक्के आदि के आधार पर इतिहास की खोज की जाती है। इसके लिए बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जैन परम्परा का इतिहास साहित्य एवं कला आदि सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण है पर जैन समाज ने उस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है।

धर्मदासजी महाराज का जन्म अठारहवीं शताब्दी में मध्यप्रदेश में हुआ किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी कृतियां उपलब्ध नहीं हैं। उनके जन्मकाल का तथा माता-पिता का निर्विवाद उल्लेख भी नहीं मिलता। उनकी कृतियाँ कहां दबी पड़ी हैं, कहा नहीं जा सकता। जिनके पास हस्तलिखित ऐतिहासिक सामग्री है उन्हें चाहिए कि वे उसे प्रकाश में लावें और अन्वेषण कार्य को आगे बढ़ाने में सहायक बनें।

जब आधुनिक काल के सन्तों का भी हम प्रामाणिक परिचय प्राप्त नहीं कर पाये तो प्राचीनकाल के सन्तों का तथ्यपूर्ण इतिहास पाना कितना कठिन है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

भद्रबाहु स्वामी आदि प्राचीनकालिक महर्षि हैं। उनके संबंध में पूर्ण प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत होना चाहिए। जहां तक भद्रबाहु का सम्बन्ध है, निःसंकोच कहा जा सकता है कि शासन सेवा में उनका योग असाधारण रहा है। स्थूलभद्र ने उत्कृष्ट संयमपालन का उज्ज्वल उदाहरण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। आचार्य संभूतिविजय के चरणों में रहकर उन्होने अपूर्व काम विजय की। सिंह का रूप धारण करने की एक बार भूल अवश्य होगई किन्तु दूसरी बार कभी भूल नहीं की।

भद्रबाहु के पश्चात् कौन उनका उत्तराधिकारी हो ? इस प्रश्न पर जब विचार हुआ तो स्वयं भद्रबाहु ने कहा-स्थूलभद्र ही उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। उनसे बढ़कर कोई परमयोगी नहीं है। इस प्रकार भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र ही उनके उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ शासनसेवा की। यौगिक साधना के साथ श्रुत की भी साधना की।

कहां राजस जीवन वाला स्थूलभद्र और कहां परमकार्यविजेता स्थूलभद्र ! वह अपने महान् प्रयत्न से कहां से कहां पहुँच गए ! मनुष्य जब पवित्र चित्त और दृढ़ संकल्प लेकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है तो सफलता उसके चरण चूमती है।

आज देश संकट में से गुजर रहा है। संकट भी साधारण नहीं है। प्रत्येक देशवासी को यह संकट महसूस करना चाहिए और उससे किसी भी प्रकार का लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यह काल मुख्य रूप से 'राष्ट्र धर्म' के पालन का है। देश की रक्षा पर हमारे धर्म, संस्कृति, साहित्य

और शासन की रक्षा निर्भर है। अतएव इस ओर ध्यान रखकर शान्ति और धैर्य के साथ परिस्थिति का सामना करना योग्य है। संकट को दूर करने अथवा कम करने में जो जिस प्रकार का योग दे सकता हो, उसे वह देना चाहिए। ऐसे प्रसंग पर मिष्ठान आदि का सेवन न करना, अनावश्यक खर्च न करना एवं विदेशी वस्तुओं का उपयोग न करना आवश्यक है। प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के संकट के समय हर तरह से अधिक से अधिक त्याग करे और अपनी आवश्यकताओं को कम करके संयत जीवन बनाने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से अवश्य कल्याण होगा।

निमित्त-उपादान

जीवन को साधना में लगाने के लिए निरन्तर प्रेरणा की आवश्यकता होती है। वह प्रेरणा आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की चाहिए। संसार में जितने भी कार्य दृष्टि गोचर होते हैं, उनकी उत्पत्ति किसी भी एक कारण से नहीं होती, दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि कार्य का उत्पाद सामग्री से होता है। सामग्री का अर्थ है–उपादान एवं विविध निमित्त कारणों की समग्रता। निमित्त के अभाव में अकेले उपादान से कार्य नहीं होता और न उपादान के बिना निमित्त कारण से ही कार्य का होना संभव है। साधना-कार्य में भी यही व्यापक नियम लागू होता है।

बाह्य कारण भी प्रायः अनायास नहीं मिलता, फिर भी उसका मिलना आसान है। किन्तु बाह्य कारण के द्वारा यदि अंतरंग कारण न मिला तो साधक अपना जीवन सफल नहीं बना सकेगा।

साधना के क्षेत्र में अनेक बाह्य कारण उपयोगी होते हैं। साधक की योग्यता, रुचि, वातावरण आदि पर यह अवलम्बित रहता है कि कौन-सा कारण किसके लिए उपयोगी हो जाय। तथापि सत्संग बाह्य कारणों में सब से ऊँचा है। वीतराग के सत्संग का लाभ मिलना सौभाग्य की बात है, परन्तु बाह्य कारण ही सब कुछ नहीं है। बाह्य कारण के मिलने से सभी को लाभ हो जाएगा, ऐसी बात नहीं है। बाह्य कारण के साथ आन्तरिक कारण को भी जागृत करना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

गृहस्थ आनन्द को बाहरी कारण मिला। परम प्रकृष्ट पुण्योदय से वह साक्षात् तीर्थंकर देव का सान्निध्य प्राप्त कर सका। उसका अन्तःकरण पहले से कुछ बना हुआ था और कुछ भगवान् महावीर ने तैयार कर दिया। भगवान् की देशना का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा।

अन्तःकरण वस्तुतः भीतर की योग्यता है। उस योग्यता को चमकाने वाला बाह्य कारण है। आन्तरिक योग्यता के अभाव में बाह्य कारण अकिंचित्कर होता है। यदि मिट्टी में घर निर्माण करने की अर्थात् घटपर्याय के रूप में परिणत होने की योग्यता नहीं है तो लीद, पानी, कुंभार, चाक आदि विद्यमान रहने पर भी घट नहीं बनेगा। कुंभार चाक को घुमाघुमा कर हैरान हो जाएगा मगर उसे सफलता प्राप्त न होगी। चाक में कोई दोष नहीं है, कुंभार के प्रयत्न में भी कोई कमी नहीं है, मगर मिट्टी में वह योग्यता नहीं है। आगरे के पास की मिट्टी से जैसा अच्छा घड़ा बनेगा, वैसा राजस्थान की मिट्टी से नहीं। यह नित्य देखी जाने वाली वस्तु का उदाहरण है।

अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना आत्मा का मूल कार्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा सत्संग और स्वाध्याय निमित्त कारण हैं। इनसे आत्मा में शक्ति आ जाती है।

तार कमजोर हो गया था। वह गिरने वाला ही था कि उस पर कौवा बैठ गया। लोग कौवा को निमित्त कहने लगे। किन्तु तार में यदि कच्चापन न होता तो कौवा क्या कर सकता था? सूरदास तथा भक्त विल्वमंगल को क्या वेश्या चिन्तामणि जगा सकी थी? वास्तव में वैराग्य की भूमिका उनके हृदय में बन चुकी थी, रही-सही कमजोरी चिन्तामणि की उक्ति ने पूरी कर दी। सामान्यतः विल्वमंगल और सूरदास के वैराग्य के लिए लोग चिन्तामणि को निमित्त मानते हैं परन्तु तथ्य यह है कि आत्मा में यदि थोड़ी जागृति हो तो सामान्य निमित्त मिलने से भी पूरी जागृति उत्पन्न हो जाती है।

प्रभु महावीर का निमित्त पाकर आनन्द का उपादान जागृत हो गया। जब साधक की मानसिक निष्ठा स्थिर हो जाती है तो वह अपने को व्रतादिक साधना में स्थिर बना लेता है। किन्तु साधना के क्षेत्र में देव और गुरु के प्रति श्रद्धा की परम आवश्यकता है जिसको हम देव और गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहें, पहले उनकी परीक्षा कर लें। जो कसौटी पर खरा उतरें उससे अपने जीवन में प्रेरणा ग्रहण करें। इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरों के प्रति किसी प्रकार की द्वेष भावना रक्खी जाय। साधक भूतमात्र के प्रति मैत्री भाव रखता है परन्तु जहाँ तक वन्दनीय का प्रश्न है, जिसने अध्यात्ममार्ग में जितनी उन्नति की है, उसी के अनुरूप वह वन्दनीय होगा। गुरु के रूप में वही वन्दनीय होते हैं, जिन्होंने सर्व आरंभ और सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया हो और जिनके अन्तर में संयम की ज्योति प्रदीप्त हो। जिन्होंने किसी भी पंथ या परंपरा के साधु का वाना पहना हो परन्तु जो संयम हीन हों वे वन्दनीय नहीं होते। जिसका आत्मा मिथ्यात्व के मैल से मलीन है और चित्त कामनाओं से आकुल है, उसको सच्चा श्रावक वन्दनीय नहीं मान सकता। खाने-पीने की सुविधा और मान-सम्मान के लोभ से कई साधु का वेष धारण कर लेते हैं पर उतने मात्र से ही वे वन्दना के योग्य नहीं होते हैं।

इसी प्रकार जिसमें अठारह दोष विद्यमान नहीं हैं, जो पूर्ण वीतराग, निष्काम, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा है, वही देव के रूप में स्वीकरणीय, वन्दनीय और महनीय है। जिनमें राग, द्वेष, काम आदि विकार मौजूद हैं, वे आत्मार्थी साधक के लिए कैसे वन्दनीय हो सकते हैं? राग-द्वेष आदि विकार ही समस्त संकटों, कष्टों और दुःखों के मूल हैं। इन्हें नष्ट करने के लिए ही साधना की जाती है। ऐसी स्थिति में साधना का आदर्श जिस व्यक्ति को बनाया वह स्वयं इन विकारों से युक्त हो तो उससे हमारी साधना को कैसे प्रेरणा मिलेगी?

कोई किसी में देवत्व का आरोप भले करले, कलम और तलवार की पूजा भले कर ली जाय, परन्तु वे देव की पदवी नहीं पा सकते। यह पूजा तो कोरा व्यवहार है। अगर कोई व्यक्ति परम्परा या प्रवाह के कारण अथवा

भय की भावना से देव की पूजा करता है तो उसकी समझ गलत है। हम जिस शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं, उसे जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, जिस पथ पर हम चल रहे हैं उस पर चलकर जो मंजिल तक पहुँच चुके हैं, वही हमारे लिए अनुकरणीय हैं। हम उन्हीं को आदर्श मानते हैं और उन्हीं के चरण चिन्हों पर चलते हैं। यही हमारी आदर्शपूजा समझो या देवपूजा समझ लो!

ज्ञानबल के अभाव में मानव 'तत्त्व को नहीं समझ पाता। बहुत लोग समझते हैं कि हमारे सुख-दुःख का कारण दैवी है। अर्थात् देव के रोष से दुःख और तोष से सुख होता है। पर इस समझ में भ्रान्ति है। यदि आपके पापकर्म का उदय नहीं है तो दूसरा कोई भी आपको दुखी नहीं बना सकता। सुख हो या दुःख, उसका अन्तरंग कारण तो हमारे भीतर ही विद्यमान होता है।

जहाँ बीज होता है वहीं अंकुर उगता है, इस न्याय के अनुसार जिस आत्मा में सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है, उसीमें उसका कारण होना चाहिए। इससे यही सिद्ध होता है कि अपना शुभाशुभ कर्म ही अपने सुख-दुःख का जनक है। आचार्य अमितगति कहते हैं—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अर्थात् आत्मा ने पूर्वकाल में जो शुभ और अशुभ कर्म उपार्जित किये हैं, उन्हीं का शुभ और अशुभ फल उसे प्राप्त होता है। अगर आत्मा दूसरे के द्वारा प्रदत्त फल को भोगने लगे तो उसके अपने किये कर्म निरर्थक-निष्फल हो जाएँगे।

हे आत्मन्! तू सब प्रकार की भ्रान्तियों को त्याग कर सत्य तत्त्व का श्रद्धान कर। तुझे कोई भी दूसरा सुखी या दुखी नहीं बना सकता। तू भ्रम के

वशीभूत होकर पर को सुख-दुःखदाता समझता है। इस भ्रम के कारण तेरी बहुत हानि होती है। जिसके निमित्त से सुख प्राप्त होता है उसीको तू सुखदाता समझकर उस पर राग करता है और जिसके निमित्त से दुःख प्राप्त होता है उसे दुःखदाता समझकर उस पर द्वेष धारण करता है। राग-द्वेष की इस भ्रम जनित परिणति से आत्मा मलीन होता है। इसके अतिरिक्त इससे चित्त को अशान्ति होती है और अनेक प्रकार के अनर्थ भी उत्पन्न होते हैं। तू दूसरों को अपना शत्रु मान कर उनसे बदले लेने का प्रयत्न करता हैं। इससे आत्मा में अशुद्धि की एक लम्बी परम्परा चल पड़ती है।

इसके विपरीत, जिसने इस सचाई तो समझ लिया है कि आत्मा स्वयं ही अपने सुख-दुख का निर्माता है, वह घोर से घोर दुखः का प्रंसग उपस्थित होने पर भी, अपने आपको ही उसका कारण समझ कर समभाव धारण करता है और उसके लिए किसी दूसरे को उत्तरदायी नहीं ठहराता। आगम में भी स्पष्ट कहा गया है–

अप्पा कत्ता विकत्ता य

आत्मा ही अपने सुखःदुख का कर्त्ता और हर्त्ता है।

तात्पर्य यह है कि यदि पाप कर्म का उदय न हो तो दूसरा कोई भी आपको कष्ट नहीं दे सकता, अतएव बहिर्दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाओ और बाह्य निमित्त को ही सब कुछ न समझो।

आंधी के समय साधारण फूस से आँख जाते जाते बचती है तो फूस को देवता नहीं माना जा सकता।

सरागी देवों का असम्मान नहीं करना है, परन्तु उनसे माँगना भी नहीं है। देवाधि देव के चरणों में वन्दन किया जाय तो देवों का प्रसन्न हो जाना सामान्य बात है। सरागी देवों को वन्दन, नमन, आलाप, संलाप, आदान और प्रदान, ये छह बातें नहीं करनी चाहिए।

श्रमणोपासक आनन्द प्रभु महावीर के समक्ष कहता है—मैं अपने जीवन में विशुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहता हूँ। दर्शन में अशुद्धि होने से बुद्धि की वास्तविक निर्णायिका शक्ति समाप्त हो जाएगी। वह वन्दनीय और अवन्दनीय को क्या समझ सकेगा? आनन्द चाहता है कि मेरी बुद्धि में निर्णायक शक्ति और स्वरूप में निश्चलता आ जाए। वह बुद्धि की इस शक्ति पर पर्दा नहीं डालना चाहता।

जिनका व्यवहार शुद्ध न हो, जिनका आचार शुद्ध न हो, उनके साथ लेन-देन करना व्रती श्रावक के लिए उचित नहीं है। व्यक्ति की योग्यता, शील-स्वभाव, किन उपायों से वह द्रव्य उपार्जन करता है, आदि की जाँच करके लेन-देन किया जाना चाहिए जो व्यवहार में ऐसा ध्यान रक्खेगा, वह आध्यात्मिक क्षेत्र में क्यों नहीं सजग रहेगा?

पारमात्मिक आराधना शान्ति प्राप्त करने के लिए की जाती है मन की आकुलता यदि बनी रही तो शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? गलत तरीके से आया धन मन को अशान्त बना देगा, अतएव साधक अर्थार्जन के लिए किसी प्रकार का अनैतिक कार्य न करे। न्याय से ही धनोपार्जन करना श्रावक का मूलभूत कर्त्तव्य है।

साधक के लिए विचारों की शुद्धि और अपरिग्रह अत्यन्त आवश्यक है। विचार शुद्धि से वह देव, गुरु, धर्म संबंधी विवेक प्राप्त करेगा और उनके विषय में निश्चल स्थिति प्राप्त कर लेगा। अपरिग्रह की भावना से हाथ लम्बे नहीं करेगा। जिसके व्यवहार में ये दोनों तत्त्व नहीं होंगे, जिसका व्यवहार बेढंगे तौर पर चलेगा, वह शान्ति नहीं पाएगा।

गृज्ञान आवश्यक होता है। अन्य ज्ञान की कमी हो तो काम चल सकता है, परन्तु जीवन बनाने का ज्ञान न हो तो जीवन सफल नहीं हो सकता। ज्ञेय विषय अनन्त हैं और एक-एक पदार्थ में अनन्त-अनन्त गुण और पर्याय हैं। ज्ञान का पर्दा पूरी तरह हटे बिना उन सब को जानना संभव

नहीं है। परन्तु हमें सर्व प्रथम जीवन की कला का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसे प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगता। अगर आपको जीवन के उत्तम कलाकार गुरु का सानिध्य मिल गया तो उसे पाने में विशेष कठिनाई भी नहीं होती। बस, भीतर जिज्ञासा गहरी होनी चाहिए। जीवन की कला का ज्ञान प्रयोजन भूत ज्ञान है और उसे पा लिया तो सभी कुछ पा लिया। जिसने उसे नहीं पाया उसने और सब कुछ पा लेने पर भी कुछ भी नहीं पाया।

जीवन-कला का ज्ञान न होता तो स्थूलभद्र काम विजय पर वेश्या रूप-कोषा को श्राविका नहीं बना पाते। उस समय उन्हें पूर्वश्रुत का ज्ञान नहीं था, मगर जीवन की कला को उन्होंने भलीभांति अधिगत कर लिया था। उसी के सहारे वे आगे बढ़ सके और बड़ी से बड़ी सफलता प्राप्त कर सके।

रूप-कोषा को जीवन की कला प्राप्त करने में स्थूलभद्र का अनुकूल निमित्त मिल गया। कई लोग समझते हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता, केवल उपादान ही कार्यकारी है। मगर यह एकान्त युक्ति और अनुभव से वाधित है। निमित्त कारण कुछ नहीं करता तो उसकी आवश्यकता ही क्या है ? निमित्त कारण के अभाव में अकेले उपादान से ही कार्य क्यों नहीं निष्पन्न हो जाता ? उदाहरण के लिए कर्मक्षय को ही लीजिए। कर्मक्षय या मोक्ष का उपादान कारण आत्मा है, अगर आत्मा के द्वारा ही कर्मक्षय होता है तो फिर प्रत्येक आत्मा मुक्त हो जाना चाहिए। आत्मा अनादिकालीन है, उसे अब तक संसार-अवस्था में क्यों रहना पड़ रहा है ?

कहा जाता है कि निमित्त कारण करता कुछ नहीं है, फिर भी उसकी उपस्थिति आवश्यक है। मगर इस कथन में विशेष तथ्य नहीं है। जो कुछ भी नहीं करता, प्रथम तो उसे निमित्त कारण ही नहीं कहा जा सकता। कदाचित् कहा भी जाय तो उसकी उपस्थिति की आवश्यकता ही क्या है ? कुछ न करने वाले पदार्थ की उपस्थिति यदि आवश्यक है तब तो एक कार्य के लिए संसार के सभी पदार्थों की उपस्थिति आवश्यक होगी और उनकी उपस्थिति होना संभव न होने से कोई कार्य ही नहीं हो सकेगा।

अनेकान्त सिद्धान्त का अभिमत यह है कि उपादान और निमित्त दोनों कारणों के सुमेल से कार्य की निष्पत्ति होती है। निमत्त कारण मिलने पर भी उपादान की योग्यता के अभाव में कार्य नहीं होता और उपादान की विद्यमानता में भी यदि निमित्त कारण न हो तो भी कार्य नहीं होता।

शास्त्र की बात जो चल रही है, उसके सुनने में मैं निमित हूँ और मेरे सुनाने में आप निमित्त हैं। घड़ी भर पहले भले कुछ दूसरी लहरें आपके चित्त में उठ रही हों किन्तु आगमवाणी का निमित्त पाकर कुछ प्रशस्त भावना आपके मन में आई होगी। मगर मूल कारण उपादान है जो छिपा हुआ है।

महामुनि भद्रबाहु के साथ स्थूलभद्र की ज्ञानाराधना की चर्चा पिछले दिनों चल रही थी। ज्ञानामृत को वितरण करते-करते उन्होंने देहोत्सर्ग किया। श्रुत के बीज आज जो उपलब्ध हैं, उनकी ज्ञानाराधना का मधुर फल है। समाधिमरण पूर्वक महाश्रुनि भद्रबाहु ने अपनी जीवन लीला समाप्त की। उन्होंने श्रुत केवली का पद प्राप्त किया था। ७६ वर्ष की समग्र आयु पाई। स्थूलभद्र उनसे अधिक दीर्घजीवी हुए। उनकी आयु ९९ वर्ष की थी। भद्रबाहु के पश्चात् ४५ वर्ष तक स्थूलभद्र ने संघ का नेतृत्व किया। अपनी विमल साधना से साधु-साध्वी वर्ग को संयम के पथ पर चलाते हुए कुशलता पूर्वक उन्होंने शासन का संचालन किया। जिनशासन में वह काल परम्परा भेदों या गच्छ भेदों का नहीं था।

दस पूर्वों के ज्ञाता को वादी और चौदह पूर्वों के ज्ञाता को श्रुत केवली कहा जाता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के संबंध में काफी अन्वेषण किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त एक भद्रबाहु दूसरे भी हुए हैं। वे निमित्त वेत्ता भद्रबाहु माने गये हैं श्रुतकेवली के ज्ञान में निमित्तज्ञान भी अन्तर्गत रहता है, परन्तु श्रुतकेवली उसे प्रकट नहीं करते।

भद्रबाहु के साथ चंद्रगुप्त का संबंध बतलाया जाता है। चंद्रगुप्त भी एक महापुरुष हो गए हैं।

आज हमें श्रुत का जो भी अंश उपलब्ध है, वह इन्हीं सब महामनीषी आचार्यों की ज्ञानाराधना का सुफल है। इन महान् आत्माओं ने उस युग में श्रुत का संरक्षण किया जब लेखन की परम्परा हमारे यहाँ प्रचलित नहीं हुई थी। आज तो अनेकों साधन उपलब्ध हैं और श्रुत सभी के लिए सुलभ है। ऐसी स्थिति में हमारा कर्त्तव्य है कि हम श्रुत का श्रद्धा और भक्ति के साथ अध्ययन करें, दूसरों के अध्ययन में सहायक बनें और ऐसा करके अपने जीवन को ऊँचा उठावें। ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, मगर जो उपादेय है आचरणीय है, उसका आचरण करें और जो त्याज्य है उसका त्याग करें। ज्ञान हमारा पथ प्रदर्शन कर सकता है। वह भाव-आलोक है, मगर प्रदर्शित पथ पर चलने से ही मंजिल प्राप्त की जा सकती है।

दीपक के प्रकाश से एक छात्र ज्ञानार्जन कर सकता है और कुसंस्कारों वाला दूसरा छात्र उसी प्रकाश से चोरी कर सकता है। दीपक दोनों के लिए समान है, दोनों को आलोक देता है भगवान् महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर हम यथा शक्ति चलें और चलने की अधिक से अधिक शक्ति संचित करें, यही इस जीवन का सर्वश्रेष्ठ साध्य है। आत्मा को शाश्वत कल्याण का द्वार खोलने की अमोघ कुंचिका भगवान् की देशना है। कितने सौभाग्य और पुण्य के प्रभाव से हमें इसके श्रवण-मनन-आचरण करने की अनुकूल सामग्री आज मिली है भव्य पुरुषों! प्रमाद मत करो। निस्सार वस्तुओं के लिए और अमंगलकारी प्रवृत्तियों में ही समय न बिता दो। जीवन की घड़ियाँ परिमित हैं और भविष्य अनन्त है। इस स्वल्प समय में अनन्त भविष्य को सुखमय बनाने में ढील न करो। जो वीतराग की वाणी को समझने का प्रयत्न करेगा और उसे जीवन में व्यवहृत करेगा, उसका अक्षय कल्याण होगा।

———

राष्ट्रीय संकट और प्रजाजन

संस्कृत भाषा में एक उक्ति प्रसिद्ध है-'चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि सुखानि च'। अर्थात् दुःख और सुख चाक की तरह बदलते रहते हैं। संसारी जीव का जीवन दो चक्रों पर चलता है, कभी दुःख और कभी सुख की प्रबलता होती है। प्रत्येक प्राणी के लिये यह स्थिति अनिवार्य है, क्योंकि कर्म संक्षेप में दो प्रकार के हैं-शुभ और अशुभ। शुभ कर्म का परिणाम सुख और अशुभ कर्म का परिणाम दुःख होता है। जिस जीव ने जिस प्रकार के कर्मों का बन्ध किया है, उसे उसी प्रकार का फल भोगना पड़ता है।

कर्म के बन्ध और उदय का यह गोरखधंधा अनादि काल से चल रहा है। पूर्वबद्ध कर्मों का जब उदय होता है तो जीव उनके उदय के कारण राग-द्वेष करता है और राग-द्वेष के कारण पुनः नवीन कर्मों का बन्ध कर लेता है। इस प्रकार बीज और वृक्ष की अनादि परम्परा के समान रागादि विभाव-परिणति और कर्मबन्ध का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। अज्ञानी जीव इस तथ्य को न जानकर कर्मप्रवाह में बहता रहता है।

मगर ज्ञानी जनों की स्थिति कुछ भिन्न प्रकार की होती है। वे शुभ कर्म का उदय होने पर जब अनुकूल सामग्री की प्राप्ति होती है तब हर्ष नहीं मानते और अशुभ कर्म का उदय होने पर दुःख से विह्वल नहीं होते। दोनों अवस्थाओं में उनका समभाव अखण्डित रहता है। पूर्वोपार्जित कर्म को समभाव से भोग कर अथवा तपश्चर्या करके नष्ट करना और नवीन कर्मबन्ध से बचना ज्ञानी पुरुषों का काम है।

जब मनुष्य सुख की घड़ियों में मस्त होकर आसमान में उड़ने लगता है, नीति-अनीति और पाप-पुण्य को भूल जाता है और भविष्य को विस्मृत कर देता है तब वह अपने लिये दुःख के बीज बोता है। रावण यदि प्राप्त विभूति एवं सम्पदा के कारण उन्मत्त न बनता और दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त न होता तो सर्वनाश की घड़ी देखने को न मिलती। जन, धन, सत्ता, शस्त्र, विज्ञान, बल आदि अनेक कारणों से मनुष्य को उन्माद पैदा होता है। यह उन्माद ही मनुष्य से अनर्थ करवाता है। वह अपने को प्राप्त सामग्री से दूसरों को दुःख में डालता है उनके सुख में विक्षेप उपस्थित करता है। उसे पता नहीं होता कि दूसरों को दुःख में डालना ही अपने को दुःख में डालना है और दूसरे के सुख में बाधा पहुँचाना अपने ही सुख में बाधा पहुँचाना है। सुख में बेभान होकर वह नहीं सोच पाता कि यह कार्य मेरे लिए मानवसमाज तथा देश एवं विश्व के लिए हितकारी है अथवा अहितकारी? इतिहास में सैंकड़ों घटनाएं घटित हुई हैं जबकि शासकों ने उन्मत होकर दूसरों पर आक्रमण किया है, यहां तक कि अपने मित्र, बन्धु और पिता पर भी आक्रमण करने में संकोच नहीं किया। महाभारत युद्ध क्या था? भाई का भाई के प्रति अन्याय करने का एक सर्वनाशी प्रयत्न! श्रीकृष्ण जैसे पुरुषोत्तम शान्ति का मार्ग निकालने को उद्यत होते हैं, महाविनाश की घड़ी को टालने का प्रयत्न करते हैं; भारत को प्रचण्ड प्रलय की घोर ज्वालाओं से बचाने के लिए कुछ उठा नहीं रखते, किन्तु उनके प्रयत्नों को ठुकरा दिया जाता है। कौरव वैभव के नशे में बेभान न होगए होते, उनकी मति यदि सन्तुलित रहती तो क्या वह दृश्य सामने आता कि भाई को भाई के प्राणों का अन्त करना पड़े और शिष्य को अपने कलाचार्य पर प्राणहारी आक्रमण करना पड़े? मगर शक्ति के उन्माद में मनुष्य पागल हो गया और उसने अपने ही सर्वनाश को आमंत्रित किया! ठीक ही कहा है—

विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य, साधोर्विपरीतमेतद्-
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

किसी खल जन को विद्या प्राप्त हो जाती है तो उसकी जीभ में खुजली चलने लगती है। वह विवाद करने के लिए उद्यत होता है और दूसरों को नीचा दिखला कर अपनी विद्वत्ता की महत्ता स्थापित करने की चेष्टा करता है। वह समझता है कि दुनिया की समग्र विद्वत्ता मेरे भीतर ही आ समाई है। मेरे सामने सब तुच्छ हैं, मैं सर्वज्ञ का पुत्र हूँ! किन्तु ऐसा अहंकारी व्यक्ति दयनीय है, क्योंकि वह अपने अज्ञान को ही नहीं जानता! जो सारी दुनिया को जानने का दंभ करता है, वह यदि अपने आपको ही नहीं जानता तो उससे अधिक दया का पात्र अन्य कौन हो सकता है! सत्पुरुष विद्या का अभिमान नहीं करता और न दूसरों को नीचा दिखा कर अपना बड़प्पन जताना चाहता है!

खल जन के पास लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से यदि धन की प्रचुरता हो जाती है तो वह मद में मस्त हो जाता है और धन के बल से कुकर्म कर्म करके अपने लिए गड्हा खोदता है। अगर उसे शक्ति प्राप्त हो जाय तो दूसरों पा है, उसे उसी में ही उसकी सार्थकता समझता है।
को पीड़ा पहुँचाने

मगर सज्जन पुरुष की विद्या दूसरों का अज्ञानान्धकार दूर करने में काम आती है। उसका धन दान में सफल होता है। सज्जन पुरुष धन को दीनों असहायों और अनाथों को साता पहुँचाने में व्यय करता है और इसी में अपने धन एवं जीवन को सफल समझता है। सज्जन की शक्ति दूसरों की रक्षा में लगती है। वह यह नहीं सोचता कि अगर कोई पीड़ा पा रहा है, किसी सबल के द्वारा सताया जा रहा है, तो हमें क्या लेना देना है! वह जगत् की शान्ति में अपनी शांति समझता है। देश की समृद्धि में ही अपनी समृद्धि समझता है और अपने पड़ोसी के सुख में ही सुख का अनुभव करता है!

शक्ति की सार्थकता इस बात में है कि उसके द्वारा दूसरों के दुःख को दूर किया जाय। अपनी ओर से किसी को पीड़ा न पहुँचाना अच्छी बात है किन्तु कर्त्तव्य की इति श्री इसी में नहीं है। कर्त्तव्य का तकाजा यह है कि

पीड़ितों की सहायता की जाय, सेवा की जाय और उनकी पीड़ा का निवारण करने में कोई कसर न रक्खी जाय !

सत्पुरुष सदैव स्मरण रखता है कि मानव जाति एक और अखण्ड है तथा पारस्परिक सहाय एवं सौहार्द से ही शान्ति की स्थापना की जा सकती है। मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख माने और सब के प्रति यथोचित सहानुभूति रक्खे।

लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य को नहीं समझते। इसी कारण बहुतों की ऐसी धारणा बन गई है कि धर्म का सम्बन्ध इस लोक और इस जीवन के साथ नहीं है वह तो परलोक और जन्मान्तर का विषय है। किन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। धर्म का दायरा बहुत विशाल है। धर्म में उन सब कर्त्तव्यों का समावेश है जो व्यक्ति और समाज के वास्तविक मंगल के लिए हैं, जिनसे जगत् में शान्ति एवं सुख का प्रसार होता है। धर्म मनुष्य के भीतर घुसे हुए पिशाच को हटा कर उसमें देवत्व को जागृत करता है। वह भूतल पर स्वर्ग को उतारने की विधि बतलाता है। धर्म कुटुम्ब, ग्राम, नगर, देश और अखिल विश्व में सुखद वातावरण के निर्माण का प्रयत्न करता है। आज दुनियां में यदि कुछ शिव, सुन्दर एवं श्रेयस्कर है तो वह धर्म की ही मूल्यवान् देन है।

धर्म की शिक्षा अगर सही तरीके से दी जाय तो किसी प्रकार के संघर्ष, दौर्मनस्य या विग्रह को अवकाश नही रह सकता। थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए उस विश्व की जिसमें प्रत्येक मनुष्य दूसरों को अपना सखा समझता हो, कोई किसी को पीड़ा न पहुँचाता हो बल्कि परपीड़ा को अपनी ही पीड़ा मान कर उसके प्रतिकार के लिए सचेष्ट रहता हो, प्रत्येक व्यक्ति संयममय जीवन बना कर अपने सद्गुणों के विकास में निरत हो और अपनी-रायी मुक्ति के लिए यत्नशील हो। ऐसा विश्व कितना सुन्दर, कितना सुखद और कितना सुहावना होगा ! धर्म ऐसे ही विश्व के निर्माण की प्रेरणा युग-युग से करता आ रहा है !

धर्म शास्त्र शिक्षा देता है कि जिन वस्तुओं के लिए तू लड़ता है और दूसरों का अधिकार छीनता है, वे सारी वस्तुएँ नाशवान् हैं। जो आज तेरे हाथ में है, उसका ही पता नहीं तो बलपूर्वक छीनी हुई परायी वस्तु कहाँ तक स्थायी रह सकेगी ? जो दूसरे को सताएगा वह हत्यारा कहलाएगा और सदा भय से पीड़ित रहेगा। उसके चित्त में सदैव धुकधुक रहेगी कि दुश्मन मुझ पर कहीं हमला न कर दे ! कोई नया-शत्रु पैदा न हो जाय ! वह लड़कर और लड़ाई में विजयी होकर भी शान्ति से नहीं रह सकता। एक शत्रु को समाप्त करने के प्रयत्न में वह सैकड़ों नवीन शत्रु खड़े कर लेगा। न चैन से रह सकेगा और न दूसरों को चैन से रहने देगा। शत्रुता ऐसी पिशाचिनी है जो मर-मर कर जीवित होती रहती है और जिसका मूलोच्छेद कभी नहीं होता। इस कारण धर्मशास्त्र कहता है कि शान्ति और सुख का मार्ग यह नहीं कि किसी को शत्रु समझो और उसको समाप्त करने का प्रयत्न करो; सच्चा मार्ग यह है कि अपने मैत्री भाव का विकास करो और इतना विकास करो कि कोई भी प्राणधारी उसके दायरे से बाहर न रह जाय। किसी को शत्रु न समझो और न दूसरों को ऐसा अवसर दो कि वे तुम्हें अपना शत्रु समझें।

जो बात व्यक्तियों के लिए है वही देशों के लिए भी समझना चाहिए। विस्मय का विषय है कि आज के युग में भी एक देश के सूत्रधार दूसरे देश के साथ युद्ध करने को तत्पर हो रहे हैं। पराधीन देश आज स्वाधीन होते जा रहे हैं, सदियों की राजनितिज्ञ गुलामी खत्म हो रही है और साम्राज्यवाद अपनी अन्तिम घड़ियां गिन रहा है। ऐसी स्थिति में क्या संभव है कि कोई देश किसी देश की स्वाधीनता को समाप्त कर उस पर अधिक समय तक अपना प्रभुत्व कायम रख लेगा ?

आज का युद्ध कितना महँगा पड़ता है, यह किसी से छिपा नहीं है। पूर्व-काल में सीमित तरीके से युद्ध होता था। उसमें सेना ही सेना के साथ लड़ती थी और उस लड़ाई में भी कतिपय सर्वसम्मत नियम होते थे। सर्वनाश के आज जैसे

साधन भी उस समय नहीं थे। मगर आज सैनिक और नागरिक सभी युद्ध की ज्वालाओं में भस्म होते हैं और थोड़ी ही देर में घोर प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति में युद्ध की बात कहना और किसी पर युद्ध थोपना बड़ी से बड़ी मूर्खता है।

संसार के कतिपय शान्ति प्रेमियों ने इस बुराई की गहराई को समझा है। उन्होंने आवाज बुलन्द भी की है। कि युद्ध बंद करो, निश्शस्त्रीकरण को अपनाओ और संयुक्तराष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के द्वारा अपने मतभेदों को दूर करो मगर यह आवाज अभी तक कारगर साबित नहीं हो सकी। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो कुछ लोग शान्ति में विश्वास ही नहीं करते और वे सदैव लड़ने-लड़ाने की कोशिशें करते रहते हैं। दूसरे संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी जिम्मेवार संस्था को जैसा निष्पक्ष और न्यायशील होना चाहिए, वह वैसी नहीं है। वह भी बड़े राष्ट्रों के स्वार्थ पूर्ण दृष्टिकोण से संचालित होती है। इस कारण सच्चा न्याय करने में असफल रही है। मगर इन कारणों के अतिरिक्त सबसे बड़ा जो कारण है। वह मैं मानता हूँ कि धर्मभावना की कमी है। कोई भी राजनीतिक समाधान तब तक स्थायी और कार्य कारी नहीं हो सकता जब तक उसे धार्मिक रूप में मान्य न किया जाय। राजनीतिक समाधान दिमाग को ही प्रभावित करता जब कि धार्मिक समाधान आत्मा को स्पर्श करता है और इसी कारण व उसका प्रभाव स्थायी होता है। हृदय की शुद्धि के बिना बाहर का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकता। विश्वशान्ति के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्नों के बावजूद लडाइयां हो रही हैं और होती रहेंगी उनके रुकने का एक ही अमोघ उपाय है और वह यही कि मानव हिंसा को ईश्वर के आदेश के रूप में निषिद्ध माने और अहिंसा एवं पारस्परिक सहयोग को धार्मिक विधान मान कर हृदय से उसको स्वीकार करे।

मनुष्य को चाहिए कि वह आन्तरिक वासना को शान्त करे, ऊपर से ही शान्ति की बातें न करे। मैत्री के नारों से काम नहीं चल सकता, अन्तरतर में

मित्रता की भावना उत्पन्न होनी चाहिए शिक्षा पद्धति में नीति और धर्म का समावेश हुए बिना यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता।

दूसरे के प्रति प्रेम का भाव न हो, स्वार्थ छल-कपट और रोष ही रोष हो तो विद्वेष की ही आग भड़केगी। भारत की संस्कृति विश्वबन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत है, मगर विदेशी प्रभाव के कारण यहाँ की शिक्षा में परिवर्तन हो गया है। चीनी यात्रियों (ह्वेन सांग, फाहियान आदि) ने अपने यात्रा विवरणों में लिखा है कि मगध राज्य में ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस बात से दूसरे देशों को आश्चर्य हुआ। उन यात्रियों को बतलाया गया कि भारत में चोरी की कहानियाँ सुनी जाती हैं परन्तु भारतीय चोरी नहीं करते। यात्रियों को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ परीक्षा के लिए वे अपनी गठरी एक कुँए के पास छोड़ कर आगे बढ़ गए। कोइ राहगीर अपनी गठरी भूल गया है, यह कह कर लोगों ने गठरी राजकर्मचारियों के सिपुर्द कर दी। एक घुड़सवार राजकर्मचारी उस गठरी को लेकर चला और उन यात्रियों को सौंप दी उसने यात्रियों को सावधान किया यात्रा में अपना सामान सँभाल कर रखना चाहिए। यात्री भारत की असाधारण प्रामाणिकता को देख कर अत्यन्त प्रभावित हुए।

आज सारा नक्शा बदल गया है। चोंरी का माल कदाचित् मिल जाए तो माल के असली मालिक को उसे हस्तगत करने में भी कठिनाई होती है, पंचनामा आदि कई झंझटें करनी पड़ती हैं। लोगों को एक दूसरे का विश्वास नहीं रहा है। यात्रा के समय जेबों में पैसा सुरक्षित नहीं रहता। प्रत्येक वर्ग में अप्रामाणिकता बढ़ गई है। रिश्वत, चोर बाजारी आदि बुराइयाँ, जो देश को अधःपतन की ओर ले जाने वाली हैं, बढ़ती जा रही हैं।

सुख और दुःख के मूल दो-दो कारण होते हैं- आन्तरिक और बाह्य। हवा लग जाना, खान-पान में गड़बड़ हो जाना दुःख के बाह्य कारण हैं; असातावेदनीय कर्म का उदय होना अन्तरंग कारण है। दुःख की रोक-थाम के

लिए जैसे बाहरी उपाय किये जाते हैं, उसी प्रकार आन्तरिक उपाय भी किये जाने चाहिए। यदि अन्तर के कारण को दूर कर दिया गया तो बाह्य कारण आप ही आप दूर हो जायेगा।

युद्ध के वातावरण के रूप में देश पर जो संकट आया है, वह सामूहिक पाप का प्रतिफल है। सामूहिक कर्म के दूषित होने से करोड़ों लोगों के मन पर उसका असर पड़ रहा है। मोर्चे पर युद्ध करने वाले तो गिनती के सैनिक हैं परन्तु शासक, व्यवसायी, कृषक मजदूर आदि सभी के मन में अशान्ति है, देश संकट ग्रस्त है, अतएव सभी के चित्त पर दुःख की छाया होना स्वाभाविक है। आक्रमण का मुकाबिला करने का व्यवहारिक तरीका शक्ति से प्रतिरोध करना तो माना ही जाता है, किन्तु हमें आत्मपरिक्षण भी करना चाहिए कि हमारे भीतर कहीं गड़बड़ तो नहीं है ? पूर्वकाल में अकाल आदि संकट आने पर राजा लोग आत्म शोधन करते थे। शासक अपनी त्रुटियों और स्खलताओं का प्रतीकार करते थे।

भारत को आज भी अपनी पुरानी संस्कृति का निर्वाह करना चाहिए। शासक वर्ग को आत्म निरीक्षण करना चाहिए और अपनी त्रुटियों को तत्काल दूर कर देना चाहिए। भारतीयों की सब से बड़ी गलती यह है कि स्वाधीनता पाने के पश्चात् उन्होंने नैतिकता को एकदम विस्मृत कर दिया है। पश्चिम के प्रभाव में आकर भारत ने अपनी मौलिक मर्यादा और धर्मसंस्कृति को त्याग दिया है तथा भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य और पाप पुण्य के विवेक को भुला दिया है। लोगों में लालच, तृष्णा और स्वार्थपरायणता बढ़ती जा रही है। अर्थलाभ ही मुख्य दृष्टिकोण बन गया है इन सब कारणों से प्रामाणिकता गिर गई है तथा नैतिक दृष्टि से देश का पतन होता जा रहा है! इन सब बुराइयों को दूर किये बिना देश का सामूहिक जीवन समृद्ध और सुखमय नहीं बन सकता और इन बुराइयों को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय धर्म की शरण में आना है।

धर्म की रक्षा करना अपनी रक्षा करना है; धर्म का विनाश आत्मविनाश का आह्वान करना है ठीक ही कहा गया है—

धर्म एव हतो हन्ति,
धर्मो रक्षति रक्षितः ।

निस्सन्देह आज देश पर संकट के बादल मँडरा रहे हैं परन्तु संकट भी वरदान सिद्ध हो सकता है यदि हम उससे सही शिक्षा लें। हमें इस संकट के समय धैर्य रखना है और इससे प्रेरणा लेनी है। अतीत की भूलों को दूर करना है और नवीन जीवन का सूत्रपात करना है। 'नवीन जीवन' कहने का कारण केवल यही है कि हम उस जीवन को भूल गये हैं, अन्यथा वह प्राचीन जीवन ही है जिसमें प्रत्येक वर्ग अपने-अपने धर्म का पालन करता था।

आज संकट की इन घड़ियों में देश के सभी राजनीतिक दल एक सूत्र में आबद्ध हो गए हैं। सभी वर्गों के नेता यह अनुभव करने लगे हैं कि एकता के द्वारा ही राष्ट्रीय संकट को सफलता के साथ पार किया जा सकता है। धर्म, जाति, प्रान्त, भाषा या किसी अन्य आधार से उत्पन्न कटुता के वातावरण को समाप्त कर बन्धुता, प्रीति और एकता की भावना का विकास किया गया तो देश का मनोबल बढ़ेगा और सारा संकट टल जायगा। यदि कोई देश परास्त होता है तो वह भीतर की गड़बड़ से परास्त होता है। जिस देश में हार्दिक एकता हो उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। वह आक्रमणकारी को निकाल बाहर कर देगा।

किसी भी संगठन को शुद्ध बनाये रखने के लिए नैतिकता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। कृषक, श्रमिक शासक, व्यवसायी आदि सभी अपने-अपने कर्त्तव्य के प्रति प्रामाणिक रहें, अप्रामाणिकता और वैयक्तिक स्वार्थ को त्याग दें और उनमें जागरण आ जाए तो यह देश के लिए अत्यन्त हितकर होगा। खास तौर से शासकवर्ग को सोचना है कि अनैतिक आचरण करने से और नैतिकता के प्रति उपेक्षा भाव रखने से क्या अनीति को बढ़ावा नहीं मिलेगा ? जनता चाहे जिस तरह से धनार्जन करे, सरकार का खजाना भरना चाहिए; यह नीति आगे चल कर देश को रसातल में नहीं पहुँचा देगी? क्या यह दुर्नीति सरकार के लिए

ही सिरदर्द नहीं बन जाएगी ? आज नैतिकता की भावना को सजीव और साकार बनाना है और यही सच्ची देश सेवा है। दिखावा करने का समय व्यतीत हो गया। बिलास की वेला वीत गई है। देशवासियो! अपने देश के महापुरुषों के जीवन, आदेश और उपदेश को याद करो। जीवन को संयममय और सादगी पूर्ण बनाओ। गृहस्थों के व्रतों एवं नियमों को पालो। खाद्यान्न की कमी है तो महीने में दो-चार उपवास करने का नियम ग्रहण करो। धर्मशास्त्र का विधान है कि प्रत्येक गृहस्थ को अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या या अपनी पसंद की हुई किन्हीं भी तिथियों में अनशन करना चाहिए। यह धार्मिक नियम आज देश की सब से जटिल समस्या को सरलता से समाधान कर सकता है। खाद्यान्न की कमी मांसभक्षण से पूरी करने की प्रेरणा देश को भारी खतरे में डाल देगी। एक बार मनुष्य के हृदय में जब निर्दयता और क्रूरता जाग उठती है तो वह दूसरे मनुष्यों के प्रति भी सदय नहीं रह सकता। अगर हम चाहते हैं कि मनुष्य मनुष्य का घातक न बने तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसके हृदय में करुणा भाव जागृत करें और करुणा भाव की जागृति के लिए प्राणिमात्र के प्रति दयावान् बनने के सिवाय अन्य कोई चारा नहीं है। जो पशुओं की हत्या करने में संकोच नहीं करेगा या मांसभक्षण करेगा, वह मनुष्यों के प्रति भी करुणाशील नहीं रह सकेगा। अतएव खाद्य-समस्या का समाधान धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए। परिमित दिनों का अनशन उसका उत्तम उपाय है।

यदि नागरिकों के व्यवहार में प्रामाणिकता आ जाय तो सरकारी कर्मचारियों की संख्या में कमी हो जाय और लाखों करोड़ों का खर्च बच जाए और परिणाम स्वरूप कर का भार भी कम हो जाय। शासनतंत्र को भी चाहिए कि वह जनता में प्रामाणिकता के प्रोत्साहन के लिए समुचित व्यवस्था करे। विविध प्रकार के व्यवसायी आज जो मिलावट कर रहे हैं उसके विषय में उन्हें मार्गसूचन किया जाना चाहिए, जिससे वे वैसा न करें। व्यवसायियों को भी सन्मार्ग ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार प्रजा और शासकवर्ग के सम्मिलित

प्रयास से प्रामाणिकता की सुदृढ़ भूमिका तैयार हो सकती है। इससे भ्रष्टाचार, घूसखोरी, मिलावट, काला बाजार आदि बुराइयाँ, जो देश के स्वास्थ्य के लिए क्षय के कीटाणुओं के समान हैं, नष्ट की जा सकती हैं। एक कवि ने कहा है—

वरं विभववन्ध्यतां सुजनभावभाजां नृणाम्,
असाधु चरितार्जिता न पुनरूर्जिता सम्पदः ।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरम्,
विपाकविरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता ॥

धन की गरीबी बुरी नहीं है। दुष्कृत्यों के द्वारा उपार्जित की गई लक्ष्मी अच्छी नहीं है। परिणाम में सुन्दर स्वाभाविक कृशता में कोई बुराई नहीं है, मगर सूजन के कारण उत्पन्न होने वाली मोटाई श्रेयस्कर नहीं है। मधुमक्खियाँ काट लें और उससे शरीर फूल जाय तो क्या वह खुशी की चीज होगी ? नहीं, शरीर में सूजन आ जाने से चिन्ता होगी और अस्पताल भागना पड़ेगा। यह रोग है। इसी प्रकार अनीति से प्राप्त धन का मोटापन भी रोग है। कृशता शोभा देती है जो सहज है, परन्तु अनुचित मोटापन बीमारी की निशानी है।

व्यापारी आदि सभी वर्ग अगर इस नीति को व्यवहार में लावें तो इस संकट के समय में स्वयं को तथा देश को भी निर्भय बना सकेंगे। पाप घटने से दुःख आप ही आप घट जाएँगे। दुःख को घटाने के लिए बाह्य साधन भी किया जाय किन्तु अन्तरंग को भी सुधारा जाय; इससे दुःख का शीघ्र निकन्दन होगा। यह अनुभूत वाणी है, अटकलपच्चू की बात नहीं है।

भारत की आत्मा सांस्कृतिक रूप में उज्ज्वल रही हो तो उसे पदाक्रान्त करने का सामर्थ्य किसी में नहीं। देश की पुण्यप्रकृति बढ़ेगी तो पाप घटेगा और पाप घटने से संताप भी अवश्य घटेगा। सिर्फ बाहर के उपायों से सन्ताप नहीं घटता। छल-बल वाले को जल्दी सफलता मिलती दीख पड़ती है, मगर वह ठोस और स्थायी नहीं होती। स्थायी विजय और सच्ची शान्ति तो सुजन के

साथ ही रहेगी। यद्यपि दुर्योधन को तात्कालिक लाभ दीख पड़ा, ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सम्राट् बन गया है और युधिष्टर धर्म की रट लगाते हुए सर्वस्व गँवा कर जंगलों में भटक रहे हैं; किन्तु अन्तिम परिणाम क्या हुआ ? विजय युधिष्टर की हुई, कीर्त्ति युधिष्टर को प्राप्त हुई। दुर्योधन के छल-बल ने अन्याय ने उसका और कौरववंश का सर्वनाश कर दिया !

भारत अपनी संस्कृति पर सदा अडिग रहेगा। हंस अपनी वृत्ति को नहीं बदलता। वह मानसरोवर में रहता है। वह काक की देखादेखी नहीं करता। काक मानसरोवर के पास यदि पर्वत की चोटी पर बैठ जाय तो भी काक ही रहेगा। कहा है—

'स्वर्णाद्रिशृंगाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एवा'

सुमेरु के शिखर पर बैठा हुआ काक आखिर काक ही रहता है।

भारत की संस्कृति उच्चकोटि की, उदार और पवित्र है। उसने अपनी संस्कृति और नीति की पवित्रता के कारण कभी किसी पर आक्रमण नहीं किया। उसने विश्व शान्ति और विश्वहित की ही सदा कामना की है। इस नीति को बहुत लोग भारत की दुर्बलता समझते हैं, यह उनका भ्रम है। भारत की आत्मा दुर्बल नहीं है। वह आक्रमणकारी को सदैव करारा उत्तर देता रहा है और जो उससे टकराएगा, कभी सफल नहीं हो पाएगा।

इसी विश्वास के साथ भारतीय प्रजा को अनैतिकता से बचना चाहिए और देश के गौरव के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करना चाहिए। अगर भारत की जनता अनैतिकता, अधार्मिकता और स्वार्थपरायणता से ऊपर उठेगी तो निश्चय समझिए कि संसार की कोई भी शक्ति उसे नीचा नहीं दिखा सकती। उसका गौरव सदा अक्षुण्ण रहेगा, उसकी प्रतिष्ठा सदा बढ़ती रहेगी और वह संसार को आदर्श राष्ट्रीय नीति का उज्ज्वल संदेश देता रहेगा।

भारत की एक कमजोरी खाद्यान्न की कमी कही जाती है। यह कमी वास्तव में है या लालची लोगों ने, अधिक मुनाफा कमाने के उद्देश्य से अन्न का

संग्रह करके उत्पन्न कर दी है, यह कहना कठिन है। लेकिन यदि वह वास्तविक है तो भी उसके प्रतीकार का उपाय है और ऐसा उपाय है जिसकी हिमायत हजारों-लाखों वर्षों से भारत के ऋषि-मुनि करते आए हैं महीने में कुछ उपवास करने की भारतीय धार्मिक परम्परा रही है और कुछ लोग आज भी इसका पालन करते हैं। इसे व्यापक रूप दिया जाय तो सारी समस्या सहज ही हल हो जायगी। मगर खाद्यान्न की समस्या को हल करना उसका आनुषंगिक फल ही समझना चाहिए। वास्तव में उपवास का असली फल आत्मशुद्धि है। आत्मशुद्धि से शुभ भाव की वृद्धि होती है, आत्मिक शक्ति बढ़ती है और उससे जीवन में जागरण आता है। संसार के प्राणी मात्र को आत्मवत् मानने की प्रेरणा देने वाली भूमि इस प्रकार के उदात्त और पावन उपायों को अपना कर ही अपनी विशेषता एवं गुरुत्ता कायम रख सकती है।

दुःख की घड़ियों में मनुष्य को भय होता है। गांव गांव, नगर-नगर और झोंपड़ी-झोंपड़ी में नास्तिक लोग भी सोचने लगे थे कि न जाने इस अष्टग्रही से क्या गज़ब होने वाला है? लाखों का अन्न लुटाया गया, भजन-कीर्त्तन हुए। ये चीजें भय की भावना से हुई। उस समय केवल आशंकित भय था, मगर आज वास्तविक भय उपस्थित है। हमारे नीतिकार कहते हैं—

तावद् भयस्य भेतव्यं, यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य, नरः कुर्याद्यथोचितम्॥

भय जब उस्थित हो जाय तो रोने और किनारा काटने से काम नहीं चल सकता। विपत्ति के समय धीरज नहीं खोना चाहिए। धीरज खो देना अनर्थ का कारण है। इससे विपत्ति शतगुण भीषण हो जाती है। कहा है—

ज्ञानी को दुख नहीं होता है,
ज्ञानी धीरज नहीं खोता है।

× × × ×

सद् ग्रन्थ पढ़ो स्वाध्याय करो,
मन के अज्ञान को दूर करो,
स्वाध्याय करो स्वाध्याय करो।

भ्रान्त विचारों, अधीरता और चंचलता के भावों को दूर करने का उपाय सम्यग्ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष संकट के समय धैर्य नहीं खोता और व्यर्थ चिन्ता नहीं करता। अगर दुःख सिर पर आ पड़े तो हाय-हाय करने से क्या लाभ है? ज्ञान का बल होने से मनुष्य धीरज से समय काट सकता है। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति सत्संग और स्वाध्याय से होती है।

शुभ कर्म को बढ़ाना पाप को घटाने का कारण है। शुभ कर्म से आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है और आध्यात्मिक शक्ति वह शक्ति है जिससे मनुष्य कौटुम्बिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि करता है।

अकसर एक प्रश्न उठता है—राष्ट्र रक्षा में सन्तसमाज का क्या योगदान है? ऐसा प्रश्न वही कर सकते हैं जो ऊपर-ऊपर की दृष्टि से विचार करने के आदी हैं। गहराई से राष्ट्रीयता या राष्ट्रहित के सम्बन्ध में विचार करने वालों के मन में ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता। राष्ट्र की रक्षा केवल भौतिक साधनों से होती है, यह समझ घातक है। भौतिक साधन और समृद्धि की प्रचुरता होने पर भी यदि राष्ट्र की आन्तरिक चेतना जागृत नहीं है, राष्ट्र के निवासियों में नैतिकता, उदारता, त्यागवृत्ति, धार्मिक भावना नहीं है तो वह राष्ट्र कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता। अतएव राष्ट्र की रक्षा उसमें निवास करने वाली प्रजा के सद्गुणों पर निर्भर है। जिस देश की प्रजा के आन्तरिक जीवन का स्तर जितना ऊँचा होगा, वह देश उतनी ही अधिक उन्नति कर सकेगा। इसके विपरीत, जिस देश के निवासी नैतिक दृष्टि से गिरे होंगे, अधार्मिक होंगे, स्वार्थपरायण होंगे, वह देश कदापि ऊँचा नहीं उठ सकता। कदाचित् ऐसा कोई देश समृद्ध और शक्तिमान् दीख पड़ता हो तो भी यही मानना होगा कि उसकी समृद्धि और शक्ति सिर्फ ऊपरी है, उसमें स्थायित्व नहीं है थोड़े ही समय

में उसका पतन वालू की दीवाल की तरह हो जाएगा। इस प्रकार देश की असली सुरक्षा उसकी आन्तरिक चेतना की दिव्यता और भव्यता में निहित है। सन्त जन इस चेतना को जागृत करने, जागृत रखने और विकसित करने में सदा संलग्न रहते हैं। वे मानव समाज को अपने संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठ कर व्यापक हित का विचार करने की प्रेरणा देते हैं और सब के हित में अपना हित मानने की बुद्धि प्रदान करते हैं। अतएव राष्ट्र के ठोस और आधारभूत हित और संरक्षण में उनका योग असाधारण है।

प्रत्येक वर्ग का कर्त्तव्य पृथक्-पृथक् होता है। मजदूर अपनी जगह रह कर और अपने कर्त्तव्य का पालन करके देश की सेवा करता है। किसान अधिक उपज बढ़ाकर सेवा करता है उद्योगपति अपने ढंग से सेवा कर सकता है। अगर सभी वर्ग एक ही ढंग अख्त्यार कर लें तो देश का काम चल नहीं सकता। इसी प्रकार सन्त समाज अपनी मर्यादा में रह कर ही देश की सेवा करता है। वह देशवासियों में उन सद्गुणों के विकास का प्रयत्न करता है जिनके अभाव में देश की आत्मा सबल नहीं हो सकती, सुरक्षा भी संभव नहीं है।

जम्बूद्वीप के चारों ओर खाई की तरह फैला हुआ समुद्र जम्बूद्वीप को आप्लावित क्यों नहीं कर देता? यह प्रश्न श्रीगौतम ने भग० महावीर से पूछा। महावीर स्वामी ने उत्तर दिया यह अनादिकालिक मर्यादा है। इसके अतिरिक्त इस में अनेक सन्तों, सतियों और भक्तों की विद्यमानता है, इस कारण भी यह आप्लावित नहीं होता। तेजस्वी साधना वाला यदि किसी नगर में मौजूद हो तो वह उस नगर को बचा सकता है। अगर सभी लोग आत्मबल को बढ़ावें तो देश का कल्याण होगा। संकट काल में आध्यात्मिक बल बहुत लाभकारी हो सकता है। मैं आपको यही प्रेरणा करना चाहता हूँ कि आगमों के आधार पर चलो और आर्य संस्कृति को भूलने के बजाय अपने जीवन में उसको अधिक से अधिक स्थान दो। शासक और शासित दोनों उदारतापूर्वक कार्य करें, समझदारी अपनाएँ जिससे किसी की भूल से किसी को हानि न हो।

देश ऋण के भार से दबा जा रहा हो और देश की प्रजा में भोग-विलास की मनोवृत्ति बढ़ती जाए, इससे किसी का कल्याण नहीं होगा। ऐसे समय में प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह देश के हित में ही अपना हित समझे, देश के उत्थान-पतन में अपना उत्थान-पतन माने, देश के गौरव में ही अपना गौरव अनुभव करे और सादगी, संयम तथा त्याग भावना को अधिक से अधिक अपनाए। राष्ट्रीय संकट के समय, उससे लाभ उठा कर व्यक्तिगत स्वार्थसाधन की बात सोचना अपनी आत्मा को गिराना है और अपने पाँव पर आप ही कुठाराघात करना है। समूह के मंगल में ही व्यक्ति का मंगल है।

व्रत और नियम का संबल लेकर आध्यात्मिक विचार, सदाचार, सचाई और वाणी का बल बढ़ा कर प्रत्येक नागरिक यदि अपने जीवन को ऊँचा उठाएगा तो स्वतः ही समाज और देश का कल्याण होगा और आन्तरिक जीवन भी मंगलमय बन जाएगा।

———

मानसिक सन्तुलन

जीवन को उन्नत बनाने तथा आध्यात्मिक बल को बढ़ाने के लिए महावीर स्वामी ने जिस साधना का संदेश दिया है, आनन्द श्रमणोपासक के माध्यम से उसका निरूपण किया गया है। उसका उद्देश्य यही है कि उस साधना का विकास किया जाय और अपने आपको ऊँचा उठाया जाय।

आज देश की स्थिति बड़ी विषम है। युद्ध की परिस्थिति बनी है। भारतीय सैनिक अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए बलि चढ़ा रहे हैं। शत्रु-देश सिर ऊँचा उठा रहे हैं और देश की स्वाधीनता तथा सुरक्षा को जोखिममें डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे समय में अध्यात्म की चर्चा कहां तक उपयुक्त है? इस समय तो देशवासियों में वीरता जगाना चाहिए और आक्रान्ताओं को देश की सीमा के बाहर भगा देने की प्रेरणा करना चाहिए। इस अवसर पर धर्म की बात करना असामयिक है। कइयों के हृदय में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

मगर मैं कहना चाहूँगा कि अगर ऐसे विचार आपके चित्त में आते हैं तो समझना चाहिए कि आपने गंभीर विचार नहीं किया है। देश और समाज की रक्षा के दो उपाय होते हैं—बाह्यरक्षा और आन्तरिक रक्षा।

देश पर आक्रमण होने की स्थिति में, आक्रान्ता को भगाने के लिए सैनिक बल का प्रयोग करना, शस्त्रों का निर्माण करना, उद्योग धंधों को बढ़ाना आदि कार्य बाह्यरक्षा में सम्मिलित हैं। देशवासियों में ऐसी नैतिक भावना

जाग्रत करना कि वे धीरज और साहस रक्खें, एकता को कायम रक्खें, राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि स्थान दें, जीवन को इतना संयममय बनाएँ कि अल्प से अल्प सामग्री से अपना काम चला सकें, लोभ लालच के वशीभूत होकर स्वार्थ साधन में लिप्त न हों, विलास का परित्याग कर त्यागभावना की वृद्धि करें और प्रत्येक अनैतिक एवं अधार्मिक कार्य से बचते रहें, यह देश की आन्तरिक सुरक्षा है।

बाह्य सुरक्षा आन्तरिक सुरक्षा पर निर्भर है। अगर नागरिक जन अपने कर्त्तव्य और धर्म से विमुख होते हैं तो सैनिकों का साहस, पराक्रम और बलिदान सार्थक नहीं हो सकता। अतएव युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये भी यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि प्रजाजन भी अपने जीवन को सँभालें, देश में आन्तरिक शान्ति कायम रक्खें। जैसे नागरिकों को शस्त्रास्त्र देकर सबल बनाया जाता है, उसी प्रकार उन्हें कर्त्तव्य निष्ठा, धीरता, सहनशीलता और नैतिकता के द्वारा प्रबल बनाना भी अत्यावश्यक है। इसके अभाव में भीतरी गड़बड़ी हो जायेगी। शस्त्रशिक्षा की अपेक्षा शास्त्रशिक्षा का महत्व कम नहीं है। भारतीय संस्कृति में दोनों की हिमायत की गई है, जो दोनों प्रकार की शिक्षा से शिक्षित नहीं, वह जाति, समाज और देश के लिए खतरनाक हो सकता है।

नागरिकों में अज्ञान न हो, यह भी देशरक्षा के लिए आवश्यक है। इतिहास से विदित होता है कि कई लोग अज्ञानतावश शत्रुपक्ष में मिल गए। इससे बड़ा खतरा किसी देश के लिए दूसरा क्या हो सकता है ?

मानसिक वृत्ति में सन्तुलन लाने वाला शास्त्रशिक्षण है। इससे आन्तरिक जीवन का निर्माण होता है, फिर चाहे वह शासक हो कृषक हो या कुछ अन्य हो। अज्ञानी का अपना विनाश देश के अनिष्ट का भी कारण बनेगा। अतएव आन्तरिक विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्रशिक्षा की आवश्यकता है।

शास्त्रीय शिक्षा में सामायिकसाधन का स्थान बहुत ही महत्व का है। सामायिक से अन्तःकरण में विषमता के स्थान पर समता की स्थापना होती

है। उसका दूसरा उद्देश्य मानव के अन्तस्तल में धधकती रहने वाली विषय-कषाय की भट्टी को शान्त करना है।

सामायिकसाधना के सच्चे, गहरे और व्यापक अर्थ को समझा नहीं जा रहा है। प्रतिदिन सामायिक करने वालों में भी अधिकांश जन ऊपरी विधी-विधान करके ही सन्तोष मान लेते हैं। वे उस साधना को स्पर्श करने का प्रयत्न नहीं करते। उसे सजीव एवं स्फूर्त रूप प्रदान कर जीवनव्यापी नहीं बनाते। अगर सामायिक साधना हमारे जीवन का प्रेरणास्त्रोत और मूलमंत्र बन जाए तो उससे अपूर्व लाभ हो सकता है। जीवन में जो भी विषाद, वैषम्य, दैन्य, दारिद्रय, दुःख और अभाव है, उस सब की अमोघ औषध सामायिक है। जिसके अन्तःकरण में समभाव के सुन्दर सुमन सुवासित होंगे, उसमें वासना की बदबू नहीं रह सकती। जिसका जीवन साम्यभाव के सौम्य आलोक से जगमगाता होगा, वह अज्ञान, आकुलता एवं चित्त विक्षेप के अन्धकार में नहीं भटकेगा।

जीवन में अनेक प्रकार की टक्करें लगती रहती हैं, उनसे पूरी तरह बचना संभव नहीं है, किन्तु टक्करें लगने पर भी उनसे आहत न होने का उपाय सामायिक है। आप जानते हैं कि मनुष्य जब रंज की हालत में आता है तो अपने आपको संसार में सबसे अधिक दुखी मानने लगता है और आदरणीय का आदर करना एवं वन्दनीय को वन्दन करना भी भूल जाता है। इस प्रकार विषमता की स्थिति में पड़कर वह दोलायमान होता रहता है और अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक तरह नहीं कर पाता है। इससे बचने के लिए और सन्तुलित मानसिक स्थिति बनाये रखने के लिए सामायिक साधना ही उपयोगी होती है। जो खुशी के प्रसंग पर उन्माद का शिकार हो जाता है और दुःख में आपा भूलकर विलाप करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों का नहीं रहता। युद्ध के समय सैनिक यदि घबरा जाता है, धैर्य गँवा बैठता है तो पीछे हट जाता है और यदि सन्तुलित अवस्था कायम रखता है तो शत्रु का सामना कर सकता है। कौटुम्बिक मामलों में यदि सन्तुलन बिगाड़ दिया जाय

तो घर व्यवहार बिगड़ जाता है और वह कुटुम्ब छिन्नभिन्न होकर बिखर जाता है।

मानसिक दशा सन्तुलित न हो तो ज्ञानी पुरुष कुछ समय टाल कर बाद में जवाब देता है। मन का सन्तुलन, शास्त्र, अध्यात्मशिक्षा, सामायिकसाधन ही सिखा सकती है।

शम की स्थिति प्राप्त करने के लिए भी सामायिक साधना चाहिए। काम, क्रोध, मोह, माया आदि के कुसंस्कार इतने गहरे होते हैं कि उनकी जड़ें उखाड़ने का दीर्घकाल तक प्रयास करने पर भी वे कभी-कभी उभर आते हैं। अध्यात्मसाधना में निरत एकाग्र साधक भी कभी-कभी उनके प्रभाव में आजाता है। कभी कोई निमित्त पाकर तृष्णा या काम की आग भड़क उठती है! यह आग अनादिकाल से जीव को सन्तप्त किये हुए है। इसे शान्त करने का उपाय क्या है? सामायिक साधना रूपी जल के बिना यह ठंडी नहीं हो सकती। भट्टी पर चढ़ाए उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नाना विध मानसिक सन्तापों से सन्तप्त मानव सामायिक साधना करके ही शान्तिलाभ कर सकता है।

प्राणी के अन्तर में कषाय की जो ज्वाला सतत प्रज्वलित रहती है, उसे शान्त किये बिना वास्तविक शान्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। ऊपर का कोई उपचार वहाँ काम नहीं आ सकता। उसके लिए तो सामायिकसाधना ही उपयोगी हो सकती है। अनवरत साधना चालू रहने से स्थायी शान्ति का लाभ होगा। साधना ज्यों-ज्यों सबल होती जाएगी, साधक की आनन्दानुभूति भी त्यों-त्यों ही बढ़ती जाएगी। इसीलिए कहा गया है—

करलो जीवन का उत्थान,
करो नित समता रस का पान।
नितप्रति हिंसादिक जो करते,
त्याग को मान कठिन जो डरते,

घड़ी दो कर अभ्यास महान्।
बनाते जीवन को बलवान्॥

महात्मा आत्म शांति के लिए साधना करते हैं, परन्तु उनकी साधना का फल उन्हीं तक सीमित नहीं रहता। सारा जगत् उस फल से लाभान्वित होता है। भगवान् महावीर ने जो उत्कृष्ट साधना की उसका फल सारे संसार को मिला। महापुरुष ऐसे कृपण नहीं होते कि अपनी अनुभूतियों को लुका-छिपा कर रक्खें और दूसरों को उनसे लाभान्वित न होने दें। उनका अन्तःकरण बहुत विशाल होता है और उसमें दया का महासागर उमड़ता रहता है। अतएव जगत् के दुखी और अज्ञानान्धकार में ठोकरें खाने वाले जीवों पर अपार करुणा करके वे अपनी साधना जनित अनुभूतियों को जगत् के सामने प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक सत्पुरुष के लिए यही उचित है कि उसके पास जो कुछ भी साधन-सामग्री है, उससे दूसरों को लाभ पहुँचावे। जिसने ज्ञान प्राप्त किया है, वह दूसरों का अज्ञान दूर करे, जिसके पास धन है, उसका कर्त्तव्य है कि वह निर्धनों, अनाथों एवं आजीविकाहीन जनों की सहायता करे। इस प्रकार अपनी सामग्री से दूसरों को सुख-साता पहुँचाना ही प्राप्त सामग्री का सदुपयोग कहा जा सकता है।

जैसे कंजूस श्रीमन्त अपने धन का लाभ दूसरों को नहीं देता, अपने समाज और अड़ौस-पड़ौस के लोगों की भी वह सहायता नहीं करता, वह अपनी दुनियां को अपने और अपने परिवार तक ही सीमित समझता है; मानों दूसरों से उसका कोई वास्ता ही नहीं; इसी प्रकार ज्ञानी जनों ने अगर कंजूसी से काम लिया होता तो इस संसार की क्या स्थिति होती? आज हमें शास्त्रों के रूप में जो महानिधि प्राप्त है, वह कहाँ से प्राप्त होती? हमें अपने कल्याण का मार्ग कैसे सूझता? उस दशा में दुनियां की स्थिति कितनी दयनीय और दुःखमय बन गई होती? मगर ऐसा होता नहीं है उदारहृदय महात्मा अपने आत्मकल्याण में विघ्न डाल कर भी जगत् के जीवों का पथप्रदर्शन करते हैं। वे अपने अनमोल वैभव को दोनों हाथों से लुटाते हैं और मानव-जाति के श्रेयस् के लिए यत्नशील रहते हैं।

तो महात्माओं ने अपनी गहन एवं रहस्यमय अनुभूतियों को भी प्रकाशित किया है। उन्होंने हमें बतलाया है कि आधियों, व्याधियों और उपाधियों से मुक्ति चाहते हो तो आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर होओ।

दुःख से छुटकारा पाना कौन नहीं चाहता ? मनुष्यों की बात जाने दीजिए, छोटे से छोटे कीट भी दुःख से बचना और सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इसी के लिए वे निरन्तर प्रयास कर रहे हैं। मगर दुःखों से मुक्ति मिलती नहीं। कारण स्पष्ट है दुनियां समझती है कि बाह्य पदार्थों को अपने अधिकार में कर लेने से दुःख का अन्त आ जाएगा। मनोहर महल खड़ा हो जाय, सोने-चाँदी से तिजोरियाँ भर जाएँ, विशाल परिवार जुट जाए, मोटर हो, विलास की अन्य सामग्री प्रस्तुत हो तो मुझे सुख मिलेगा। इस प्रकार पर-पदार्थों के संयोग में लोग सुख की कल्पना करते हैं। किन्तु ज्ञानी कहते हैं—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा।

संसार के समस्त दुःखो का मूल संयोग है। आत्मभिन्न पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना ही दुःख का कारण है। अब आप ही सोचिए कि सुख प्राप्त करने के लिए जो दुःख की सामग्री जुटाता है, उसे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? जीवित रहने के लिए विष को भक्षण करने वाला पुरुष अगर मूढ़ है तो सुख प्राप्ति के लिए बाह्य पदार्थों की आराधना करने वाला क्या मूढ़ नहीं है ? मगर आपकी समझ में यह बात कहाँ आ रही है ? आप तो नित्य नये-नये पदार्थों के साथ ममता का संबंध जोड़ रहे हैं। यह दुःख को बढ़ाने का प्रयत्न है। इससे सुख की प्राप्ति नहीं होगी। सच्चा सुख आत्मसाधना में है। आध्यात्मिक साधना जितनी-जितनी सबल होती जाएगी, सुख भी उतना ही उतना बढ़ता जाएगा। आर्त्त और रौद्र वृत्तियो को मिटाना ही शान्ति और मुक्ति का साधन है। शस्त्रविद्या इसमें सफल नहीं होती। शस्त्रविद्या तो रौद्र भाव को बढ़ाने वाली है ज्यों-ज्यों शस्त्रों का निर्माण होता गया, मनुष्य का रौद्र रूप बढ़ता गया। रौद्र रूप की वृद्धि के लिए आज तो शारिरिक बल की आवश्यकता भी

नहीं है कमजोर व्यक्ति भी यंत्रों की सहायता से हजारों-लाखों मनुष्यों को मौत के घाट उतार सकता है।

शस्त्र प्रयोग तो आखिरी उपाय है। जब अन्य साधन न रह जाय तभी शस्त्र का उपयोग किया जा सकता है। शास्त्र विद्या यह विचारधारा देती है कि शस्त्र विद्या का प्रयोग विवेक को तिलांजलि देकर नहीं किया जाना चाहिए। अन्याय, अत्याचार और दूसरों को गुलाम बनाने के लिए शास्त्र का प्रयोग करना मानवता की हत्या करना है। आज जो देश अपनी सीमा विस्तार करने के लिए सेना और शस्त्र का प्रयोग करते हैं, दूसरों को गुलाम बनाने के इरादे से अत्याचार करते हैं, वे मानवता के घोर शत्रु हैं और उनका अत्याचार उन्हीं को खा जाएगा हिटलर का उदाहरण पुराना नहीं पड़ा है। उसकी विस्तारवादी नीति ने ही उसे मार डाला।

शास्त्र विद्या यही शिक्षा देती है कि शस्त्र का प्रयोग रक्षण के लिए होना चाहिए, भक्षण के लिए नहीं। गृहस्थों को कभी शस्त्र भी संभालना पड़ता है, मगर उस समय भी उसकी वृत्ति सन्तुलित रहती है।

महाराजा चेटक व्रतधारी श्रावक थे। मगर कोणिक के अत्याचार का प्रतीकार करने का जब अन्य उपाय न रहा तो उन्हें सेना और शस्त्र का उपयोग करना पड़ा। इस समय शस्त्र न सँभाल कर अगर वह कायरता का प्रदर्शन करते तो अत्याचार बढ़ता, न्याय-नीति की जड़ें उखड़ जाती और धर्म को भी बदनाम होना पड़ता।

वर्णनाग नतुआ पौषधशाला में बैठे आत्मसधना कर रहे थे। बेले की तपस्या में थे। उसी समय उन्हें युद्ध भूमि में जाने और युद्ध करने का आदेश मिला। वे कह सकते थे कि मैं तपस्या कर रहा हूँ, युद्ध के लिए नहीं जा सकता। मगर नहीं, वे विवेकशील साधक थे। उन्होंने ऐसा नहीं कहा। धर्म, अहिंसा और तपश्चर्या को कलंकित करना उन्होंने घोर अपराध समझा। युद्ध का आह्वान आने पर उनके मन में खेद नहीं हुआ। हिचक नहीं हुई। उन्होंने बेला के बदले

तेला कर लिया और उसी समय युद्ध के लिए तैयार हो गए। देश रक्षा का आदेश मिलने पर जी चुराना उन्होंने पाप समझा। वे पौषधशाला से बाहर निकले और रथ तैयार करवा कर युद्ध के मोर्चे पर चल दिए।

शास्त्रों के ये उल्लेख अहिंसा के स्वरूप को समझने में हमारे लिए बहुत सहायक हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा की गोद में कायरता को नहीं छिपाया जा सकता। अहिंसा कर्त्तव्य भ्रष्टता का समर्थन नहीं करती। अहिंसा के नाम पर अगर कोई देश की रक्षा से मुँह मोड़ता है और अत्याचार को सहन करता है तो वह अहिंसा को बदनाम करता है। एक व्यक्ति जब शासन सूत्र अपने हाथ में लेता है या सेनापति का पद ग्रहण करता है तो देश और प्रजा की रक्षा करने का उत्तरदायित्व उस पर आ जाता है। किन्तु उस उत्तरदायित्व निभाने का अवसर आने पर अगर अहिंसा की आड़ में उससे बचने का प्रयत्न करता है तो वह कायर है, उसे धर्मनिष्ठ नहीं कहा जा सकता।

अत्याचार करना अहिंसा है तो कायर बन कर अत्याचार सहना और अत्याचार होने देना भी हिंसा है।

यों तो श्रावक स्थूल संकल्पजनित हिंसा का त्यागी होता है किन्तु निरपराध की हिंसा का ही वह त्याग करता है। स्वरक्षा या देश रक्षा में होने वाली हिंसा का वह त्याग नहीं करता। उस समय भी उसका विचार रक्षा का ही होता है। हिंसा का अवलम्बन वह विवशता से करता है।

वरुणनाग तपश्चर्या की स्थिति में भी युद्ध में संलग्न हो गया। युद्ध करते-करते जब देखा कि शरीर अब टिक नहीं सकता तो वह सावधान हो गया और अन्तिम समय की साधना में तत्पर हो गया। युद्ध करते समय भी, शत्रुओं पर गाढ़ा प्रहार करते समय भी हिंसा में रक्षानुभूति उसे नहीं हो रही थी। गीता में जिसे निष्काम कर्म कहा गया है, वही कर्म वह दत्तचित्त होकर प्रामाणिकता-पूर्वक कर रहा था।

अन्त में वर्ण नाग समस्थिति में आकर स्वर्गवासी हुआ। उनकी स्वर्गप्राप्ति का कारण था—विषय में सम स्थिति में आना, आर्त-रौद्र भाव त्यागना और विषय-कषायों से विमुख होकर शान्त चित्त होना।

सामायिक साधना का प्रथम सोपान सम्यक्त्व सामायिक है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही श्रुत के वास्तविक मर्म को समझा जा सकता है। अतएव श्रुत सामायिक को दूसरा सोपान कहना चाहिए। श्रुत सामायिक प्राप्त कर लेने पर चारित्र सामायिक को प्राप्त करना आसान होता है। चरित्र सामायिक श्रुत सामायिक के बिना स्थिर नहीं रह सकती। श्रुत सामायिक के द्वारा साधक को एक ऐसा बल मिलता है जिसके कारण देव और दानव भी उसका अहित नहीं कर सकते। आनन्द, कामदेव, कुण्ड कोलिक आदि गृही साधक सामायिक साधना के बल पर अमर हैं।

भगवान् महावीर स्वामी ने श्रमणों को सम्बोधित करते हुए कहा कि कामदेव के समान साधना करो देव ने हाथी, सर्प आदि का विकराल रूप धारण करके कामदेव को धर्म से च्युत करने में कुछ उठा नहीं रक्खा, किन्तु उसकी एक न चली। कामदेव अपनी साधना में अडिग रहा। जिसके जीवन में साधना नहीं होती, वह थोड़े-से विक्षेप से भी चलायमान, उद्विग्न और अधीर हो जाता है, चुटकी से भी विचलित हो जाता है किन्तु आज साधना के शुद्ध स्वरूप की ओर दुर्लक्ष्य किया जा रहा है।

सामायिक-साधना वह शक्ति है जो व्यक्ति में नहीं, समाज और देश में भी बिजली पैदा कर सकती है। व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में यह साधना आनी चाहिए जिससे उसका व्यापक प्रभाव अनुभव किया जा सके।

प्राचीन भारतीय विद्वानों में एक चीज की कमी रही जो आज भी खटकती है। उन्होंने पृथक्-पृथक् रूप से जो अनुभव और चिन्तन किया, उसका संकलन करके, उसके आगे की कड़ी के रूप में चिन्तन नहीं हुआ। उनके महत्त्वपूर्ण प्रयास बिखरे-बिखरे रहे। उनका मेल मिलाने का कोई

प्रयास नहीं किया गया। पश्चिम में इसी प्रकार का प्रयास दृष्टि गोचर होता है। वहाँ एक सिद्धान्त को आधार मान कर उससे आगे का विचार किया गया है। वहाँ के चिन्तन में एक सिलसिला है, कड़ी है।

साधना को व्यावहारिक रूप मिलने से जीवन में ताकत आ जाती है, और असंभव भी संभव हो जाता है। एक कवि ने कहा है–

कर लो सामायिक रो साधन, जीवन उज्ज्वल होवेला।
तन का मैल हटाने खातिर, नितप्रति न्हावेला।
मन पर मल चहुँ ओर जमा है, कैसे धोवेला।
सामायिक से जीवन सुधरे, जो अपनावेला।
निज सुधार से देश जाति, सुधरी हो जावेला।
गिरत गिरत प्रतिदिन रस्सी भी, शिला घिसावेला।
करत करत अभ्यास मोह का, जोर मिटावेला।

रस्सी की बार-बार की रगड़ से शिला पर भी निशान पड़ जाते है। 'रसरी आवत जात तें सिल पर परत निशान।' इसी प्रकार साधना के बल से मनुष्य की प्रकृति भी घिस सकती है। सामायिक साधना के समय काम क्रोध आदि विकारों को नित्य 'टच' करो—अंकुश में लाओ तो धीरे-धीरे वे विकार कम हो जाएंगे। अगर प्रतिदिन विकारों पर चोट मारने का काम प्रारंभ किया गया तो जीवन में अवश्य ही मोड़ आएगा।

सामायिकसाधना करना अपने घर में रहना है। सामायिक से अलग रहना बेघरबार रहना है। सामायिकसाधना करना आत्मा का घर में आना है। काम क्रोध आदि विकारों में परिणत होना पराये घर में जाना है। किन्तु साधना के लिए अन्तःकरण को तैयार किया जाना चाहिए। नित्य की साधना बड़ी बलशालिनी होती है। घंटा भर की साधना अगर नहीं हो सकती तो १०-१५ मिनिट श्रुतसाधना ही की जानी चाहिए। उससे भी शान्ति मिलेगी।

मगर साधना में बैठने वालों को सांसारिक प्रपंचों से मन को पृथक् कर लेना चाहिए। चित्त को प्रशान्त और एकाग्र करके साधना करने से अवश्य ही लाभ होगा। अन्तरंग साधना सामायिक के अभ्यास से ही सिद्ध होती है।

अगर इस प्रकार से सामायिकसाधना जीवन में अपनाई गई तो इहलोक और परलोक में कल्याण होगा।

जीवन का 'ब्रेक'—संयम

आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है। वह अनन्त ज्ञान-दर्शन का पुंज-परमज्योतिर्मय, आनन्दनिधान, निर्मल, निष्कलंक और निरामय तत्त्व है। किन्तु अनादिकालीन कर्मावरणों के कारण उसका स्वरूप आच्छादित हो रहा है। चन्द्रमा मेघों से आवृत होता है तो उसका स्वाभाविक आलोक रुक जाता है, मगर उस समय भी वह समूल नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के सहज ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं, आवृत हो जाने पर भी उनका समूल विनाश नहीं होता। वायु के प्रबल वेग से मेघों के छिन्न-भिन्न होने पर चन्द्रमा का सहज आलोक जैसे चमक उठता है, उसी प्रकार कर्मों का आवरण हटने पर आत्मा के गुण अपने नैसर्गिक रूप में प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार जो कुछ प्राप्तव्य है, वह सब आत्मा को प्राप्त ही है। उसे बाहर से कुछ ग्रहण करना नहीं है। उसका अपना भण्डार अक्षय और असीम है।

बाहर से प्राप्त करने के प्रयत्न में भीतर का खो जाता है। यही कारण है कि जिन्हें अपनी निधि पाता है, वे बड़ी से बड़ी बाहर निधि को भी ठुकरा कर अकिंचन बन जाते हैं। चक्रवर्ती जैसे सम्राटों ने यही किया है और ऐसा किये बिना काम चल भी नहीं सकता।

बाह्य पदार्थों को ठुकरा देने पर भी अन्दर के खजाने को पाने के लिए प्रयास करना पड़ता है। वह प्रयास साधना के नाम से अभिहित किया गया। भगवान महावीर ने साधना के दो अंग बतलाए हैं—संयम और तप।

संयम का सरल अर्थ है—अपने मन, वचन और शरीर को नियंत्रित करना, इन्हें उच्छृंखल न होने देना, कर्मबन्ध का कारण न बनने देना। मन से अशुभ चिन्तन करने से, वाणी का दुरुपयोग करने से और शरीर के द्वारा अप्रशस्त कृत्य करने से कर्म का बन्ध होता है। इन तीनों साधनों को साध लेना ही साधना का प्रथम अंग है। जब इन्हें पूरी तरह साध लिया जाता है तो कर्म-बन्ध रुक जाता है। नया कर्मबन्ध रोक देने पर भी पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता बनी रहती है। उनसे पिण्ड छुड़ाने का उपाय तपश्चर्या है। तपश्चर्या से पूर्वबद्ध कर्म विनष्ट हो जाते हैं। भगवान् महावीर ने तपश्चर्या को विशाल और आन्तरिक स्वरूप प्रदान किया है। साधारण लोग समझते हैं कि भूखा रहना और शारीरिक कष्टों को सहन कर लेना ही तपस्या है। किन्तु यह समझ सही नहीं है। इन्द्रियों को उत्तेजित न होने देने के लिए अनशन भी आवश्यक है, ऊनोदर अर्थात् भूख से कम खाना भी उपयोगी है, जिह्वा को संयत बनाने के लिए अमुक रसों का परित्याग भी करना चाहिए, ऐश-आराम का त्याग करना भी जरूरी है, और इन सब की गणना तपस्या में है, किन्तु सत्साहित्य का पठन, चिन्तन, मनन करना, ध्यान करना अर्थात् बहिर्मुख वृत्ति का त्याग कर अपने मन को आत्मचिन्तन में संलग्न कर देना, उसकी चंचलता को दूर करने के लिए एकाग्र बनाने का प्रयत्न करना, निरीह भाव से सेवा करना, विनयपूर्ण व्यवहार करना, अकृत्य न होने देना और कदाचित् हो जाय तो उसके लिए प्रायश्चित-पश्चात्ताप करना, अपनी भूल को गुरुजनों के समक्ष सरल एवं निष्कपट भाव से प्रकट कर देना, इत्यादि भी तपस्या के ही रूप हैं। इससे आप समझ सकेंगे कि तपस्या कोई 'हौआ' नहीं है, बल्कि उत्तम जीवन बनाने के लिए आवश्यक और अनिवार्य विधि है।

जिसके जीवन में संयम और तप को जितना अधिक महत्त्व मिलता है, उसका जीवन उतना ही महान् बनता है। संयम और तप सिर्फ साधु-सन्तों की चीजें हैं, इस धारणा को समाप्त किया जाना चाहिए। गृहस्थ हो अथवा गृहत्यागी, जो भी अपने जीवन को पवित्र और सुखमय बनाना चाहता है, उसे

इनको स्थान देना चाहिए। संयम एवं तप से विहीन जीवन किसी भी क्षेत्र में सराहनीय नहीं बन सकता। कुटुम्ब, समाज, देश आदि की दृष्टि से भी वही जीवन धन्य माना जा सकता है जिसमें संयम और तप के तत्त्व विद्यमान हों।

मोटर कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, अगर उसमें 'ब्रेक' नहीं है तो किस काम की? ब्रेक विहीन मोटर सवारियों के प्राणों को ले बैठेगी। संयम जीवन का ब्रेक है। जिस मानव जीवन में संयम का ब्रेक नहीं, वह आत्मा को डुबा देने के सिवाय और क्या कर सकता है?

मोटर के ब्रेक की तरह संयम जीवन की गति-विधि को नियंत्रित करता है और जब जीवन नियंत्रण में रहता है तो वह नूतन कर्मबन्ध से बच जाता है। तपस्या पूर्वसंचित कर्मों का विनाश करती है। इस प्रकार नूतन बंधनिरोध और पूर्वार्जित कर्मनिर्जरा होने से आत्मा का धार्मिक भार हल्का होने लगता है और शनैः शनैः समूल नष्ट हो जाता है। जब यह स्थिति उत्पन्न होती है तो आत्मा अपनी शुद्ध निर्विकार दशा को प्राप्त करके परमात्मपद प्राप्त कर लेती है, जिसे मुक्तदशा, सिद्धावस्था या शुद्धावस्था भी कह सकते हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में संयम एवं तप की साधना अत्यन्त उपयोगी है। जो चाहता है कि मेरा जीवन नियंत्रित हो, मर्यादित हो, उच्छृंखल न हो, उसे अपने जीवन को संयत बनाने का प्रयास करना चाहिए। तीर्थङ्कर भगवन्तों ने मानव मात्र की सुविधा के लिए, उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए साधना की दो श्रेणियाँ या दो स्तर नियत किये हैं—

(१) सरल साधना या गृहस्थधर्म और
(२) अनगार साधना या मुनिधर्म।

अनगार धर्म का साधक वही गृहत्यागी हो सकता है जिसने सांसारिक मोह-ममता का परित्याग कर दिया है, जो पूर्ण त्याग के कंटकाकीर्ण पथ पर

चलने का संकल्प कर चुका है, जो परीषहों और उपसर्गों के सामने सीना तान कर स्थिर खड़ा रह सकता है और जिसके अन्तःकरण में प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव जागृत हो चुका है। यह साधना कठोर साधना है। विरल सत्त्वशाली ही वास्तविक रूप से इस पथ पर चल पाते हैं। सभी कालों और युगों में ऐसे साधकों की संख्या कम रही है, परन्तु संख्या की दृष्टि से कम होने पर भी इन्होंने अपनी पूजनीयता, त्याग और तप की अमिट छाप मानवसमाज पर अंकित की है। इन अल्पसंख्यक साधकों ने स्वर्ग के देवों को भी प्रभावित किया है। साहित्य, संस्कृति और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में यही साधक प्रधान रहे हैं और मानवजाति के नैतिक एवं धार्मिक धरातल को इन्होंने सदा ऊँचा उठाए रखा है।

जो अनगार या साधु के धर्म को अपना सकने की स्थिति में नहीं होते, वे अगार धर्म या श्रावकधर्म का पालन कर सकते हैं। आनन्द ने अपने जीवन को निश्चल रूप से प्रभु महावीर के चरणों में समर्पित कर दिया। उसने निवेदन किया मैंने वीतरागों का मार्ग ग्रहण किया है, अब मैं सराग मार्ग का त्याग करता हूँ। मैं धर्मभाव से सराग देवों की उपासना नहीं करूँगा। मैं सच्चे संयमशील त्यागियों की वन्दना के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ। जो साधक अपने जीवन में साधना करते-करते, मतिवैपरीत्य से पथ से विचलित हो जाते हैं अथवा जो संयमहीन होकर भी अपने को संयमी प्रदर्शित और घोषित करते हैं, उन्हें मैं वन्दना नहीं करूँगा।

आनन्द ने संकल्प किया-मैं वीतरागवाणी पर अटलश्रद्धा रखूँगा और शास्त्रों के अर्थ को सही रूप में समझ कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करूँगा।

यदि शास्त्र का अर्थ अपने मन से खींचतान कर लगाया गया तो वह आत्मघातक होगा। उसके धर्म को समझने में बाधा उपस्थित होगी। शास्त्र का अध्ययन तटस्थ दृष्टि रखकर किया जाना चाहिए, अपना विशिष्ट दृष्टिकोण

रखकर नहीं। जब पहले से कोई दृष्टि निश्चित करके शास्त्र को उसके समर्थन के लिए पढ़ा जाता है तो उसका अर्थ भी उसी ढंग से किया जाता है। कुरीतियों, कुमार्गों और मिथ्याडम्बरों को एवं मान्यताभेदों को जो प्रश्रय मिला है, उसका एक कारण शास्त्रों का गलत और मनमाना अर्थ लगाना है। ऐसी स्थिति में शास्त्र शस्त्र का रूप ले लेता है। अर्थ करते समय प्रसंग आदि कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

कोई साहब भोजन करने बैठे। उन्होंने अपने सेवक से कहा-'सैन्धवम् आनय।' वह सेवक घोड़ा ले आया भोजन का समय था फिर भी वह 'सैन्धव' मँगाने पर घोड़ा लाया। खा-पीकर तैयार हो जाने के पश्चात् कहीं बाहर जाने की तैयारी करके पुनः उन्होंने कहा-'सैन्धवम् आनय।' उस समय सेवक नमक ले आया यद्यपि सैन्धव का अर्थ घोड़ा भी है और नमक भी; कोष के अनुसार दोनों अर्थ सही हैं। फिर भी सेवक ने प्रसंग के अनुकूल अर्थ न करके अपनी मूर्खता का परिचय दिया। उसे भोजन करते समय 'सैन्धव' का अर्थ 'नमक' और यात्रा के प्रसंग में 'घोड़ा' अर्थ समझना चाहिए। यही प्रसंगानुकूल सही अर्थ है। ऊट-पटांग अथवा अपने दुराग्रह के अनुकूल अर्थ लगाने से महर्षियों ने जो शास्त्र-रचना की है, उसका समीचीन अर्थ समझ में नहीं आ सकता।

आनन्द ने अपरिग्रही त्यागी सन्तों को चौदह प्रकार का निर्दोष दान देने का संकल्प किया, क्योंकि आरंभ और परिग्रह के त्यागी साधु दान के सर्वोत्तम पात्र हैं। उसने जिन वस्तुओं का दान देने का निश्चय किया, वे इस प्रकार हैं— (१) अशन (२) पान (३) खाद्य-पकवान आदि (४) स्वाद्य-मुखवास चूर्ण आदि (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) रजोहरण (९) पीठ-चौकी बाजोट (१०) पाट (११) औषध-सोंठ, लवंग, कालीमिर्च आदि (१२) भैषज्य-बनी-बनाई दवाई (१३) शय्या-मकान और (१४) संस्तारक-पराल आदि।

रजोहरण पांव पोंछने का वस्त्र है, जो धूल साफ करने के काम आता है जिससे सचित्त की विराधना न हो। शय्या मकान के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

इसका दूसरा अर्थ है-बिछाकर सोने का उपकरण पट्टा आदि। पैरों को समेट कर सोने लिए करीब अढ़ाई हाथ लम्बे बिछौने को 'संथारा-संस्तारक' कहते हैं। प्रमाद की वृद्धि न हो, ऐसा सोचकर साधक सिमट कर सोता है। इससे नींद भी जल्दी खुल जाती है। आवश्यकता से अधिक निद्रा होगी तो साधना में बाधा आएगी, विकृति उत्पन्न होगी और स्वाध्याय-ध्यान में विघ्न होगा। ब्रह्मचारी गद्दा बिछा कर न सोए, यह नियम है। ऐसा न करने से प्रमाद तथा विकार बढ़ेगा।

साधु-सन्तों को औषध-भेषज का दान देने का भी बड़ा माहात्म्य है। औषध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—'ओषं-पोषं धत्ते, इति औषधम्'। सोंठ, लवंग, पीपरामूल, हर्र आदि वस्तुएँ औषध कहलाती हैं। यूनानी चिकित्सा पद्धति में भी इसी प्रकार की वस्तुओं का उपयोग होता है।

प्राचीन काल में, भारत वर्ष में आहार-विहार के विषय में पर्याप्त संयम से काम लिया जाता था। इस कारण उस समय औषधालय भी कम थे। कदाचित् कोई गड़बड़ हो जाती थी तो बुद्धिमान् मनुष्य अपने आहार-विहार में यथोचित् परिवर्त्तन करके स्वास्थय प्राप्त कर लेते थे। चिकित्सकों का सहारा क्वचित् कदाचित् ही लिया जाता था। करोड़ों पशु-पक्षी वनों में वास करते हैं। उनके बीच कोई वैद्य-डाक्टर नहीं हैं। फिर भी वे मनुष्यों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहते हैं। इसका कारण यही है कि वे प्रकृति के नियमों की अवेहलना नहीं करते। मनुष्य अपनी बुद्धि के घमण्ड में आकर प्रकृति के कानूनों को भंग करता है और प्रकृति कुपित हो कर उसे दंडित करती है। मांस-मदिरा आदि का सेवन करना प्रकृति विरुद्ध है। मनुष्य के शरीर में वे आंते नहीं होती जो मांसादि को पचा सकें। मांसभक्षी पशुओं और मनुष्यों के नाखून दांत आदि की बनावट में अन्तर है। फिर भी जिह्वालोलुप मनुष्य मांस भक्षण करके प्रकृति के कानून को भंग करते हैं। फलस्वरूप उन्हें दंड का भागी होना पड़ता है। पशु के शरीर में जब विकार उत्पन्न होता है तो वह चारा खाना छोड़ देता है। यह रोग की प्राकृतिक चिकित्सा है। किन्तु मनुष्य से प्रायः यह भी नहीं

बन पड़ता। बीमार कदाचित् खाना न चाहे तो उसके अज्ञान पारिवारिक जन कुछ न कुछ खा लेने की प्रेरणा करते हैं और खिला कर छोड़ते हैं। इस प्रकार पशु अनशन के द्वारा ही अपने रोग का प्रतीकार कर लेते हैं।

गर्भावस्था में मादा पशु न समागम करने देती है और न नर समागम करने की इच्छा ही करता है। मनुष्य इतना भी विवेक और सन्तोष नहीं रखता।

मनुष्य का आज आहार संबंधी अंकुश बिलकुल हट गया है। वह घर में भी खाता है और घर से बाहर दुकानों और खोमचों पर जाकर भी दोने चाटता है। ये बाजारु चीजें प्रायः स्वास्थय का विनाश करने वाली, विकार विवर्द्धक और हिंसा जनित होने के कारण पापजनक भी होती हैं। दिनों दिन इनका प्रचार बढ़ता जा रहा है और उसी अनुपात में व्याधियाँ भी बढ़ती जा रही हैं। अगर मनुष्य प्रकृति के नियमों का प्रामाणिकता के साथ अनुसरण करे और अपने स्वास्थ्य की चिन्ता रक्खे तो उसे डाक्टरों की शरण में जाने की आवश्यकता ही न हो।

अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों ने आज मनुष्य को बुरी तरह घेर रक्खा है। केंसर जैसा असाध्य रोग दुर्व्यसनों की बदौलत ही उत्पन्न होता है और वह प्रायः प्राण लेकर ही रहता है। अमेरिका आदि में जो शोध हुई है, उससे स्पष्ट है कि धूम्रपान इस रोग का प्रधान कारण है। मगर यह जान कर भी लोग सिगरेट और बीड़ी पीना नहीं छोड़ते। उन्हें मर जाना मंजूर है मगर दुर्व्यसन से बचना मंजूर नहीं। यह मनुष्य के विवेक का दीवाला नहीं तो क्या है! क्या इसी बिरते पर वह समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करता है? प्राप्त विवेक-बुद्धि का इस प्रकार दुरुपयोग करना अपने विनाश को आमंत्रित करना नहीं तो क्या है?

लोंग, सोंठ आदि चीजें औषध कहलाती हैं। तुलसी के पत्ते भी औषध में सम्मिलित हैं। तुलसी का पौधा घर में लगाने का प्रधान उद्देश्य स्वास्थ्य

लाभ ही है। पुराने जमाने में इन चीजों का ही दवा के रूप में प्रायः इस्तेमाल होता था। आज भी देहात में इन्हीं का उपयोग ज्यादा होता है। इन वस्तुओं को चूर्ण, गोली, रस आदि के रूप में तैयार कर लेना भेषज है।

आनन्द ने साधु-साध्वी वर्ग को दान देने का जो संकल्प किया उसका तात्पर्य यह नहीं कि उसने अन्य समस्त लोगों की ओर से पीठ फेर ली। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह दुखी, दीन, पीडित, अनुकम्पापात्र जनों को दान ही नहीं देगा। सुख की स्थिति में पात्र-अपात्र का विचार किया जाता है, दुःख की स्थिति में पड़े व्यक्ति में तो पात्रता स्वतः आ गई। अभिप्राय यह है कि कर्म निर्जरा की दृष्टि से दिये जाने वाले दान में सुपात्र-कुपात्र का विचार होता है किन्तु अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले दान में यह विचार नहीं किया जाता। कसाई या चोर जैसा व्यक्ति भी यदि मारणान्तिक कष्ट में हो तो उसको कष्ट मुक्त करना, उसकी सहायता करना और दान देना भी पुण्यकृत्य है, क्योंकि वह अनुकम्पा का पात्र है। दाता यदि अनुकम्पा की पुण्यभावना से प्रेरित होकर दान देता है तो उसे अपनी भावना के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है। इस निमित्त से भी उसकी ममता में कमी होती है।

गृहस्थ आनन्द भगवान् महावीर स्वामी की देशना को श्रवण करके और व्रतों को अंगीकार करके घर लौटता है। उसने महा प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच कर उनसे कुछ ग्रहण किया। उसने अपने हृदय और मन का पात्र भर लिया। आप्त पुरुष की वाणी श्रवण कर जैसे आनन्द ने उसे अपने जीवन व्यवहार में उसे उतारने की प्रतिज्ञा की, उसी प्रकार प्रत्येक श्रावक को व्यावहारिक रूप देना चाहिए। ऐसा करने से ही इह-परलोक में कल्याण होगा।

जीवन में आमोद-प्रमोद के भी दिन होते हैं। जीवन का महत्त्व भी हमारे सामने है। यथोचित सीख लेकर हमें उस महत्त्व को उपलब्ध करना है। यों तो मेला बहुत करते हैं किन्तु मुक्ति का मेला मनुष्य कर ले, आध्यात्मिक जीवन बना ले तो उसे स्थायी आनन्द प्राप्त हो सकता है। कवि ने कहा है–

मुक्ति का मेला कर लो भाव से, अवसर मत चूको।
दया दान का गोठ बनाओ, भांग भगति की पीओ ॥

संसार में दो किस्म के मेले होते हैं- १) कर्मबंद करने वाले और (२) बंध काटने वाले अथवा (१) मन को मलीन करने वाले और (२) मन को निर्मल करने वाले।

प्रथम प्रकार के मेले काम, कुतूहल एवं विविध प्रकार के विकारों को जागृत करते हैं। ऐसे मेले बाल-जीवों को ही रूचिकर होते हैं। संसार में ऐसे बहुत मेले देखे हैं और उन्हें देख कर मनुष्यों ने अपने मन मैले किये हैं। उनके फलस्वरूप संसार में भटकना पड़ा है। अब यदि जन्म-मरण के बन्धनों से छुटकारा पाना है तो मुक्ति का मेला कर लो।

कबीरदासजी ने भाव की भंग, मरम की काली मिर्च डाल कर पी थी और अपने हृदय में प्रेम की लालिमा उत्पन्न की थी।

आनन्द आदि साधकों ने बन्धन काटने वाले मेले के स्वरूप को समझा। उन्होंने नियम का नशा लिया। इससे उनका जीवन आनन्दमय बन गया। जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त करने के लिए आनन्द के समान ही साधना को अपनाना होगा। इसी में स्थायी कल्याण है।

स्वाध्याय

आज का दिन चातुर्मास्य-पर्व के नाम से जाना जाता है। चार मास पर्यन्त, इस वर्षावास में, ज्ञान-गंगा की जो धारा प्रवाहित हो रही थी, वह अपनी दिशा बदलने वाली है। चार मास से ज्ञान और सत्संग का जो यज्ञ चल रहा था, आज उसकी पूर्णाहुति है। श्रमणवर्ग अपना स्थिर निवास त्यागकर पुनः विहारचर्या अपनाएंगे।

अन्त के इन तीन दिनों में 'सामायिकसम्मेलन' के आयोजन ने इस पर्व को सोने में सुगंध भर दिया है। आज स्वाध्याय की ज्योति को जगा देने का दिवस है।

यह आत्मशोधक पर्व है, जिसमें इस जीवन की शुद्धि सफलता और श्रेय का विचार करना है और भविष्य का निर्माण करना है।

भगवान् महावीर का अनेकान्त-मार्ग, जिसने कोटि-कोटि बन्धनबद्ध प्राणियों को मुक्ति और स्वाधीनता का मार्ग प्रदर्शित किया है, ज्ञान और क्रिया के समन्वय का समर्थन करके चलता है। उसने हमें बतलाया है कि एकांगी कर्म से अथवा एकांगी ज्ञान से निस्तार नहीं होगा। जब तक ज्ञान और क्रिया एक दूसरे के पूरक बनकर संयुक्त बल न प्राप्त कर लेंगे, तब तक साधक की साधना में पूर्णता नहीं आएगी, वह लँगड़ी रहेगी और उससे सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकेगी। क्रियाहीन ज्ञान मस्तिष्क का भार है और ज्ञानहीन क्रिया अंधी है। दोनों एक दूसरे के सहयोग के बिना निष्फल हैं। उनसे आत्मा का कल्याण नहीं होता। कहा भी है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया ।

अर्थात् क्रिया से रहित ज्ञान और ज्ञान से रहित क्रिया वृथा है। वह विशाल से विशाल और गंभीर से गंभीर ज्ञान आखिर किस काम का है जो कभी व्यवहार में नहीं आता ? उससे परमार्थ की तो बात दूर, व्यवहार में भी लाभ नहीं हो सकता। जो मनुष्य अपनी मंजिल तक जाने के मार्ग को जानता है, दूसरों को बतला भी देता है, मगर स्वयं एक कदम भी नहीं उठाता, उस ओर चलने का कष्ट नहीं उठाना चाहता वह क्या जीवन पर्यन्त भी अपनी मंजिल पर पहुँच सकेगा ? कदापि नहीं। ज्ञान पथ को आलोकित कर सकता है मगर मंजिल तक पहुँचा नहीं सकता।

एक दीर्घकाल का रोगी है। अनेकों चिकित्सकों के पास पहुँच कर उसने रोग की औषध पूछी है। उन औषधों को वह भलीभाँति समझ गया है, मगर जब तक औषध का सेवन नहीं करेगा, तब तक क्या ज्ञान मात्र से वह स्वास्थ्य लाभ कर लेगा ?

इससे भलीभाँति सिद्ध है कि कोरा ज्ञान, क्रिया के अभाव में कार्यसाधक नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानहीन क्रिया भी फलप्रद नहीं होती। एक मनुष्य अपनी मंजिल पर पहुँचने के लिए चल रहा है, चल रहा है और चलता ही जा रहा है। मगर उसे पता नहीं कि किस मार्ग से चलने पर मंजिल तक पहुँचा जाएगा। ऐसी दशा में उसका चलना किस काम आएगा ? अज्ञान के कारण, संभव है उसका चलना उसकी मंजिल को और अधिक दूर कर दे। मंजिल तक पहुँचने के लिए, मंजिल से विरुद्ध दिशा में चलने वाला कब मंजिल तक पहुँच सकेगा ? रोगी रोग के शमन के लिए औषध को जानने का प्रयत्न न करे और अनजाने कुछ भी अंटसंट खाता रहे तो क्या वह रोग का निवारण करने में समर्थ हो सकेगा ?

जो मनुष्य यह नहीं देखता कि जिसे वह खा रहा है वह गुणकारी है या हानिकारक, उसे गंभीर परिणाम भुगतना पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में कई

लोगों को जिंदगी से हाथ धोना पड़ा है। पदार्थ को न पहचानने तथा गुणदोष को न देखने से भयंकर हानियां होती हैं। नायलोन का कपड़ा पहनकर उसकी तासीर को न जानने के कारण सैकड़ों लोग जल मरे हैं। आए दिन महिलाओं के जल मरने के समाचार पढ़ने में आते रहते हैं। वस्तु अमुक गुण-धर्मवाली है, यह खयाल रहे तो मनुष्य हानि से बच सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में कहा है—

स्वयं परेण वा ज्ञातं, फलमद्याद्विशारदः।
निषिद्धे विषफले वा, मा भूदस्य प्रवर्त्तनम्।

अर्थात्-बुद्धिमान् मनुष्य को उसी फल का भक्षण करना चाहिए जिसे वह स्वयं जानता हो या दूसरा कोई जानता हो, जिससे निषिद्ध या विषैला फल खाने में न आ जाए। निषिद्ध फल खाने से व्रतभंग होता है और विषाक्त फल खाने से प्राणहानि हो सकती है।

मान लीजिए एक तश्तरी में शिलाजीत और अफीम का टुकड़ा पड़ा है। यदि सिलाजीत के बदले अफीम खाली जाये तो सब खेल खत्म हो जाएगा। परन्तु जो शिलाजीत को पहचान कर खाएगा, उसे कोई खतरा नहीं होगा। इसी कारण अज्ञान वस्तु खाने का निषेध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य है, यह जानने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। इसके बिना की जाने वाली क्रिया सफल नहीं होती।

ज्ञान नेत्र है तो क्रिया पैर है। नेत्र मार्ग दिखलाएगा, पैर रास्ता तय करेगा।

पाप-पुन्य, बन्ध-मोक्ष, जीव-अजीव आदि का ज्ञान मानो नेत्र हैं। इस ज्ञान को क्रिया रूप में परिणत किया जाय तो यह वरदान सिद्ध होगा। अतएव सच्चा आराधक वही है जो ज्ञान और क्रिया का समन्वय साध कर अपने जीवन का उन्नयन करता है।

अनेक जानकार व्यक्ति साधना के पथ पर नहीं चलते, परन्तु वे साधना के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। सच्चे ज्ञान के होने पर यदि बहिरंग क्रिया न भी हो तो अंतरंग क्रिया जागृत हो ही जाती है। ऐसा न हो तो सच्चे ज्ञान का अभाव ही समझना चाहिए।

इस प्रकार जीवन को ऊँचा उठाने के लिए ज्ञान और क्रिया, दोनों के संयुक्त बल की आवश्यकता है। सामायिक साधना में भी यह दोनों अपेक्षित हैं। इन दोनों के आधार पर सामायिक के भी दो प्रकार हो जाते हैं— (१) श्रुतसामायिक और चारित्र सामायिक।

मुक्तिमार्ग में चलना चारित्रसामायिक है। इसके पूर्व श्रुतसामायिक का स्थान है जिससे जीवन की प्रगति या आत्मिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक सही प्रकाश मिलता है। इसी प्रकाश में साधक अग्रसर होना है और यदि यह प्रकाश उपलब्ध न हो तो वह लड़खड़ा जाता है।

व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन में विकारों का जो प्रवेश होता है, उसका कारण सही ज्ञान न होना है। ज्ञान के आलोक के अभाव में मनुष्य विकारों का मार्ग ग्रहण कर लेता है। इस कुमार्ग पर चलते-चलते वह ऐसा अभ्यस्त हो जाता है और एक ऐसे ढांचे में ढल जाता है कि उसे त्यागने में असमर्थ बन जाता है। ऐसी स्थिति में उसका सही राह पर आना तब ही संभव है जब किसी प्रकार उसे ज्ञान का प्रकाश मिल सके। ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि मनुष्य नियमित रूप से स्वाध्याय करे।

स्वाध्याय जीवन के संस्कार के लिए अनिवार्य है। स्वाध्याय ही प्राचीन-कालीन महापुरुषों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित करता है और उनके अन्तस्तल को समझने में सहायक होता है। भगवान् महावीर, गौतम और सुधर्मा जैसे परमपुरुषों के वचनों और विचारों को जानने का एक मात्र उपाय स्वाध्याय ही है। आज स्वाध्याय के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है और उसके लिए साधकों की मंडली चाहिए। ज्ञानवन के अभाव में त्यागियों के ज्ञानप्रकाश

को ग्रहण करने वाले पर्याप्त पात्र नहीं मिलते। इसका कारण स्वाध्यायविषयक रुचि का मन्द पड़ जाना है। श्रुतबल की मन्दता वाले श्रोता स्वाध्याय के महत्व को नहीं समझ पाते।

सम्यक्त्व में श्रद्धा का बल निहित होता है। भरत को यह बल प्राप्त था। चारित्रसामायिक का बल उसे प्राप्त नहीं था तथापि श्रुतसामायिक का बल होने से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो सका। यही नहीं, भरत की आठ पीढ़ियां महल में निवास करती हुई भी मुक्ति पा गईं। इसका कारण भी सम्यक्त्व एवं श्रुतसामायिक का बल था।

इसका आशय यह न समझ लें कि भरत और उनकी सन्तान ने चारित्र के बिना ही मोक्ष प्राप्त कर लिया। नहीं, चारित्र के अभाव में मोक्ष कदापि संभव नहीं है। इस कथन का आशय यह है कि सम्यक्त्व और श्रुतसामायिक का प्रबल बल होने पर बाह्य क्रिया काण्ड रूप व्यवहारचारित्र के बिना भी स्वात्मरमण रूप निश्चय चारित्र प्राप्त हो सकता है। सामान्य मनुष्य काम-क्रोध आदि की विविध तरंगों में बहता-उछलता रहता है। भरत भारतवर्ष के छहों खंडों के अधिपति होकर भी इन तरंगों के प्रभाव से प्रभावित नहीं हुए। घर का आनुवंशिक संस्कार भी और मनुष्य के अतीतकालिक संस्कार भी ऐसी जगह वह काम कर जाते हैं जो कालेज की शिक्षा या शास्त्राध्ययन से भी प्राप्त नहीं हो सकते। पी-एच० डी० की उच्च उपाधि प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति का दिमाग भले ही गुमराह हो जाय परन्तु सुसंस्कृत व्यक्ति गुमराह नहीं हो सकता। भरत अपने अन्तिम जीवन को निर्वाण के योग्य बना सके, इसका प्रधान कारण श्रुत और सम्यक्त्व है।

सामायिक के दो रूप है—साधना और सिद्धि। श्रुत सामायिक से साधना संकल्प का आरंभ और उदय होता है। वह विकास पाकर ज्ञान और चारित्र के द्वारा आत्मा में स्थिरता उत्पन्न करता है। यह आत्मस्थिरता ही सामायिक

की पूर्णता है। आत्मप्रदेशों का स्पन्दन या कम्पन जब समाप्त हो जाय तभी सामायिक की पूर्णता समझनी चाहिए। इसे आगम की भाषा में अयोगी दशा की प्राप्ति कहते हैं।

आज केवलज्ञानी इस क्षेत्र में विद्यमान नहीं है, श्रुतकेवली भी नहीं है। किन्तु महापुरुषों की श्रुताराधना के फलस्वरूप उनकी वाणी का कुछ अंश हमें सुलभ है। इसीके द्वारा हम उनकी परोक्ष उपासना का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है। स्वाध्याय चित्त की स्थिरता और पवित्रता के लिए भी सर्वोत्तम उपाय हैं।

जीवन को ऊँचा उठाने का अमोघ उपाय श्रुताराधन है। यदि व्रत विकृत होता हो, उसमें कमजोरी आ रही हो तो स्वाध्याय की शरण लेना चाहिए। स्वाध्याय से बल की वृद्धि होगी, आनन्द की अनुभूति और नूतन ज्योति की प्राप्ति होगी।

आनन्द ने साधना द्वारा पन्द्रह वर्ष के पश्चात् साधुजीवन की भूमिका प्राप्त करली। वास्तव में साधना एक अनमोल मणि है जिससे मानव की आत्मिक दरिद्रता दूर की जा सकती है। साधना के क्रम और सही पथ को विस्मृत न किया जाय और उसे रूढ़ि मात्र न बना दिया जाय:, साधना सजीव हो, प्राणवान् हो और विवेक की पृष्ठ भूमि में की जाय तभी उससे वास्तविक लाभ उठाया जा सकता है। अन्यथा मणिधर होते हुए भी अंधकार में भटकने के समान होगा। जब साधना के द्वारा आत्मा सुसंस्कृत बनता है तो उसमें ज्ञान की ज्योति जागृत हो जाती है:, जीवन ऊँचा उठता है और ऐसा व्यक्ति अपने प्रभाव एवं आदर्श से समाज को भी ऊँचा उठा देता है।

जीव मात्र में राग और द्वेष के जो गहरे संस्कार पड़े हैं उनके प्रभाव से किसी वस्तु को प्रेम की दृष्टि से और किसी को द्वेष की दृष्टि से देखा जाता है। जिस वस्तु को एक मनुष्य राग की दृष्टि से देखता है, उसी को दूसरा द्वेष

की दृष्टि से देखता है। भगवान् महावीर जैसे वीतराग, निर्मल, निष्कलंक, सर्वहितंकर और परमात्मा को भी विपरीत दृष्टि से देखने वाले मिल जाते हैं तो अन्य के विषय में क्या कहा जाय ?

विरोधमय दृष्टि से दूसरों की बुराइयाँ तो दिखेंगी पर अच्छाइयाँ दृष्टि-गोचर न होंगी। अनादि काल से मनुष्य स्वार्थ के चक्र में फंसा है। स्वार्थ में थोड़ी टक्कर लगने से विरोधी भाव जागृत हो जाते हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने जीवन में तटस्थता के दृष्टिकोण को विकसित करें। ऐसा करने से किसी भी वस्तु के गुण-दोषों का सही मूल्यांकन किया जा सकता है।

लौंकाशाह ऐसे व्यक्ति आगे आए जिन्होंने गृहस्थों के लिए भी श्रुत के अध्ययन का मार्ग खोला। इससे पूर्व बाबा लोगों ने आगम-श्रुत पर एकाधिकार कर लिया था। मगर लौंकाशाह ने समाज को अँधेरे से बाहर निकाला। वस्तुस्वरूप को उन्होंने समझा था, इस कारण मार्ग का स्वरूप सामने आया। श्रुतज्ञान का अभाव कुछ हद तक दूर हुआ। मगर आज की नयी पीढ़ी श्रुतज्ञान के प्रति उदासीन होती जा रही है। धार्मिक विज्ञान की दृष्टि से कितने प्रकार के जीव होते हैं, तरुण पीढ़ी वाले यह नहीं बता सकेंगे। जहाँ इतनी बात का भी पता न हो वहाँ धर्म एवं शास्त्रों के हार्द को समझे जाने की क्या आशा की जा सकती है ? लौंकाशाह ने सोचा कि श्रुतज्ञान तो प्रत्येक मानवके लिए आवश्यक है, और लौंकाशाह के कहलाने वाले अनुयायी आज श्रुतज्ञान के प्रति उपेक्षाशील हो रहे हैं, यह खेद और विस्मय की ही बात है।

धार्मिक संघर्ष के समय साहित्य के विनाश का क्रम भी चला था। जैसे सैनिक दल विरोधी पक्ष के खाद्य और शस्त्रभण्डार आदि का विनाश करते हैं, वैसा ही विरोधी धर्मावलम्बियों ने साहित्य का विनाश किया। फिर भी आज हमारे समक्ष जो श्रुतराशि है, वह सत्य मार्ग को समझने समझाने के लिए पर्याप्त है।

लौंकाशाह ने उनके अध्ययन का गृहस्थों के लिए भी समर्थन किया। उन्होंने समाज में फैले विकारों को भी दूर किया जो सम्यग्दर्शन के लिहाज से बुरे थे। सामायिक-पौषध को उड़ाने की बात उन्होंने नहीं कहीं, सिर्फ विकारों पर ही चोट लगाई।

हम बँधे हैं जिन वचनों से। जिन वचन के नाम पर की गई या की जाने वाली स्खलनाओं से हम नहीं बँधे हैं। हम महावीर के वचनों से बँधे हैं जिनके लिए आत्मोत्सर्ग करना अपना सौभाग्य समझेंगे।

सं० १५३१ में ५४ जनों के साथ लौंकाशाह दीक्षित हुए। उन्होंने कोई नयी चीज नहीं रक्खी, सिर्फ भूली वस्तु की याद दिलाई। भूगर्भशास्त्रवेता जलधारा को जान कर गांव के पास उस स्त्रोत को ला सकता है, ऐसी ही बात लौंकाशाह के प्रति कह सकते हैं। मगर यह भी कोई कम महत्त्व की बात नहीं हैं। सोयी जनता को उन्होंने जगाया और कहा कि महात्मा जो कहें सो मानलें, यह ठीक नहीं हैं। हम स्वयं श्रुत की आराधना करें। कवि ने कहा है—

कर लो श्रुत वाणी का पाठ,
भविक जन, मन-मल हरने को।
बिन स्वाध्याय ज्ञान नहीं होगा,
ज्योति जगाने को।
राग-रोष की गांठ गले नहीं,
बोधि मिलाने को।
जीवादिक स्वाध्याय से जानो,
करणी करने को।
बन्ध-मोक्ष का ज्ञान करो,
भवभ्रमण मिटाने को॥

लौंकाशाह की समाज को सबसे बड़ी देन है—भूली हुई स्वाध्यायवृत्ति को पुनः जागृत करना। स्वाध्याय के अभाव में जीवन में विकार आजाता

स्वाभाविक है। रेशमी या अन्य किसी बढ़िया से बढ़िया वस्त्र को कितना ही संभाल कर रक्खा जाय, फिर भी कुछ दिनों में उसका रंग बदल जाएगा या उसमें दाग लग जाएँगे।

विषय-कषाय का मूल स्रोत कायम है, अतएव मानव के गड़बड़ाने की संभावना बनी रहती है। किन्तु बातों से या सम्भाषण से काम नहीं चलेगा। अच्छे से अच्छे प्रस्ताव पास कर लेने से भी क्या होना-जाना है? शासन ऊँचा उठेगा क्रियात्मक रूप देने से। पांच वीर यदि दृढ़ संकल्प के साथ कार्य में जुट जाएँ तो पांच सौ आदमियों से भी अधिक काम कर सकते हैं।

लौंकागच्छ के विचारों का देश भर में फैलाव हुआ। सबकी हृत्तंत्री झंकृत होगई। किन्तु प्रत्येक आन्दोलन कुछ समय के पश्चात् मन्द पड़ जाता है, चिन्तनधारा भी धीमी हो जाती है। बीच में यदि कोई प्रभावशाली व्यक्ति उदित हो जाय तो समाज पुनः जागृत हो जाता है।

महिमा-पूजा के प्रलोभन में या प्रवाह में बहने से साधना विकृत हो जाती है। जो इस चक्कर में पड़ेगा वह पतित हुए बिना नहीं रहता। वह फिसल कर अधोगामी हो जाएगा। राजसन्मान की कामना जब अन्तर में उत्पन्न हो जाती है तो साधना का सारा चक्र बदल जाता है।

लौंकाशाह के पश्चात् क्रियोद्धार के लिए अनेक महात्मा सामने आए और उन्हीं का प्रताप है कि हम वीतराग की वाणी का लाभ ले रहे हैं। यह उन्हीं स्वाध्यायशील महर्षियों के कठिन परिश्रम का फल है। यह समझना बड़ी भूल होगी कि श्रुतरक्षा का भार साधुसमाज पर ही है, गृहस्थों पर नहीं। सिर्फ श्रमण वर्ग की अपेक्षा संघ, एवं समाज पर श्रुत रक्षण का भार अधिक है। मुनियों की छोटी-सी टुकड़ी इधर-उधर बिखरी है। उनका सर्वत्र पहुँचना संभव नहीं है। गृहस्थ वर्ग को वीतराग की वाणी का प्रसार करने की अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। उसके प्रसार का अर्थ यह है कि जिज्ञासुजनों को श्रुत

की प्रतियां सुलभ हों, युगानुकूल भाषाशैली में उनका अनुवाद हो, उनके महत्त्व को प्रदर्शित करनेवाली सामग्री प्रस्तुत हो, समालोचनात्मक एवं तुलनात्मक पद्धति से उनका अध्ययन, मनन करके उन पर सुन्दर प्रकाश डाला जाय, इत्यादि। छोटे से छोटे ग्रामों में भी आगम उपलब्ध किये जाने चाहिए। वहां अगर स्वाध्याय चलता रहे तो साधु-सन्तों के न पहुँचने पर भी धार्मिक वातावरण बना रह सकता है।

आज देश में युद्ध का वातावरण होने से संकट का काल है, उसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी यह संकट काल है। आज का मानव भौतिक वस्तुओं और आवश्यकताओं में इतना लिप्त हो गया है कि वह धर्म की सुध भूल रहा है। ऐसे समय में धर्मप्रिय लोगों को विशेष रूप से सजग होना चाहिए। साक्षरता के इस युग में अन्यान्य विषयों को पढ़ने की रूचि यदि धर्मशास्त्र पठन रूचि में बदल जाय तो कुछ कमियां दूर हो जांय। आज तो स्थिति ऐसी है कि अध्यात्म साधना के लिए समय निकालना लोगों को कठिन प्रतीत हो रहा है यदि लगन वाले लोग इस ओर ध्यान दें तो बड़ा लाभ होगा। धर्म के प्रति रूचि जगाने के लिए ऐसे व्यक्तियों की सेवा अपेक्षित है। आध्यात्मिक-संगठन के निर्माण के लिए तरूणों को तैयार किया जाना चाहिए।

अजमेर में एक मियाँ साहब प्रवचन सुनने आया करते थे। उन्होंने बतलाया कि नवजवानों में इबादत करने की रूचि घट रही है। इबादत करने नहीं आने वाले नवयुवकों की तालिका बनानी पड़ रही है। इससे कुछ लाभ हुआ है। इबादत करने वालों की संख्या में कुछ वृद्धि हुई है। किन्तु आप लोग ऐसा प्रयास कहाँ करते हैं? महाजनों को तो जन्म से ही अर्थ की घूंटी पिलाई जाती है। पच चहत्तर वर्ष के वृद्ध भी अर्थ संचय में संलग्न रहते हैं। जिन लोगों ने अर्थ को ही जीवन का सर्वस्व या परमाराध्य मान लिया है और जिनका यह संस्कार पक्का हो गया है, उनके विषय में क्या कहा जाय? मगर नयी पीढ़ी को अर्थ की घूंटी से कुछ हटा कर धर्म की घूंटी दी जाय तो उनका और शासन का भला होगा।

गृहस्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की साधना कर सकता है। वृद्धावस्था में ईश्वर भजन में अधिक समय व्यतीत हो, इस परम्परा को पुनः जीवित करने की आवश्यकता है। नयी पीढ़ी के जीवन का मोड़ बदलना आवश्यक है। श्रावक वर्ग यदि श्रुतसेवा के मार्ग को अपना ले तो अपने धर्म का पालन करता हुआ श्रमणों को भी प्रेरणा दे सकता है।

स्वाध्याय की ज्योति घर-घर में फैले, लोगों का अज्ञान दूर हो, वे प्रकाश में आएँ और आत्मा के श्रेयस् में लगें, यही सैलाना-वासियों को मेरा सन्देश है।

विदाई की वेला में

भगवान् महावीर ने जीवन को उच्च बनाने और आत्मा को निर्मल बनाने के लिए रत्नत्रयी का संदेश दिया है, जिसमें (१) सम्यग्ज्ञान (२) सम्यग्दर्शन और (३) सम्यक् चारित्र का समावेश होता है। साधु साध्वीवर्ग इन तीन रत्नों की उपासना को ही अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य मान कर प्रवृति करता है। श्रावक-श्राविकाओं को भी यथा शक्ति इनकी आराधना करनी होती है। इनकी यथा संभव आराधना से ही श्रावक-श्राविका का पद प्राप्त होता है।

अपनी श्रेयः साधना के लिए ही साधु-साध्वीवर्ग निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं—एक स्थान पर स्थिर रह कर निवास नहीं करते। यदि साधु-साध्वी एक स्थान में रहें तो उनका जीवन गतिशील नहीं रह जाएगा। स त एक विशिष्ट लक्ष्य को लेकर चलते हैं। उनका लक्ष्य विराग से ही प्राप्त किया जा सकता है। न किसी पर राग, न किसी पर द्वेष हो। समभाव या तटस्थ वृत्ति का जीवन में जितना अधिक विकास होगा, उतनी ही शान्ति और निराकुलता की प्राप्ति हो सकेगी। मनुष्य दुःख, शोक, सन्ताप आदि से ग्रस्त रहता है, इसका मूल कारण उसकी राग-द्वेषमय वृत्ति है। इससे पिण्ड छुड़ाना सुख शान्ति और आत्मकल्याण के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

एक स्थान में स्थिर रहने से स्नेह सम्बन्ध आसक्ति के रूप में बदल जाय, इस संभावना को ध्यान में रखते हुए भगवान् ने सन्त-सतियों के लिए विचरण करने का विधान किया है। प्रभु ने कहा-हे साधको! भ्रमण करने से शारीरिक श्रम होगा, काययोग का हलन-चलन होगा और धर्म की वृद्धि भी होगी। यदि

तुम विचरण शील रहोगे तो तुम्हारी कोई हानि नहीं होगी और दूसरों को लाभ होगा। कहा है—

वहता पानी निर्मला, पड़ा गँदीला होय।
साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय।

साधु रमता-रमता कहीं भी चला जाता है। एक ग्राम या नगर में अधिक से अधिक कितने दिनों तक उसे ठहरना चाहिए, इसकी मर्यादा बाँध दी गई है। साधुओं के समान साध्वियों के लिए उग्र विहार का रूप नहीं है। उनके लिए एक जगह रहने का काल द्विगुणित माना गया है। कभी लौंद का महीना आ गया या जीव-जन्तुओं का संचरण वन्द न हुआ या कोई अन्य विशेष कारण उपस्थित हो गया तो छह मास तक स्थिर निवासकाल वढ़ाया जा सकता है। किन्तु कारण के विना उसे नहीं बढ़ाया जा सकता। साधुओं की इस विहारचर्या का दूसरा उद्देश्य भगवान् वीतराग की ज्ञानगंगा को दूर-दूर और सर्वत्र प्रवाहित करना है। आधियों, व्याधियों और उपाधियों से पीड़ित और अनेकविध सांसारिक सन्तापों से सन्तप्त प्राणियों को शान्ति प्रदान करना है।

चार मास के वर्षा काल का साधना के चार मार्गों के साथ वड़ा ही सुन्दर मेल बैठता है। इस काल में ज्ञान के आदान—प्रदान का कार्य चलता रहता है।

हम आषाढ़ शुक्ला नवमी को सैलाना में आए और कात्तिकी पूर्णिमा तक रहे। यहाँ के नागरिकों की श्रद्धा, भक्ति, सुजनता तथा शील-व्यवहार का हमारे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा है। चातुर्मास के समय कुछ साधु-साध्वियों को शारीरिक वेदना का अनुभव करना पड़ा, किन्तु अब वे स्वस्थ हो गए हैं। हमने अपनी चातुर्मासिक साधना का समय पूर्ण कर लिया है। लोगों की सरलता, सुजनता एवं श्रद्धा से हमें वड़ा प्रमोद मिला है। सैलाना-वासियों का धार्मिक योगदान वड़ा उत्तम रहा। यहाँ संघनायक न होते हुए भी आदर-सम्मान की प्रवृत्ति, साधुओं के प्रति श्रद्धा भक्ति ऐसी थी जैसे सब एक शासन सूत्र में

बँधे हों । अब नियमित रूप से संघ का निर्वाचन हो गया है और श्री तखतमलजी अध्यक्ष, श्री रांकाजी उपाध्यक्ष एवं लोढाजी मंत्री चुने गए हैं। ये निर्वाचित पदाधिकारी भविष्य में अधिक उत्साह और शक्ति के साथ कार्य करेंगे, ऐसी आशा है।

यहाँ के बालकों तथा नवयुवकों ने बहुत उत्साह दिखलाया। इन भाइयों से मैं अपेक्षा रखता हूँ कि वे शारीरिक श्रम के कार्यों में रुचि लेते रहेंगे तथा ज्ञान का बल संचित करके अपने अन्तरंग-बहिरंग को क्षमतायुक्त बनाएँगे। इन्हें संसार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना है और शासन के उत्थान का भार भी वहन करना है। जीवन भव्य, दिव्य एवं आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च बनाने की दिशा में प्रयास करना सर्वोपरि कर्त्तव्य है, इस तथ्य को कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए। जन साधारण में नैतिक और आध्यात्मिक जागरण आये बिना किसी भी देश की उन्नति लगड़ी है। वह टिकाऊ नहीं होगी। अतएव राष्ट्रीय उन्नति के दृष्टिकोण से भी धर्म के प्रचार की अनिवार्य आवश्यकता है।

सैलाना में २०-३० वर्ष पूर्व से ज्ञानोपासना की रुचि रही है। मैं चाहता हूँ कि मेरे जाते-जाते आप लोग प्रतिज्ञाबद्ध होकर आश्वासन देंगे कि आप निरन्तर धर्म की सेवा करेंगे और जीवन को उच्च बनाएँगे। आप ऐसा करेंगे तो मुझे अतीव सन्तोष होगा।

जो कुछ खाया जाता है उसे पचाने से ही शरीर पुष्ट होता है। प्रवचनों द्वारा आपने कुछ ज्ञानसंग्रह किया है। उसका उपयोग करने का अब समय है। ऐसा करने से आपका जीवन सुखमय बनेगा।

भूमि में बीज पड़ने से और अनुकूल हवा पानी आदि का संयोग मिलने से अंकुर-फूट निकलते हैं। भूमि में बीज जब पड़ता है तो भूमि उसे ढँक लेती है। आपके हृदय रूपी खेत में धर्म के बीज डाले गए हैं, सिंचाई भी हो गई है। अब उन्हें सुरक्षित रखना और फल पका कर खाना आपके हाथ में छोड़ जाते

हैं। अगर आप उन फलों का ठीक तरह से उपभोग करेंगे तो अपना जीवन सफल बना लेंगे।

एक छोटा सा व्यक्ति भी यदि बस्ती के कार्यों में रस ले तो दूसरे उसका अनुकरण करते हैं। सत्कर्म भी अनुकरणीय हैं। यहाँ साधुओं की वाणी को सुनने कृषक बन्धु तथा अन्य काम-काजी लोग भी आए। यदि सत्संग का क्रम निरन्तर चलता रहा तो ज्ञान सदा जागृत रहेगा।

आज कोई विशेष नवीन बात नहीं कहनी है, पिछले दिनों कही गई बातों को ही सामान्य रूप से स्मरण कराना है और उनकी ओर सदा ध्यान रखने की प्रेरणा करनी है।

आनन्द का श्रावकमार्ग आपके लिए ज्वलंत उदाहरण बने। ऊँचे कुल में जन्म लेने मात्र से कोइ भक्त या ऊँचा नहीं होता, अच्छी करनी करने से भक्त बनेगा और ऊँचा कहा जाएगा। आरंभ-परिग्रह का आकर्षण अनर्थों का मूल है। इसे नियंत्रित करने का सदैव ध्यान रखना चाहिए। सदैव जीवन को संयममय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्रीय संकटकाल में यदि मानव संयम नहीं रक्खेगा तो देश की महती हानि होगी। प्रदर्शन करने और महलों में सोये पड़े रहने के दिन लद गए। अब सादगी, स्वावलम्बन, श्रमशीलता, वैयक्तिक स्वाथ के त्याग, तथा धर्मसाधना के प्रति आदर का युग है। धर्म संजीवनी बूटी के समान सारे ससांर के त्रास को नष्ट करने वाला है। धर्म से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का भी कल्याण होगा।

जिसके जीवन में सत्य, सरलता, श्रमशीलता और धर्मनिष्ठा आजाती है, वह समाज में स्वतः आदरणीय बन जाता है। आनन्द का संयममय जीवन दूसरों के लिए अनुकरणीय बन गया। उसने अपने जीवन के साथ अपनी पत्नी के जीवन को भी संयम के मार्ग पर चलाया। व्रत ग्रहण कर घर लौटते ही अपनी पत्नी को व्रतग्रहण की प्रेरणा की। पत्नी ने भी भगवान् के चरणों में

उपस्थित होकर श्राविका के योग्य व्रतों को अंगीकार किया। इस प्रकार पति और पत्नी दोनों अनुरूप हो गए।

पति और पत्नी के विचार एवं आचार में जब समानता होती है तभी गृहस्थी स्वर्ग बनती है और परिवार में पारस्परिक प्रीति एवं सद्भावना रहती है। जिस घर में पति-पत्नी के आचार-विचार में विरूपता-विसदृशता होती है, वहाँ से शान्ति और सुख किनारा काट कर दूर हो जाते हैं। पत्नी, पति का आधा अंग कही गई है, इसका तात्पर्य यही है कि दोनों का व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् प्रकार का न होकर एकरूप होना चाहिए। दोनों में एक दूसरे के लिए स्वार्पण का भाव होना चाहिए। जैसे आदर्श पत्नी स्वयं कष्ट झेल कर भी अपने पति को सुखी बनाने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार पति को भी पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। दोनों में से कोई एक यदि श्रावक धर्म से विमुख होता हो तो दूसरे को चाहिए कि वह प्रत्येक संभव और समुचित उपाय से उसे धर्मोन्मुख बनावे। महारानी चेलना ने किस प्रकार धर्म में दृढ़ रह कर सम्राट श्रेणिक को धर्मनिष्ठ बनाने का प्रयास किया था, यह बात आप जानते होंगे।

आनन्द दूरदर्शी गृहस्थ था। उसने सोचा कि घर में विषमता होने से शान्ति प्राप्त न होगी। अतएव उसने अपनी पत्नी शिवानन्दा से कहा—मैंने बारह व्रत अंगीकार किये हैं, देवानुप्रिये! तू भी प्रभु के चरणों में जाकर व्रत अंगीकार कर ले। शिवानन्दा ने अतीव हर्ष और उल्लास के साथ व्रत स्वीकार कर लिये।

भगवान महावीर स्वामी के सप्तम पट्टधर आचार्य श्री स्थूलभद्र ने महामुनि भद्रबाहु से दस पूर्वों का ज्ञान अर्थसहित और अन्तिम चार पूर्वो का ज्ञान सूत्र रूप में प्राप्त किया। भद्रबाहु के पश्चात् स्थूलभद्र ने कौशलपूर्वक शासनसूत्र संभाला। उस काल तक वीरसंघ में किसी प्रकार का शाखाभेद नहीं हुआ था। वह अखंड रूप में चल रहा था। श्वेताम्बर दिगम्बर आदि भेद बाद में हुए।

स्थूलभद्र का अन्तिम समय सन्निकट आया। उनके शरीर में प्रबल वेदना उत्पन्न हुई और उनकी जीवन लीला समाप्त हो गई। वे अपने शिष्यों को जो वाचना दे रहे थे, वह पूर्ण नहीं हो पाई थी, अतएव धर्मस्नेह के कारण स्वर्ग से आकर वे अपने मृतक शरीर में पुनः अधिष्ठित हो गए। प्रातःकाल शिष्यों को जगाकर वाचना पूरी की। अन्त में उन्होंने इस रहस्य को प्रकट कर दिया। बतलाया कि मैं शरीर त्याग कर स्वर्ग चला गया था और पुनः इस शरीर में अधिष्ठित हो गया हूं।

इस प्रकार गुरु के रूप में देवता ने काम किया। शिष्यों ने उनके शरीर को त्याग दिया। मगर इस घटना ने विषम रूप धारण कर लिया। कतिपय साधुओं के मस्तिष्क में एक व्यापक सन्देह उत्पन्न हो गया। उन्होंने सोचा हमने असंयमी देव को साधु समझ कर वन्दना की। ऐसी स्थिति में क्या पता चल सकता है कि कौन वास्तव में साधु है और कौन साधु नहीं है? बेहतर है कि कोई किसी को वन्दना ही न करे।

इस प्रकार विचार कर उन्होंने आपस में वन्दनव्यवहार बन्द कर दिया। स्थविरों ने उन्हें समझाया—वह वास्तव में साधु नहीं था, देव था, यह आपने कैसे जाना? देव के कहने से ही न! अगर आप देव के कथन पर विश्वास कर सकते हैं तो जो साधु अपने को साधु कहते हैं, उनके कथन पर विश्वास क्यों नहीं करते? देव की अपेक्षा साधु का कथन अधिक प्रामाणिक होता है। फिर भी आप देव के कहने को सत्य समझें और साधु के कथन को असत्य समझलें, यह न्यायसंगत नहीं है।

इस प्रकार बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी वे संदेहग्रस्त साधु समझ न सके। तब उन्हें संघ से पृथक् कर दिया गया।

पृथक् हुए साधुओं की मंडली घूमती-घूमती राजगृह नगर पहूँची। वहां के राजा उस समय बलभद्र थे। उन्हें इन साधुओं की भ्रान्त धारणा का पत

चल चुका था। वलभद्र जिन मार्ग के श्रद्धालु श्रावक थे। अतएव उन्होंने इन साधुओं को सन्मार्ग पर लाने का निश्चय किया। अपने सेवकों द्वारा साधुओं को बुलवाया। साधुओं के आने पर राजा ने आज्ञादी—इन सबको मदोन्मत्त हाथियों के पैरों से कुचलवा दिया जाय !

देखने-सुनने वाले दंग रह गए। राजसभा में सन्नाटा छा गया। साधुओं के पैर तले की धरती खिसक गई। लोंगों ने राजा के भीतरी आशय को समझा नहीं था, अतएव उनके हृदय में उथल पुथल मच गई। मगर राजा के आदेश के सामने कोई चूं न कर सका।

मदमस्त हाथी लाये गये और साधु एक कतार में खड़े कर दिये गये। साधुओं के सिर पर मौत मंडराने लगी अपना अन्तिम समय समझ कर उनमें से एक साधु ने बचाव करने का विचार किया। उसने सोचा-जब मरना है तो डरना क्या ! आखिर राजा से पूछ तो लेना चाहिए कि किस अपराध में हमें यह भयंकर मृत्युदण्ड दिया जा रहा है ! राजा क्रुद्ध भी हो गया तो प्राणनाश से अधिक क्या करेगा ? सो वह तो कर ही रहा है। संभव है हमें अपनी सफाई पेश करने का अवसर मिल जाय।

इस प्रकार विचार कर साधु ने कहा-राजन् ! आप श्रावक होकर भी क्यों हम निरपराध साधुओ के प्राण ले रहे हैं ?

राजा को अपनी बात समझाने का अवसर मिल गया। उसने उत्तर दिया-कौन जाने आप लोग साधु हैं अथवा साधु के वेष में चोर है ? आप अपने को साधु कहते हैं मगर आपके कथन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? जब आप लोगों को आपस में ही एक दूसरे पर विश्वास नहीं, आपमें से कोई किसी को निश्चित रूप से साधु नहीं मानता, फिर हम कैसे आपको साधु मान लें ? अगर आप एक दूसरे को साधु समझते होते तो परस्पर वन्दना व्यवहार करते !

राजा के इतना कहते ही साधुओं की बुद्धि ठिकाने आ गई। उन्होंने अपनी भूल के लिए पश्चाताप किया।

जब शासन में किसी प्रकार का विसंवाद उत्पन्न हो और शासन का अपवाद होता हो तो श्रावक ढाल बन जाता है और परिस्थिति को सुधारने का काम करता है। भीतर में वह कान पकड़े तो भी कोई बुरा नहीं मानता।

साधुगण राजा बलभद्र से क्षमायाचना करके गुरुचरणों में जा पहुँचे।

वीर निर्वाण २१५ में स्थूलभद्र स्वर्गधाम सिधारे। इन्हीं महामुनि स्थूलभद्र की श्रुताराधना का सुफल हम आज भोग रहे हैं। हमें इन मंगलमय जीवन के चिन्तन का अवसर मिला, यह हमारे कल्याण का कारण बनेगा।

बन्धुओ! आपके समक्ष जो आदर्श उपस्थित किए गए हैं, वे आपके पथ प्रदर्शक बन सकते हैं। आप इनसे प्रेरणा लेते रहेंगे तो आपका जीवन कल्याणमय बन जाएगा। स्वाध्याय के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। आशा करता हूँ कि आप स्वाध्याय की धारा को टूटने नहीं देंगे। उपाश्रय रूपी विद्यालय में अध्यापक की छड़ी नहीं घूमेगी, फिर भी आप लोग स्वयं-चालित अस्त्र के समान चलते रहिए। इन शब्दों के साथ मैं आह्वान करता हूँ कि भगवान् महावीर की मंगलमयी वाणी को हृदय में धारण कर स्व-पर एवं लौकिक-लोकोत्तर कल्याण के भागी बनें।
